

जैन आचार मीमांसा

डॉ. वीरसागर जैन

प्रोफेसर, जैनदर्शन विभाग

श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय

नई दिल्ली-110016

ई-मेल : veersagarjain@gmail.com

फोन : 9868888607

प्रकाशक

जैन आचार मीमांसा

लेखक : प्रो. वीरसागर जैन
प्रकाशक :
मुद्रक :
संस्करण : 1 अप्रैल, 2022 ई., 1000 प्रतियाँ
मूल्य : 50/- रुपये

© लेखक के पास सर्वाधिकार सुरक्षित

प्राप्ति-स्थल

JAIN AACHAR MIMANSA

Writer : Prof. Veersagar Jain
Publisher :
Printer :
Edition : 1st April, 2022, 1000 Copies
Price : Rs. 50/-

प्राक्कथन

ज्ञानाराधना के क्रम में मैं कभी-कभी कुछ लिखने का भी अभ्यास करता रहता हूँ। लिखने से मुझे बहुत अधिक लाभ होता है। मेरा ज्ञान बहुत निर्मल होता है। लिखने से विषय का कच्चापन दूर होता है और उसमें परिपक्वता, सुव्यवस्था एवं प्रामाणिकता उत्पन्न होती है।

मेरा मानना है कि लेखन एक अद्भुत कला है और इसके सदुपयोग से हम सब आश्चर्यजनक लाभ प्राप्त कर सकते हैं। आवश्यकता सिर्फ इतनी है कि हम इसके दुरुपयोग से बचें। केवल धन-यश अर्जित करने के लिए लिखना लेखनकला का दुरुपयोग करना है।

भारतीय लेखन-परम्परा में स्व-पर का सारस्वत हित करना ही लेखनकला का सम्यक् उद्देश्य माना गया है। तथा उसमें भी प्रधानता स्वहित को ही दी गई है, जैसा कि अनेक महान लेखकों के कथनों से स्पष्ट होता है। यथा—

1. नियमसार, गाथा 187 में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि यह ग्रन्थ मैंने केवल अपनी भावना के लिए बनाया है—
‘णियभावणाणिमित्तं मए कदं णियमसारणामसुदं’।
2. योगसार, दूहा 108 में मुनिराज योगीन्दु कहते हैं कि यह ग्रन्थ मैंने अपने को सम्बोधित करने के लिए बनाया है— ‘अप्पासंबोहण कया दोहा एक्कमणाहं’।
3. आराधनासार, गाथा 114 में आचार्य देवसेन कहते हैं कि यह ग्रन्थ मैंने अपनी भावना के लिए बनाया है— ‘णियभावणाणिमित्तं रचिदं आराहणासारं’।
4. समयसार की टीका ‘आत्मख्याति’ के कलश 2 में आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि यह टीका मैं अपनी परमविशुद्धि के लिए बना रहा हूँ— ‘मम परमविशुद्धिः ...भवतु’।
5. ज्ञानार्णव 1/19 में आचार्य शुभचन्द्र कहते हैं कि यह कृति मैंने स्वयं के बोध के लिए बताई है— ‘कृतिः किंतु मदीयेयं स्वबोधायेव केवलम्’।
6. रामचरितमानस में गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं कि यह रामकथा मैंने अपने स्वयं के अंतःकरण को सुखी करने के लिए लिखी है— ‘स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा’।

इसी प्रकार के और भी अनेक कथन हैं।

उक्त निर्देशों के आलोक में मैं भी आत्महित-हेतु लेखनकला का थोड़ा-बहुत अभ्यास करता रहता हूँ। इसी क्रम में अबतक मैंने कुछ कृतियों के अतिरिक्त लगभग 300 लेख भी लिखे हैं, जो जैन विद्या के धर्म, दर्शन, आचार, न्याय, अध्यात्म, साहित्य, संस्कृति आदि विविध आयामों से सम्बन्धित हैं। प्रस्तुत कृति में जैन आचार से सम्बन्धित लेखों का संकलन किया जा रहा है।

ये सभी लेख क्रमबद्ध रूप से जैन आचार का विवेचन करते हुए नहीं लिखे गये हैं, अपितु अलग-अलग समय पर अलग-अलग विषयों का अध्ययन करते हुए लिखे गये हैं, अतः इन्हें क्रमशः ही पढ़ना आवश्यक नहीं है, अपितु पुस्तक की विषय-सूची देखकर आगे-पीछे भी अपनी इच्छानुसार पढ़ा जा सकता है।

पुस्तक में कुल मिलाकर 60 लेख हैं, जिनमें जैन आचार की प्रमुख विशेषताओं को रेखांकित करते हुए देवदर्शन-पूजन, दान, उपवास, स्वाध्याय, सामायिक, समिति, प्रायश्चित्त आदि अनेक विषयों को स्पर्श किया गया है। साथ ही अहिंसा, पर्यावरण और शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व जैसे विषयों को भी गम्भीरता से समझने का प्रयास किया गया है। परन्तु कुल मिलाकर अधिकांश लेख श्रावकाचार से सम्बन्धित ही हैं। श्रमणाचार से सम्बन्धित लेख दो-तीन ही हैं। तथा कुछ लेख जैन पर्वों से सम्बन्धित भी हैं। लेखों के अन्त में जिन पृष्ठों पर खाली जगह बच रही थी, वहाँ मैंने कुछ बॉक्स मेटर सजाने का प्रयास किया है। इनमें कुछ तो पूर्वाचार्य-प्रणीत गाथा-श्लोक हैं, जिनके सन्दर्भ वहाँ लगा दिये गये हैं, किन्तु जिनके सन्दर्भ नहीं दिये हैं उनमें मेरा अपना तत्त्वविचार ही है। आशा है आपको पसन्द आएगा। इसी प्रकार ‘परिशिष्ट’ के प्रकीर्णक में भी मेरे अपने चिन्तन-कण ही हैं। ऐसे चिन्तन-कण मेरे पास अभी और भी रखे हुए हैं, पर उनमें संशोधन करना है। कुछ महत्त्वपूर्ण चिंतन तो कहानी के रूप में हैं जिन्हें आपको मेरी कहानी की पुस्तक ‘व्यस्त रहो स्वस्थ रहो’ में देखना होगा।

यदि इन सब में कहीं भी कुछ परिष्कार की आवश्यकता प्रतीत हो तो विद्वानों से निवेदन है कि वे उसकी ओर मेरा ध्यान आकर्षित करें, ताकि उन्हें अगले संस्करण में परिष्कृत किया जा सके।

—वीरसागर जैन

अनुक्रम

1. जैनाचार का वैशिष्ट्य	7
2. शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व में जैनाचार की भूमिका	13
3. धर्म और पर्यावरण	18
4. जैनधर्म में स्वच्छता की अवधारणा	24
5. जैन आचारशास्त्र की भूमिका	28
6. क्रोध से बचने के अनेक उपाय	33
7. सामायिक की चार भावनाएँ	36
8. सामायिक का स्वरूप : आचार्य समन्तभद्र की दृष्टि में	42
9. पाँच समितियों का व्यापक अर्थ : श्रावकों की अपेक्षा से	46
10. बहुत सूक्ष्म है भगवान महावीर की अहिंसा	51
11. व्यावहारिक जीवन में अहिंसा के सूक्ष्म रूपों का प्रचलन	53
12. क्या अहिंसा जैनधर्म की विशेषता है?	56
13. हिंसा के भेद-प्रभेद	59
14. हतं ज्ञानं क्रियाहीनम्	62
15. चातुर्मास स्थापना का महत्त्व	66
16. भ्रष्टाचार समाप्त करने की समीचीन विधि	68
17. स्वाध्याय में गुणवत्ता की वृद्धि करें	70
18. स्वाध्याय का स्वरूप और प्रयोजन	74
19. प्रायश्चित्त का स्वरूप	78
20. जल छानने की विधि	81
21. संस्कार : क्या, कब और कैसे?	85
22. जैसी करनी वैसी भरनी	88
23. साधुओं में बढ़ता शिथिलाचार और हमारा कर्तव्य	90
24. दाम्पत्य जीवन का मंगल सूत्र : ताल से ताल मिला	93
25. सुखी दाम्पत्य जीवन के लिए श्रावकाचार	96
26. जिनप्रतिमा के समक्ष हो विवाह	99
27. क्या गृहस्थ अवस्था में धर्म होता है?	101
28. सांसारिक कार्यों को करते हुए भी पुण्यार्जन!	103
29. उत्तम शौच या उत्तम सत्य?	105
30. जैन-साहित्य में जिनेन्द्रार्चना एवं जिनाभिषेक	107

31. जैनदर्शन में देवपूजा का उद्भव और विकास	113
32. नित्य देवदर्शन की प्रतिज्ञा : एक समसामयिक शंका-समाधान	115
33. भगवान बाहुबली से वार्तालाप	121
34. उत्तम तीर्थ यात्रा कैसे हो?	124
35. भक्ति की शक्ति	126
36. घर में ममता, मन्दिर में समता	130
37. मंदिरों को शिक्षा का केन्द्र बनाइये	133
38. वर्तमान को वर्द्धमान की आवश्यकता है	135
39. जैनदर्शन में दान का वैशिष्ट्य	137
40. जैन समाज के धार्मिक आयोजनों की समीक्षा	139
41. परिवार के सदस्यों को भी धर्म के मार्ग में लगाओ	141
42. सीख दीजिए ताहि को जाको सीख सुहाय	143
43. जिनवाणी को माता की उपमा क्यों दी जाती है?	146
44. धर्मात्मा ही कुशल है	148
45. धर्मात्मा सदा ही प्रसन्न रहता है	151
46. उपवास का सच्चा स्वरूप	154
47. ध्यान का फल	156
48. परिषदों के प्रति जैन श्रमणों का आध्यात्मिक दृष्टिकोण	160
49. द्रव्यानुयोग में श्रावकाचार	166
50. जैनाचार निवृत्तिप्रधान है	169
51. पंचाचार-निरूपण	172
52. अशुद्धं पुस्तकं शत्रु:	176
53. जैनाचार्यों का भाषादर्शन	179
54. जैनाचार्यों की राष्ट्रीय भावना	187
55. ज्ञान और आनन्द के महत्त्व को रेखांकित करती है दीपावली	190
56. दीपावली वीतरागता का पर्व है	192
57. विजयादशमी भी मूलतः जैन पर्व प्रतीत होता है	194
58. श्रुत पंचमी मनाने की उत्तम विधि	197
59. क्षमावाणी पर्व : एक अनुशीलन	199
60. प्रकीर्णक	210

जैनाचार का वैशिष्ट्य

जैनाचार एक बड़ा ही विस्तृत विषय है, परन्तु यहाँ हम केवल उसके वैशिष्ट्य को ही अतिसंक्षेप में बिन्दुवार ढंग से प्रस्तुत करना चाहते हैं। यद्यपि इन सभी बिन्दुओं पर भी पृथक्-पृथक् विस्तृत चर्चा की जा सकती है, परन्तु अभी केवल बिंदु मात्र ही प्रस्तुत करते हैं। यथा—

1. जैनाचार बाह्याचार मात्र नहीं है, अपितु ऐसा द्विमुखी सिद्धान्त है जो एक ओर अपनी आधारशिला के रूप में सम्यग्दर्शन की अपेक्षा रखता है और दूसरी ओर साधक को आत्मानुभूति के मधुर फल भी प्रदान कराता है। जिसप्रकार एक वृक्ष को पूर्णतः समझने के लिए हमें उसके मूल एवं फल को भी समझना अनिवार्य होता है, मात्र तने के ज्ञान को पूर्णवृक्ष का ज्ञान नहीं कह सकते, उसी प्रकार जैनाचार को पूर्णतः समझने के लिए हमें उसके मूलाधारभूत सम्यग्दर्शन को और फलस्थानीय आत्मानुभूति को भी समझना अनिवार्य है, मात्र आचारपक्ष को ही देखना सम्पूर्ण जैनाचार का देखना नहीं है। जैनाचार्यों के अनुसार जो आचार सम्यग्दर्शन से रहित है, वह मूलरहित वृक्ष की भाँति असम्भव, मिथ्या या बाल-लीलामात्र है और यदि वह अन्त में साधक को आत्मानुभूति न करा सके तो वह फलरहित वृक्ष की भाँति निष्फल है, निरर्थक है, निरुद्देश्य है।
2. जैनाचार की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह एक समीचीन दर्शन की बुनियाद पर खड़ा है। अन्यत्र तो जो ईश्वर को कर्ता मानते हैं या आत्मा को ईश्वर का अंश मानते हैं या सदा परतंत्र मानते हैं या मुक्तावस्था में आत्मा का नाश मानते हैं, वहाँ तो आचार की व्यवस्था ही सिद्ध नहीं होती।
3. यही कारण है कि जैनाचारशास्त्र में सर्वप्रथम मिथ्यात्व के त्याग पर बल दिया गया है, इतना अधिक बल दिया गया है कि आचार्यों ने यहाँ तक कह दिया है कि मोही मुनि से निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ है। ('गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः'—रत्नकरंड, 33)
4. जैनाचार में भी बाह्य में छुआछूत-सा दिखाई देता है, पर वह हिंसा-अहिंसामूलक है, जातिवाद वाला छूआछूत नहीं। अन्य कुछ धर्म-दर्शनों में आचार को जाति-वर्ण-लिंग-क्षेत्रादि व्यवस्थाओं के आधार पर छुआछूतमूलक कहा गया है, किन्तु

जैनाचार का मूलाधार जाति आदि न होकर हिंसा व अहिंसा है। जो कुछ हिंसारूप या हिंसा का कारण है, वह हेय है और जो अहिंसारूप या अहिंसा का कारण है, वह उपादेय है।

5. जैनाचार में पहले बड़ा पाप छोड़ा गया है, बाद में छोटा। कहीं-कहीं अन्यत्र ऐसी विसंगति देखी जाती है कि जीवन में अभी बड़ा पाप तो बचा हुआ है और व्यक्ति छोटे-छोटे पापों को छोड़कर स्वयं को धर्मात्मा मान रहा है, परन्तु जैनाचार में इस बात पर बड़ा जोर दिया गया है कि पहले बड़ा पाप छोड़ा जाए और फिर क्रमशः छोटे-छोटे पापों को भी छोड़ा जाए। (मोक्षमार्गप्रकाशक, 192)
6. जैनाचार में यत्नाचार प्रवृत्ति पर विशेष बल दिया गया है। कहा गया है कि जीव मरे या न मरे, परन्तु यदि अयत्नाचार प्रवृत्ति है तो हिंसा अवश्य होगी और यदि यत्नाचार प्रवृत्ति है तो हिंसा नहीं होगी।
7. जैनाचार में प्रत्येक क्रिया को 'यथाशक्ति' करने पर विशेष बल दिया गया है। कहा गया है कि सभी धर्मक्रियाएँ अपनी शक्ति के अनुसार करनी चाहिए, उससे हीन या अधिक नहीं। यही कारण है कि जैनाचार पूर्णतः व्यावहारिक भी है, उसका पालन अशक्य नहीं है। (जं सक्कइ तं किज्जइ। —दंसणपाहुड, 22)
8. जैनाचार व्यावहारिक है— इसका एक प्रमाण यह भी है कि यहाँ अनर्थदण्डव्रत की अवधारणा पाई जाती है, जिसका तात्पर्य यह है कि आप अपनी जरूरत के सब काम करो, पर बिना प्रयोजन का पाप तो मत करो। जैनाचार में अशक्यानुष्ठान नहीं है।
9. जैनाचार शास्त्र में इस बात पर भी बड़ा बल दिया गया है कि जितनी शक्ति हो उतना करो, परन्तु श्रद्धा तो पूरी ही रखनी होगी, उसमें कमी नहीं चलेगी। आचरण शक्ति-अनुसार कम हो सकता है, पर श्रद्धा तो पूरी ही होनी चाहिए। उदाहरणार्थ, कोई व्यक्ति अपनी शक्ति-अनुसार सभी जमींकन्द नहीं छोड़ पाता है, एक-दो खा लेता है, परन्तु श्रद्धा तो वह सभी को छोड़ने की रखता है। यदि श्रद्धा में वह एक-दो जमींकन्द को भी भक्ष्य माने तो वह भयंकर अपराध का भागी है। यही कारण है कि लोक में तो तीन ही कथन हैं— 1. Wealth is lost, nothing is lost. 2. Health is lost, something is lost. 3. Character is lost, everything is lost. परन्तु जैनाचार में इसमें एक चौथा कथन और जोड़कर बात इस प्रकार बात पूरी की गई है— 1. Wealth is lost, nothing is lost. 2. Health is lost, something is lost. 3. Character is lost, more than something is lost. 4. Faith is lost, everything is lost.
10. जैनाचारशास्त्र में इस बात पर भी विशेष बल दिया गया है कि व्रतों में अल्पता

या न्यूनता तो चल सकती है, पर शिथिलता नहीं। व्रत थोड़ा हो, पर दृढ़ हो, दुर्बल नहीं।

11. जैनाचारशास्त्र के अनुसार पहले महाव्रत धारण करने का उपदेश देना चाहिए, बाद में यदि साधक की शक्ति न हो तो उसे अणुव्रत का उपदेश देना चाहिए। यदि पहले ही श्रावकव्रत का उपदेश दे दिया जाए तो उपदेशदाता दण्ड का पात्र है, क्योंकि वह किसी साधक को अपद में ही सन्तुष्ट करने के अपराध का भागी बन सकता है।
12. जैनाचारशास्त्र के प्रतिपादक ग्रन्थ प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी आदि सर्वभाषाओं में लिखे गये हैं। किसी एक ही भाषा की प्रतिबद्धता नहीं है।
13. जैनाचार आधुनिक विज्ञान द्वारा भी सम्मत है। यद्यपि इसमें कुछ अंतर भी है, तथापि स्थूलतः समानता ही सिद्ध हो रही है।
14. जैनाचार में व्रत हिंसादि से विरत होने का ही नाम है। यद्यपि व्रत, संकल्प, प्रतिज्ञा, शपथ— ये सभी पर्यायवाची शब्द हैं, परन्तु किसी भी प्रकार की कोई भी ऊटपटांग प्रतिज्ञा कर लेने को व्रत नहीं कहते हैं, अपितु हिंसादि से विरक्त होने की प्रतिज्ञा का नाम ही व्रत है। यहाँ व्रत का लक्षण ही यह बनाया है कि ‘हिंसानृतस्तेयब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतं’ अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह से विरत होना ही व्रत है।
15. जैनाचारशास्त्र के अनुसार व्रती को निःशल्य होना अनिवार्य है। माया, मिथ्यात्व, निदान— ये तीन शल्य हैं। जिसके पास इनमें से एक भी शल्य हो, वह व्रती होते हुए भी व्रती नहीं माना जा सकता।
16. जैनाचारशास्त्र के अनुसार व्रतों का पालन नवकोटि से होना चाहिए अर्थात् कृत, कारित, अनुमोदना एवं मन-वचन-काय— इन सबसे उस व्रत का भलीभाँति पालन करना चाहिए। उदाहरणार्थ जिसमें रात्रिभोजन का त्याग किया हो उसे अन्य को भी रात्रि में भोजन नहीं कराना चाहिए और किसी करने वाले की अनुमोदना भी नहीं करनी चाहिए। तथा यह कार्य मन-वचन-काय इन तीनों से ही नहीं करना चाहिए।
17. जैनाचारशास्त्र के कथन स्थूल विवक्षा से होते हैं, अतः उनमें करणानुयोग या द्रव्यानुयोग के सूक्ष्म तर्क नहीं लगाने चाहिए। जैसे कि आत्मा तो भोजन ही नहीं करता है फिर यहां भक्ष्य-अभक्ष्य कैसे समझाए जा रहे हैं।
18. जैनाचार में जीव को अशुभ से बचने के लिए शुभ में लगाया जाता है, परन्तु शुभ में प्रवृत्ति कराना भी उसका उद्देश्य नहीं है। उसका उद्देश्य तो अशुभ और शुभ दोनों से ही निवृत्ति करके शुद्ध में स्थापित करना है। यही कारण है कि

जैनाचार में अव्रतों (पापों) की भाँति व्रतों को भी छोड़ने का उपदेश दिया गया है।

19. जैनाचार में कुछ भी छोड़ते या अपनाते समय इस बात का विवेक रखना चाहिए कि वहाँ ऊँची क्रिया छोड़कर नीची क्रिया नहीं अंगीकार करनी चाहिए। जैसे— जिनमन्दिर-निर्माण का कार्य श्रावक को करना कहा है, पर साधु को नहीं। इसी प्रकार हर क्रिया में समझना चाहिए। (—मोक्षमार्गप्रकाशक)
20. जैनाचार में प्रत्येक क्रिया के दो पक्ष समझाए गये हैं— 1. द्रव्य, 2. भाव। इन्हें क्रमशः अन्तरंग और बहिरंग भी कहते हैं। बहिरंग और अन्तरंग में साधन-साध्य सम्बन्ध भी बताया जाता है। बहिरंग साधन है और अन्तरंग साध्य है, क्योंकि बहिरंग के बिना अन्तरंग होता नहीं और अन्तरंग के बिना बहिरंग निष्फल, निरर्थक है। उदाहरणार्थ— बहिरंग तप के बिना अन्तरंग तप नहीं होता और अन्तरंग तप के बिना बहिरंग तप निष्फल रह जाता है। जिस प्रकार पकाना तो दाल-चावल है, पर वह कूकर के बिना नहीं पकता, अतः कूकर को गैस पर रखा जाता है, परन्तु कोई खाली कूकर को गैस पर रख दे तो लाभ की बजाए हानि ही होगी, उसी प्रकार अन्तरंग तप के बिना बहिरंग तप निष्फल हो जाता है। यद्यपि कहीं-कहीं ऐसा भी कहते हैं कि जैनाचार भावप्रधान है, पर उसे एक विशेष-विवक्षा ही समझना चाहिए। वास्तव में द्रव्य-भाव दोनों की मैत्री ही जैनाचार का उद्देश्य है।
21. इसी प्रकार जैनाचार में प्रत्येक क्रिया को निश्चय-व्यवहार की दृष्टि से भी समझाया गया है। निश्चय साध्य है, व्यवहार साधन है। ('हेतु नियत को होई'— छहढाला)। जैनाचार की हर क्रिया को पालते समय दोनों के सम्बन्ध का निर्वाह होना चाहिए अर्थात् जीवन में दोनों का सुमेल होना चाहिए।
22. जैनाचार में नाना-जीवों की अपेक्षा से बहुत सी क्रियाएँ बताई गई हैं। उनमें से हमको अपनी भूमिका के अनुसार ही ग्रहण करना चाहिए, अपनी भूमिका से नीचे या ऊपर का ग्रहण करना गलत है। अभ्यास आदि कारणों से थोड़ी-बहुत ऊपर-नीचे तो फिर भी ग्रहण की जा सकती है, पर अधिक ऊपर-नीचे करना दोष है।
23. जैनाचार में संयम, तप, दान, परिग्रह आदि लगभग सभी के भेद-प्रभेद गिनाए गये हैं। उन्हें सामान्यजन के बोधार्थ स्थूल अपेक्षा से कहे गये समझना चाहिए। उनमें बहुत अधिक सूक्ष्म तर्क नहीं करना चाहिए कि तप के यही छः भेद क्यों, कैसे बताए हैं अथवा परिग्रह के ये ही दस भेद क्यों बताए गये हैं। इसीलिए 'धवला' में कहा है कि संयम के भेद शब्द से संख्यात, अर्थ से असंख्यात और भाव से अनन्त होते हैं। यह बात प्रायः सर्वत्र घटित होती है।

24. जैनाचारशास्त्र में बार-बार यह भी कहा गया है कि व्रत तो वास्तव में एक ही है— अहिंसा, शेष सब तो उसी के पोषण हेतु हैं अथवा एक उसी के विस्तार रूप हैं। अतः एक अहिंसा के ही पूर्ण-पालन में समस्त जैनाचार का पूर्ण पालन हो जाता है।
25. यही कारण है कि जैनाचार में व्रत और शील— इन दो की अवधारणा प्रस्तुत की गई है। अहिंसा व्रत है और शेष सब शील। जो व्रत को पुष्ट करे, उसे शील कहते हैं। अहिंसा ही एक व्रत है, शेष सत्यादि, दिग्व्रतादि या रात्रिभोजनत्यागादि सब शील हैं। यथा—

‘आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत् ।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥’

—आचार्य अमृतचन्द्र, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 42

इस प्रकार हम यह भी कह सकते हैं कि वास्तव में प्रधानतत्त्व दो ही हैं— हिंसा और अहिंसा। हिंसा में सर्वपाप गर्भित हैं और अहिंसा में सर्वव्रत गर्भित हैं।

26. जैनाचार में हिंसादि पापों के त्याग का और अहिंसादि व्रतों के पालन का उपदेश मात्र इसलिए नहीं दिया जाता है कि उससे अगले जन्म में सुख की प्राप्ति होगी, बल्कि इसलिए दिया गया है कि हिंसादि से इस जन्म और परजन्म दोनों में दुःख मिलता है और अहिंसा आदि से इस जन्म और परजन्म दोनों में सुख मिलता है। यथा— ‘हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम्’। —तत्त्वार्थसूत्र, 7/9
27. जैनाचार के पालन से व्यक्ति ही नहीं, समाज, राष्ट्र, पर्यावरण का भी भला होता है। जैनाचार पर्यावरण का संरक्षक, संपोषक भी है।
28. जैनाचार में दो प्रकार से कथन किये गये हैं— 1. उत्सर्ग मार्ग से, और 2. अपपाद मार्ग से। साधक को दोनों की समुचित मैत्री के साथ ही निर्वाह करना चाहिए। उदाहरणार्थ, जैनाचार में एक बार लिए हुए व्रत को छोड़ना, भंग करना एकदम बुरा, निषिद्ध कहा गया है, गृहीत प्रतिज्ञा को कथमपि न छोड़ने का उपदेश दिया है, परन्तु वह सभी साधकों को व्रत में स्थिर करने हेतु बताया गया उत्सर्ग मार्ग है, इसका अपवाद मार्ग शास्त्रों में ही यह भी बताया गया है कि तीन विशिष्ट कारणों से गृहीत व्रत को छोड़ा जा सकता है— 1. यदि स्वयं से कथमपि प्रतिज्ञा का पालन न हो पा रहा हो, परिणाम बहुत ही खराब रहने लगे हों, संभल ही न रहे हों। 2. यदि वृद्ध माता-पिता की सेवा अनिवार्य हो। —(चारित्रसार, 42)
3. यदि राष्ट्र पर आई विपदा को दूर करने के लिए हमारी आवश्यकता पड़ गई हो।
29. जैनाचार में जिसका त्याग कराया जाता है वह सचमुच त्याज्य ही है, पूजादि किसी भी कारण से उसे उचित या उपादेय नहीं माना जा सकता, जैसाकि अन्यत्र माना जाता है कि ‘वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति’।

30. जैनाचार में हिंसादि को इसलिए छोड़ा जाता है, क्योंकि वे विभाव हैं, निरर्थक हैं, अनर्थक हैं, उनसे धनादि लाभ भी नहीं होते।
31. जैनाचार कोई लोकाचार मात्र नहीं है, अपितु आत्मशुद्धि के लिए स्वेच्छापूर्वक स्वीकार किया गया चारित्र है। जैनाचार कोई राजाज्ञा भी नहीं है, अपितु आत्मशुद्धि के लिए स्वेच्छापूर्वक स्वीकार किया गया चारित्र है।
32. जैनाचार कोई ईश्वरादेश जैसा भी नहीं है, जो ईश्वर को प्रसन्न करने या उसके कोप से बचने के लिए पालना पड़ता हो, अपितु आत्मशुद्धि के लिए स्वेच्छापूर्वक स्वीकार किया गया चारित्र है।

इसप्रकार हमने यहाँ जैनाचार की कतिपय विशेषताओं की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया। जैनाचारशास्त्र की अन्य विशेषताओं को जानने के लिए रत्नकरंड श्रावकाचार, पुरुषार्थसिद्धयुपाय, धर्माभूत आदि ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए।



कामना या भावना

आजकल बहुत-से लोग भक्ति-स्तुति-ग्रन्थों की प्रशस्तियों का आधार देकर ऐसा कहते देखे जाते हैं कि बड़े-बड़े ज्ञानी आचार्यों को भी कामनाएँ होती थीं, अतः यदि हम भी कामनाएँ करें तो कोई दोष नहीं है। और वे तरह-तरह की कामनाएँ करते रहते हैं।

किन्तु उनकी यह बात उचित नहीं है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव को वास्तव में कभी कोई कामना नहीं हुआ करती है, निःकांक्षित उसका अनिवार्य गुण होता है, वह तो सदा ही 'निष्काम' रहता है— 'हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम'।

तथा उसे जो वचन कदाचित् होती भी है तो उसे 'कामना' नहीं कहते हैं, 'भावना' कहते हैं। शास्त्रों में भी उसे 'भावना' ही लिखा है, 'कामना' नहीं लिखा, जैसेकि— 'मेरी भावना', 'सामायिक भावना', 'सोलहकारण भावना' आदि। 'कामना' और 'भावना' में बड़ा अंतर है। कामना आर्तध्यान है, भावना धर्मध्यान है। कामना की जाती है, भावना भूमिकानुसार हो जाती है। कामना में आसक्ति होती है, भावना में अनासक्ति रहती है। इसी प्रकार के और भी अनेक अंतर हैं।

पुनश्च, ज्ञानी जीवों को जो 'भावना' होती है, उसके प्रति भी उनको अन्तरंग में हेयबुद्धि ही रहती है, किंचित् भी उपादेयबुद्धि नहीं होती है। अतः हमें उनका छल ग्रहण करके स्वयं को कामनाओं में उलझना उचित नहीं है। सदा सर्व कामनाओं से रहित रहने का ही अभ्यास करने योग्य है।

तथा शास्त्रों में कहीं-कहीं 'भावना' को 'कामना' शब्द से भी कहा हो सकता है, परन्तु उससे भी हमें भ्रमित नहीं होना चाहिए, क्योंकि भाषा का स्वरूप ऐसा ही है।

शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व में जैनाचार की भूमिका*

जैनाचार एक विस्तृत एवं गभीर विषय है। यहाँ हमारा उद्देश्य उस सम्पूर्ण जैनाचार को प्रतिपादित करना नहीं है, अपितु शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की भावना उत्पन्न करने में उसका कितना क्या योगदान है— इसी पक्ष पर विचार करना है। शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की भावना आज के समय की सबसे बड़ी आवश्यकता है। आज विश्व सिमट गया है और मनुष्य की भावनाएँ इतनी अराजक हो गई हैं कि सभी लोग अपने-अपने स्वार्थ में डूबे हुए एक-दूसरे को खा जाना चाहते हैं, किसी को किसी अन्य के अस्तित्व की कोई चिन्ता ही नहीं है। खतरा इतना बढ़ गया है कि यदि हमने परस्पर शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की भावना सबमें उत्पन्न नहीं की तो एक दिन हम सभी समाप्त हो जाएंगे, कोई नहीं बच पाएगा।

जैनाचार को जैनागम-ग्रंथों में दो भागों में बाँटकर समझाया गया है— मुनि-आचार और श्रावकाचार। यहाँ हमारा प्रकरण आधुनिक समाज में हमारे शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व से है, अतः यहाँ श्रावकाचार की ही चर्चा करना अधिक उपयुक्त होगा। मुनि-आचार तो वैसे भी शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की सर्वोच्च दशा स्वीकृत ही है।

जैन श्रावकाचार को जैन-आगम-ग्रंथों में कुल मिलाकर 12 व्रतों के माध्यम से समझाया गया है, जिनके नाम एवं स्वरूप संक्षेप में इस प्रकार हैं—

1. **अहिंसाणुव्रत**— स्थूल रूप से हिंसा का त्याग कर देना ही अहिंसाणुव्रत है।
2. **सत्याणुव्रत**— स्थूल रूप से असत्य भाषण का त्याग कर देना ही सत्याणुव्रत है।
3. **अचौर्याणुव्रत**— किसी की वस्तु को न चुराना और न चुराने की इच्छा करना ही अचौर्याणुव्रत है।
4. **ब्रह्मचर्याणुव्रत**— अपने जीवनसाथी में ही संतुष्ट रहना, परस्त्री/परपुरुष के प्रति कुदृष्टि न रखना ही ब्रह्मचर्याणुव्रत है।
5. **परिग्रहपरिमाणव्रत**— आवश्यकता से अधिक परिग्रह संचित न करना, उसे यथाशक्ति सीमित कर लेना ही परिग्रहपरिमाणव्रत है।
6. **दिग्व्रत**— जीवनपर्यन्त दसों दिशाओं में जाने की मर्यादा निश्चित कर लेना दिग्व्रत है।

*यह लेख Peaceful co-existence in Jain ethics शीर्षक से अंग्रेजी भाषा में भी लिखा है।
देखें मेरी पुस्तक— Jain Philosophy

7. **देशव्रत**— दिग्व्रत में ग्रहण की गई सीमा को भी यदा-कदा कुछ समय के लिए और भी कम कर लेना देशव्रत है।
8. **अनर्थदण्डव्रत**— बिना प्रयोजन के हिंसा या झूठ आदि पापों को नहीं करना अनर्थदण्डव्रत है।
9. **सामायिक**— प्रतिदिन थोड़ी देर शांतिपूर्वक आत्मा-परमात्मा का ध्यान करना सामायिक है।
10. **प्रोषधोपवास**— सप्ताह में एक दिन आहार एवं व्यापार आदि का त्याग करके धर्मध्यानपूर्वक उपवास करना प्रोषधोपवास है।
11. **अतिथिसंविभागव्रत**— मुनि या श्रावक रूप अतिथि को आहार कराके ही स्वयं आहार ग्रहण करना अतिथिसंविभागव्रत है।
12. **भोगोपभोगपरिमाणव्रत**— दैनिक जीवन के उपयोग की सभी वस्तुओं की यथाशक्ति संख्या या सीमा निश्चित कर लेना ही भोगोपभोगपरिमाण व्रत है।

ज्ञातव्य है कि इन 12 व्रतों में से प्रारम्भ के पाँच व्रत 'अणुव्रत' कहलाते हैं, क्योंकि गृहस्थ अवस्था में उनका पूर्ण पालन संभव नहीं होता, किंचित् मात्र ही हो पाता है, उनके बाद के तीन व्रत 'गुणव्रत' कहलाते हैं, क्योंकि उनके पालन से अणुव्रतों की गुणवत्ता में वृद्धि होती है, और अन्त के चार व्रत 'शिक्षाव्रत' कहलाते हैं, क्योंकि वे आगे के मुनिजीवन की शिक्षा देते हैं।

उक्त 12 व्रतों में से प्रारम्भ के पाँच व्रतों को 'व्रत' और बाद के सात व्रतों को 'शील' भी कहते हैं, क्योंकि प्रारम्भ के पाँच व्रतों की रक्षा के लिए ही वास्तव में बाद के सात व्रतों का विधान किया गया है। शील अर्थात् व्रतों का रक्षक, जो व्रतों की रक्षा करे उसे शील कहते हैं।

यहाँ यह भी विशेष उल्लेखनीय है कि जैनागमों के अनुसार वस्तुतः तो व्रत एक ही है— अहिंसा, और बाकी के सभी व्रत उस एक अहिंसा के ही पोषण-संपोषण हेतु कहे गये हैं।

जिसप्रकार हस्ती के पैर में सभी के पैर समाहित हो जाते हैं— 'सर्वे पदाः हस्तिपदे निमग्नाः', उसीप्रकार एक अहिंसा के पालन में सर्व व्रतों का पालन समाहित हो जाता है। तथा यदि अहिंसा व्रत का पालन नहीं हो रहा है तो समझना चाहिए कि अन्य किसी भी व्रत का पालन समीचीन रूप से नहीं हो रहा है। इस सन्दर्भ में प्रसिद्ध जैनाचार्य श्री अमृतचन्द्रसूरि का निम्नलिखित कथन विशेष ध्यानपूर्वक पठनीय है—

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात् सर्वमेव हिंसैतत् ।

अनृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 42

अर्थ— वास्तव में आत्मपरिणामों की हिंसा करने के कारण सभी पाप हिंसा ही हैं। असत्य, चोरी आदि तो केवल शिष्यों को विस्तारपूर्वक समझाने के लिए कहे गये हैं।

इस प्रकार यह अत्यन्त स्पष्ट है कि जैनाचार की मुख्य आधारशिला अहिंसा पर ही रखी गई है। इसे हम दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि सम्पूर्ण जैनाचार का केन्द्रबिन्दु एक अहिंसा ही है।

अतः जैनधर्म के अनुसार जैनाचार का पालन करने के इच्छुक व्यक्ति को सर्वप्रथम एक अहिंसा को ही समीचीन रूप से समझने और पालने का प्रयास करना चाहिए। जैनदर्शन में अहिंसा की व्याख्या अत्यन्त सूक्ष्म रूप से की गई है। विश्व के आचारशास्त्री और दर्शनशास्त्री उस व्याख्या से आश्चर्यचकित हो चुके हैं। कहा जाता है कि जहाँ अन्य धर्मों की अहिंसा-व्याख्या समाप्त हो जाती है, वहाँ से तो जैनधर्म की अहिंसा-व्याख्या प्रारम्भ होती है। प्रायः अन्य सभी धर्मों ने धर्म आदि के नाम पर होनेवाली हिंसा को हिंसा की परिधि से बाहर निकालकर अहिंसा का दर्जा प्रदान कर दिया है, किन्तु जैनधर्म में हिंसा को इसप्रकार महिमा-मंडित करना सर्वथा त्याज्य बताया गया है। वहाँ हिंसा हिंसा ही है, चाहे वह कोई भी करे, कभी भी करे, किसी की भी करे, किसी भी लिए करे। जैनधर्म के अनुसार किसी जीव को मारना-सताना तो हिंसा है ही, किन्तु मारने-सताने का भाव करना भी हिंसा ही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनधर्म की अहिंसा में केवल मानवजाति ही नहीं आती, अपितु सम्पूर्ण प्राणि-जगत ही उसमें समाहित हो जाता है। जैनधर्म के अनुसार पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति को भी जीव माना गया है। इसका अर्थ यह समझा जाना चाहिए कि जैनधर्म का आचारशास्त्र मानवमात्र के ही शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की भावना उत्पन्न नहीं करता, अपितु सम्पूर्ण प्राणि-जगत के साथ शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की भावना उत्पन्न करता है, जो आज के समय में जबकि पर्यावरण का भी घोर संकट मनुष्य के मस्तिष्क पर मँडराने लगा है, बड़ा ही उपयोगी प्रतीत होता है।

इस प्रकार यह भी स्पष्ट है कि जैनधर्म में अहिंसा की अवधारणा का आधार मात्र आत्मकल्याण की ही भावना नहीं है अपितु उसमें सभी प्राणियों के शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की भावना भी भरी हुई है। जैनधर्म स्पष्ट कहता है कि जो जीव स्वयं को काँटा चुभने के भय से पैरों में जूते धारण करता है और दूसरे जीवों पर तीर/अस्त्र चलाता है, वह महापापी है।

जैन-आगम-ग्रन्थों में इसी आशय के अनेक कथन उपलब्ध होते हैं। यथा—

सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जउं ।

तम्हा पाणवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥

—समणसुत्तं

अर्थ— सभी जीव जीना चाहते हैं, कोई मरना नहीं चाहता, इसलिए प्राणवध को भयानक पाप जानकर निर्ग्रन्थ उसका वर्जन करते हैं।

अहिंसागुणव्रत की भाँति सत्यागुणव्रत, अचौर्यागुणव्रत, ब्रह्मचर्यागुणव्रत (अपने जीवनसाथी में सन्तोष रखना) और परिग्रह-परिमाण नामक व्रतों के पालन में भी आत्मकल्याण के साथ-साथ परकल्याण की भावना भी निहित है, उनसे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में विश्वशांति या सभी जीवों के शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व में भी सहायता प्राप्त होती है, क्योंकि असत्यभाषण, चोरी आदि पापों से ही तो सभी का शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व खतरे में पड़ा है। यथा—

असत्यभाषण से कोई किसी का विश्वास नहीं करता। इससे कोई भी किसी अन्य को शांति से नहीं रहने देता। असत्यभाषी के साथ कोई रहना पसंद नहीं करता।

चोरी से भी ऐसी ही स्थिति उत्पन्न होती है। सभी को अपना धन प्राणों से प्यारा होता है— ‘धनं वै प्राणाः’। जो उसे चुराए उसके साथ कोई कैसे शांतिपूर्वक रह सकता है?

ब्रह्मचर्यागुणव्रत का अर्थ है— अपने साथी, पति या पत्नी में सन्तोष रखना, परस्त्री या परपुरुष के प्रति कुदृष्टि नहीं रखना। शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व के लिए यह भी एक अत्यन्त अनिवार्य नियम है। जिस समाज में यह नहीं होगा, वहाँ कोई शांतिपूर्वक नहीं रह सकता।

प्रकृति के संसाधन सीमित हैं। यदि एक व्यक्ति उनका आवश्यकता से अधिक उपयोग करेगा तो कैसे अन्य लोगों का जीवनयापन होगा ? अतः शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व में परिग्रह-परिमाण की भी महती भूमिका सिद्ध होती है।

अहिंसा आदि पाँच अणुव्रतों की भाँति सात शीलव्रतों को भी शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व के लिए उपयोगी माना जाना चाहिए। जैनाचार का कोई भी व्रत-नियम ऐसा नहीं है, जो सभी प्राणियों के शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व में बाधक हो।

जैनाचार में उक्त ‘व्रतों’ और ‘शीलों’ के साथ-साथ अनेक ऐसी बातों के पालन की प्रेरणा भी दी गई है, जिनसे शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व का वातावरण निर्मित होता है। जैसे—

1. सभी प्राणियों से मैत्री, गुणीजनों में प्रमोद, दुखियों के प्रति करुणा और दुर्जनों के प्रति मध्यस्थता की भावना करनी चाहिए।
2. पाले हुए पशु-पक्षियों का बंधन एवं वध नहीं करना चाहिए, उनके आहार जल एवं आराम का भी पूरा ध्यान रखना चाहिए।
3. कभी किसी को झूठी सलाह नहीं देनी चाहिए, किसी की गुप्त बात प्रकट नहीं करनी चाहिए, किसी की धरोहर का अपहरण नहीं करना चाहिए।

4. राज्यविरुद्ध कार्य करना, चोरी का माल खरीदना, व्यापार में मिलावट करना, कम तोलना इत्यादि कार्य भी नहीं करने चाहिए।
5. पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति (पेड़-पौधे) एवं कीड़े-मकोड़ों तक की रक्षा करनी चाहिए।
6. चित्र, पाषाणादि से बने हुए जीवों के साथ भी दुर्व्यवहार नहीं करना चाहिए।
7. काम-भाव की तीव्रता अर्थात् परस्त्री-सेवन या वेश्यागमन का कार्य नहीं करना चाहिए।
8. मन, वचन और काया की प्रवृत्ति सोच-विचार कर जैसी उचित हो, वैसी करनी चाहिए।
9. आहार, जल आदि का भलीभाँति देखकर ही दिन में ही सेवन करना चाहिए।
10. क्रोध, लोभ, चुगली, परनिन्दा, आत्मप्रशंसा आदि का भी त्याग कर देना चाहिए।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि उक्त सभी प्रकार के व्रत-नियमों वाली जैनाचार-संहिता न केवल मनुष्य के ही शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व में उपयोगी सिद्ध होती है, अपितु संसार के समस्त प्राणियों में शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व का भी सुंदर वातावरण तैयार करती है। इसके परिपालन से एक स्वस्थ एवं सुंदर समाज की संरचना तैयार होती है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. तत्त्वार्थसूत्र, आचार्य उमास्वामी, संपादक पं. फूलचंद्र शास्त्री, गणेश वर्णी शोध संस्थान, वाराणसी, उ.प्र.।
2. रत्नकरण्डश्रावकाचार, आचार्य समन्तभद्र, टीकाकार पं. सदासुखदास, वीतराग-विज्ञान ग्रन्थमाला, अजमेर, राजस्थान।
3. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, आचार्य अमृतचन्द्र, पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर।
4. सर्वार्थसिद्धि, आचार्य पूज्यपाद, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली।
5. समणसुत्तं, संकलक जिनेन्द्र वर्णी, आगम प्रकाशन, 5373, जैनपुरी, रेवाड़ी, हरियाणा।
6. Ethical Doctrine in Jainism, Dr. K.C. Sogani, Jain Vidya, Sansthan, Shri Mahaveerji, Jaipur (Raj.). ❖❖

तीन लोक में अज्ञान से बड़ा कोई अंधकार नहीं है और ज्ञान से बड़ा कोई प्रकाश नहीं है, अज्ञान से बड़ा कोई दुःख नहीं है और ज्ञान से बड़ा कोई आनन्द नहीं है, अज्ञान से बड़ा कोई विष नहीं है और ज्ञान से बड़ा कोई अमृत नहीं है।

धर्म और पर्यावरण (जैन धर्म के विशेषसन्दर्भ में)

‘पर्यावरण-प्रदूषण’ आज का सबसे अधिक ज्वलन्त मुद्दा है। आज इसने सारे विश्व को चिन्तित होने पर मजबूर कर दिया है।

पर्यावरण-प्रदूषण ने न केवल किसी एक देश विशेष को हानि पहुँचाई है, अपितु समूची जीव-जातियाँ इस भयंकर खतरे की चपेट में आ गई हैं। अनेक प्रजातियाँ तो नष्ट (लुप्त) ही हो गई हैं और अनेक प्रजातियाँ नष्ट होने के कगार पर आ गई हैं। पर्यावरण-प्रदूषण के कारण आज प्रकृति का सारा सन्तुलन गड़बड़ा गया है।

इतिहास उठाकर देखें तो ज्ञात होता है कि विपदाएँ तो प्राचीन काल में भी बड़ी-बड़ी आई थीं, पर उनसे एक सीमित क्षेत्र में ही नुकसान होता रहा है; परन्तु पर्यावरण-प्रदूषण तो आज एक ऐसे सर्वग्रासी राक्षस के रूप में हमारे सामने आया है, जिसने कहीं भी किसी को भी नहीं छोड़ा है। अनेकानेक सज्जन, निर्दोष लोग और छोटे-छोटे बच्चे तक भी पर्यावरण-प्रदूषण के कारण महादुःख उठाते हुए असमय ही काल के गाल में जा रहे हैं।

दुनिया के किसी भी अस्त्र-शस्त्र, रोग, महामारी, अकाल, तूफान, दैत्य, राक्षस आदि से भी सृष्टि का कभी उतना नुकसान नहीं हुआ होगा, जितना कि आज पर्यावरण-प्रदूषण से हो रहा है।

पर्यावरण-प्रदूषण केवल एक समस्या नहीं है, अपितु अनेकानेक समस्याओं का जनक है, मूल है। इसके ही कारण विश्व में अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं। जैसे—ग्लोबल-वार्मिंग (global warming), स्वास्थ्य से सम्बन्धित समस्याएँ, शुद्ध अन्न-जल की समस्या, स्वच्छ-वायु समस्या, इत्यादि।

पर्यावरण-प्रदूषण से आज समाज में स्वास्थ्य से सम्बन्धित समस्याएँ बहुत अधिक बढ़ गई हैं। आजकल कहीं भी कोई भी व्यक्ति पूर्णरूप से स्वस्थ नहीं रह गया है, जबकि गली-गली में आधुनिक चिकित्सालय खुले हुए हैं।

अन्न, जल, वायु आदि में भी प्रदूषण ने अपना भयंकर कुत्सित प्रभाव व्याप्त कर दिया है। आज शुद्ध अन्न, जल, फल, सब्जी आदि कुछ नहीं मिलता। ये सभी शरीर

को पोषण देने की बजाय शोषण का कार्य करने लगे हैं। पानी की भी कितनी विकराल समस्या हमारे सामने है— यह बताने की आवश्यकता नहीं है। इस विषय में विशेषज्ञों का तो यहाँ तक कहना है कि अगर अगला विश्वयुद्ध हुआ तो जल के ही कारण होगा। वायु का भी बड़ा बुरा हाल है। सांस लेने तक के लिए शुद्ध ऑक्सीजन नहीं मिल रही है। अभी कुछ दिन पूर्व ‘नवभारत टाइम्स’ (हिन्दी दैनिक, नई दिल्ली) में समाचार छपा था कि दिल्ली गैस चैम्बर बन गई है।

इस प्रकार पर्यावरण-प्रदूषण आज एक बड़ी भारी समस्या के रूप में उभर कर विश्व के सामने आया है तथा इससे बचने के लिए आए दिन वैश्विक-स्तर पर शिखर सम्मेलन, पृथ्वी सम्मेलन एवं अनेक सेमीनार आदि आयोजित किए जा रहे हैं, जिनमें सभी देशों के समाजशास्त्री, राजनीतिज्ञ, दार्शनिक आदि बड़े-बड़े बुद्धिजीवी लोग भाग ले रहे हैं और इस समस्या के समाधान पर गंभीरता से विचार कर रहे हैं।

इससे ज्ञात होता है कि पर्यावरण एक बड़ा ही गंभीर एवं प्रयोजनभूत विषय है, जिस पर काफी विस्तार से वार्तालाप किया जा सकता है और इसके विभिन्न पहलुओं पर पृथक्-पृथक् भी विस्तार से चर्चा की जा सकती है, की भी जानी चाहिए, परन्तु वह सब आज इन्टरनेट आदि के माध्यम से और समाचार-पत्रों के माध्यम से भी हम सबको दैनिक जीवन में नियमित रूप से प्राप्त हो रही है, अतः यहाँ हम उस विषय को विराम देकर इस महत्त्वपूर्ण विषय पर चर्चा करते हैं कि आखिर धर्म की इस विषय में क्या भूमिका हो सकती है? क्या धर्म और पर्यावरण का कुछ रिश्ता है? क्या कोई धर्म पर्यावरण-प्रदूषण की कोई बात कहता है? या फिर सभी धर्मों में पर्यावरण-चेतना पाई जाती है?

विविध धर्म-दर्शनों के यथाशक्ति किए गए अध्ययन के आधार पर मैं तो इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि सभी धर्मों में पर्याप्त मात्रा में पर्यावरण-चेतना पाई जाती है। सभी दर्शनों और धर्मों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी भी प्रकार से पर्यावरण-संरक्षण का उपदेश दिया है। जैसे— वेदों में जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, सूर्य, चन्द्र आदि को देवता मानकर उनकी उपासना की बात की गई है, इत्यादि।

किसी भी धर्म ने पर्यावरण को प्रदूषित करने का मूलतः कोई निर्देश नहीं दिया है। आवश्यकता आज इस बात की है कि इस विषय को धर्म-ग्रन्थों के उद्धरणों के द्वारा समाज के सम्मुख लाया जाए और जनता में पर्यावरण-चेतना जगाई जाए, क्योंकि आजकल लोग धर्म के नाम पर भी बहुत अधिक प्रदूषण फैला रहे हैं। पूजा-पाठ, हवन, यज्ञ, तीर्थयात्रा, पर्वाराधना आदि अनुष्ठान जो मूलतः पर्यावरण-शुद्धि के लिए ही बनाए गए थे, दुःख का विषय है कि वे ही आज पर्यावरण को प्रदूषित करने के कारण बन रहे हैं। धर्म के नाम पर चल रही इस धर्मान्धता को धर्मग्रन्थों की समीचीन शिक्षा द्वारा रोकना चाहिए।

साथ ही भारत सरकार को भी पर्यावरण को प्रदूषित करने की हर क्रिया पर सख्ती से रोक लगानी चाहिए, चाहे वह धर्म के नाम पर ही चल रही हो, क्योंकि पर्यावरण को प्रदूषित करने वाली कोई भी क्रिया धर्म की क्रिया हो ही नहीं सकती, वह तो पाप की क्रिया है, धर्मान्धता है। धर्म और धर्मान्धता में भारी अन्तर होता है।

पर्यावरण को प्रदूषित करना वास्तव में देखा जाए तो एक प्रकार का राष्ट्रद्रोह भी है, समाजद्रोह भी है, आने वाली समस्त पीढ़ियों (अपने ही बच्चों) के प्रति किया गया घोर अन्याय भी है।

यहाँ हमें एक बात और भी ध्यान में रखनी होगी कि भारत एक धर्म-प्रधान देश है और आज भी, इतनी वैज्ञानिक चेतना विकसित होने के बाद भी, लोग वैज्ञानिकों की कम और धर्मगुरुओं की बात अधिक मानते हैं, अतः पर्यावरण को प्रदूषित होने से बचाने के लिए आज सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि धर्मगुरु इस विषय में लोगों को जागृत एवं प्रेरित करें। आज यदि सभी धर्मगुरु यह नारा दे दें कि जिस भी क्रिया से पर्यावरण प्रदूषित होता हो वह क्रिया कथमपि धर्म की क्रिया नहीं हो सकती, वह तो पाप की ही क्रिया है, तो हमारा पर्यावरण आज भी बहुत सुन्दर बन सकता है, क्योंकि बहुत सारा प्रदूषण धर्म के नाम पर ही फैलाया जा रहा है। जैसे कि—

1. नदियों में शव, अस्थि, नख, केश और मूर्ति आदि विसर्जित करना।
2. देवी-देवताओं की पूजा के नाम पर खूब हिंसा करना, जीवों को मारना आदि।
3. पूजा के नाम पर पर्यावरण को प्रदूषित करने वाले यज्ञ, हवन आदि करना।
4. पूजा के नाम पर ही बहुत अधिक दूध, दही, घी, पानी आदि बरबाद करना।
5. धर्म के नाम पर अस्त्र-शस्त्र बनाकर आतंकवाद फैलाना।
6. पर्वों के नाम पर पटाखे, रंग, भंग आदि के माध्यम से भारी प्रदूषण फैलाना।

इत्यादि। अतः आज धर्म के नाम पर प्रदूषण फैलाने की हर कोशिश को हमें रोकना ही होगा और यह काम धर्मों की समीचीन शिक्षा देकर ही अच्छी तरह किया जा सकता है। हमें पृथक्-पृथक् सभी धर्म-दर्शनों में पर्यावरण-चेतना के सूत्रों को खोजकर प्रस्तुत करना होगा और जनता के समक्ष इस बात को बड़े ही स्पष्ट रूप से रखना होगा कि जो व्यक्ति पर्यावरण को प्रदूषित करे, वह कथमपि धर्मात्मा नहीं है, अपितु पापी है, महापापी है, अनेक निर्दोष जीवों का हत्यारा है।

हत्यारा तो सामान्यतः एक-दो जीवों की ही हत्या करता है, किन्तु पर्यावरण को प्रदूषित करने वाला तो असंख्य जीवों की हत्या का भागी बनता है। धर्म तो जीव-दया का नाम है जैसा कि सभी धर्म-ग्रन्थों में बारम्बार जोर देकर कहा है। यथा—

1. अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् ।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥
2. श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥
3. सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग भवेत् ॥
4. परहितं सरिस धर्मं नहि भाई । परपीडा सम नहि अधमाई ॥

जिस प्रकार प्राचीन समय में नारा दिया गया था कि हिंसा ही सबसे बड़ा पाप है और अहिंसा ही सबसे बड़ा धर्म है, उसी प्रकार आज हमें नारा देना होगा कि पर्यावरण को प्रदूषित करना ही सबसे बड़ा पाप है और पर्यावरण की रक्षा करना ही सबसे बड़ा धर्म है। तथा यह बात गलत भी नहीं होगी, क्योंकि हिंसा-अहिंसा के पीछे प्राचीन ऋषि-मुनियों की भावना यही थी। यह तो उनकी बात का केवल भाषान्तर ही है। जिसप्रकार हिंसा-अहिंसा को निश्चय-व्यवहार शैली से विस्तृत करके बात पूरी समझी जाती है, उसीप्रकार यहाँ भी समझा जा सकता है।

अब जहाँ तक जैनधर्म का प्रश्न है तो वह तो पर्यावरण-संरक्षण पर और भी अधिक बल देता है। उसकी तो पर्यावरण-चेतना बहुत ही अधिक विकसित है। और यह बात अनेक जैनेतर ग्रन्थ-ग्रन्थकारों ने भी मुक्तकण्ठ से स्वीकार की है। जैसे कि गुरुग्रन्थ-साहिब में लिखा है कि—

‘दया दिगम्बरु देउ विचारी । आप मरै औरै नहि मारी ॥’

—श्री गुरु ग्रन्थ साहब, पहला भाग, महला 1, पृष्ठ 356

अर्थात् दया का उत्कृष्ट रूप दिगम्बर मुनियों में पाया जाता है, क्योंकि वे स्वयं तो मर सकते हैं, पर दूसरे किसी सूक्ष्म जीव को भी नहीं मारते हैं।

दरअसल, जैनधर्म अहिंसा पर बहुत ही अधिक बल देता है। वह किंचित् भी हिंसा को कोई अवकाश नहीं देता। सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव की भी हिंसा की स्वीकृति नहीं प्रदान करता है। उसमें साफ-साफ कहा है कि जहाँ अणुमात्र भी हिंसा हो वह धर्म नहीं हो सकता। यथा—

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं ।

न सा तत्राऽऽरम्भोऽस्त्यणुरपि च॥

—आचार्य समन्तभद्र, स्वयंभूस्तोत्र, 21/4

यही कारण है कि जैन धर्म में पर्यावरण-चेतना बहुत अधिक विकसित हुई है। वहाँ पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति तक को भी एकेन्द्रिय जीव कहा है और उनकी भी हिंसा नहीं करने का सभी को मर्मस्पर्शी उपदेश दिया है। यथा—

कर प्रमाद जल भूमि वृक्ष पावक न विराधे । —पं. दौलतराम, छहढाला, 4/13

जैनाचार्यों ने पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और अन्य भी सूक्ष्म जीवों की हिंसा को 'आरम्भ' संज्ञा दी है और उसकी अधिकता को नरकगति का कारण और अल्पता को मनुष्य गति का कारण कहा है—

बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः।

अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य ।

—आचार्य उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र, 6/15 एवं 17

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति— इन पाँचों में से भी जैनाचार्यों ने वनस्पति की रक्षा पर विशेष बल दिया है, क्योंकि वनस्पति सबका मूल है। वह रहेगी तो सब की रक्षा हो जाएगी और वह गई तो समझो सब कुछ चला गया। वनस्पति वन का पति है। यही कारण है कि आचार्य विद्यानन्द जैसे मनीषी मुनिराज ने एक स्वतन्त्र ही पुस्तक इस विषय में लिखी है— 'वन का पति वनस्पति' जो कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली से प्रकाशित हुई है। पूरी पुस्तक इस विषय में गंभीरतापूर्वक पठनीय है।

वनस्पति को चोट नहीं पहुँचाने की यह भावना जैन रामायण 'पद्मपुराण' जिसके कर्ता आचार्य रविषेण हैं, में भी इस प्रकार व्यक्त हुई है—

तृणस्यापि न वांछामि पीडां जिनमताश्रितः।

—आचार्य रविषेण, पद्मपुराण, 23/304

अर्थ— मैं जिनमत को मानता हूँ, एक तृण को भी पीड़ा देना नहीं चाहता हूँ।

जैनाचार्यों ने अहिंसा के परिपालन पर इतना अधिक जोर दिया है कि उसके अनेकानेक सूक्ष्म रूप आज तक भी जैन समाज में प्रचलित दिखाई देते हैं, जिन्हें मैंने अपने एक अन्य आलेख 'व्यावहारिक जीवन में प्रचलित अहिंसा के सूक्ष्म रूप' में स्वतन्त्र रूप से संकलित करने का प्रयास किया है। मेरा वह आलेख यद्यपि मूलतः पठनीय है, तथापि उनमें से कतिपय रूप निम्नलिखित हैं—

1. रात्रिभोजन नहीं किया जाता और कराया भी नहीं जाता।
2. पीने के लिए ही नहीं, स्नानादि के लिए भी पानी को छानकर ही काम में लिया जाता है।
3. गर्म पानी में ठण्डा और ठण्डे पानी में गर्म पानी नहीं मिलाया जाता।
4. पानी की एक बूँद भी व्यर्थ नहीं गिराई जाती।
5. पशु-पक्षी के आकार की मिठाई (Toffees) तक नहीं खाई-खिलाई जाती।
6. बासी भोजन नहीं किया जाता।
7. विवाहादि भी दिन में ही सम्पन्न करने का प्रयत्न किया जाता है।
8. वृक्षों के पत्र, पुष्प आदि नहीं तोड़े जाते। हरी घास पर चलना तक वर्जित माना

जाता है।

9. मच्छर और जूँ आदि को भी नहीं मारा जाता।
10. चित्रात्मक जीव की भी हिंसा नहीं की जाती। जिस पर तितली, चूहा, चिड़िया आदि का चित्र छपा हो— ऐसी चप्पल या मेट आदि किसी भी चीज पर पैर नहीं रखा जाता।
11. मन्दिर में भगवान के आगे भी फल-फूल आदि नहीं चढ़ाए जाते, मात्र चावल आदि शुष्क प्रासुक वस्तुएँ चढ़ाई जाती हैं।
12. मन्दिरों में रात्रि के समय घण्टा नहीं बजाया जाता, क्योंकि इससे भी अनेक सूक्ष्म जीवों को पीड़ा होती है।
13. रेशमी वस्त्रों (साड़ी आदि) का प्रयोग नहीं किया जाता, क्योंकि इनके निर्माण में असंख्य कीटों की हिंसा होती है।
14. हिंसा से उत्पन्न सौन्दर्य-प्रसाधनों का उपयोग नहीं किया जाता।
15. पटाखे नहीं चलाए जाते, क्योंकि इससे भी असंख्य त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा होती है।
16. चमड़े की किसी भी वस्तु — जूते, चप्पल, पर्स, बेल्ट, बैग आदि का उपयोग नहीं किया जाता।
17. सप्ताह में एक दिन (अष्टमी-चतुर्दशी को) साबुन का प्रयोग नहीं किया जाता। हरी सब्जी का सेवन भी नहीं किया जाता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन धर्म में पर्यावरण-संरक्षण के प्रभूत विचार उपलब्ध होते हैं और उनमें से आज भी बहुत सारे क्रियात्मक रूप में भी जन-जीवन में व्याप्त दिखाई देते हैं। जैन धर्म में पूजा-पाठ आदि किसी धर्म कार्य के लिये भी हिंसा को उचित नहीं ठहराया गया है और यह बात सभी के लिये अनुकरणीय होनी चाहिए।

अन्त में, मैं निम्नलिखित घोष-वाक्य के साथ अपनी बात पूरी करना चाहता हूँ, क्योंकि इसी में पर्यावरण-रक्षा का महत्त्वपूर्ण सन्देश निहित है—

“जब तक पत्ता डाली है। धरती पर खुशहाली है॥”



“प्यार करना श्रेष्ठ है तो सर्प को भी प्यार दो,
मारना यदि श्रेष्ठ है तो दर्प मन का मार दो।
प्राण लेकर के किसी के, दे नहीं सकते हो तुम,
वीर बोले— चींटी को भी जीने का अधिकार दो।”

जैन धर्म में स्वच्छता की अवधारणा

स्वच्छता आज का एक ज्वलंत विषय है। भारत सरकार के निर्देशों पर आज सर्वत्र बड़े ही व्यापक स्तर पर स्वच्छता अभियान चल रहा है। प्रस्तुत लेख में विचारणीय है कि स्वच्छता के सम्बन्ध में जैन धर्म क्या कहता है।

वैसे तो सभी चिंतकों की तरह जैन चिंतक भी स्वच्छता को सभी दृष्टियों से बहुत अच्छा कहते-मानते हैं, गंदगी रखने और फैलाने को किसी भी दृष्टि से उचित नहीं कहते-मानते हैं। गंदगी का कथमपि कोई पक्ष जैन चिंतक भी नहीं लेते। जैन चिंतक तो बल्कि स्वच्छता पर कुछ ज्यादा ही जोर देते हैं। जैनों की स्वच्छता या शुद्धता की बातें विश्वप्रसिद्ध हैं। जैन घरों में आज भी जो स्वच्छता-शुद्धता दिखाई देती है, वह अन्यत्र दुर्लभ ही है। तथापि स्वच्छता के सम्बन्ध में जैन चिंतकों की एक बात बहुत ही महत्वपूर्ण है, एकदम अनूठी है, जिसकी ओर प्रायः लोगों का ध्यान नहीं जाता, अतः आज मैं यहाँ उसी को विशेष रूप से स्पष्ट करना चाहता हूँ। स्वच्छता अभियान से जुड़े हुए सभी लोगों को इस बात की ओर गम्भीरतापूर्वक ध्यान देना चाहिए। इस बात को समझे और अपनाये बिना हमारा स्वच्छता अभियान कभी सफल नहीं हो सकता।

जैन चिंतकों की वह खास बात संक्षेप में यह है कि हमें ‘सफाई करो’ की बजाय ‘सफाई रखो’ की नीति को प्रोत्साहित करना चाहिए। यद्यपि यह बात देखने में एक-सी ही लग रही है, किन्तु गहराई से देखा जाए तो दोनों बातों में बड़ा भारी अंतर है। कैसे— यही यहाँ स्पष्ट किया जा रहा है।

जैन धर्म अहिंसावादी धर्म है। उसका कहना है कि सफाई करने से भी सूक्ष्म जीवों की हिंसा होती है, अतः हमें सफाई करने के बाद प्रायश्चित्त लेना चाहिए, जैसा कि ‘आलोचना-पाठ’ में कहा है—

“झाड़ू ले जगा बुहारी। चींटी आदिक जीव विदारी ॥”

इसी प्रकार के विचार अन्यत्र भी अनेक स्थानों पर अनेक जैन आचार्यों ने प्रकट किये हैं। इनसे ज्ञात होता है कि जैन धर्म झाड़ू आदि से सफाई करने को अच्छा कार्य नहीं मानता है, अपितु उसकी गणना पापकार्यों में ही करता है और उसका प्रायश्चित्त

लेने का विधान भी बनाता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि जैन धर्म गंदगी का पक्षधर है। जैन धर्म गंदगी का किंचित् भी पक्षधर नहीं है— यह बात हम ऊपर भलीभाँति स्पष्ट कर चुके हैं।

दरअसल, बात यह है कि जैन आचार्य 'सफाई रखो'—यह तो कहते हैं, किन्तु 'सफाई करो'—यह नहीं कहते हैं। 'गंदगी मत फैलाओ'—यह तो कहते हैं, किन्तु 'झाड़ू आदि से सफाई करके हिंसात्मक कार्य करो'—यह नहीं कह रहे हैं। तथा उनका यही चिन्तन यहाँ बहुत महत्वपूर्ण है, जो बड़े ध्यान से समझने योग्य है। सफाई रखना और सफाई करना—दोनों बातों में बड़ा अंतर है।

जैन आचार्यों के ये विचार ऊपर से देखने पर किसी को कुछ अटपटे-से लग सकते हैं, किन्तु यदि गम्भीरतापूर्वक चिन्तन किया जाए तो बड़े ही काम के सिद्ध होते हैं, क्योंकि इन्हीं से हमारी समस्या समूल समाप्त होगी। जैन आचार्यों के ये विचार स्वच्छता अभियान को सफल बनाने के लिए बड़े ही काम के हैं, अत्यंत मौलिक एवं अर्थपूर्ण हैं। इनमें बड़ा रहस्य छुपा हुआ है। इसके द्वारा जैन आचार्य कहना यह चाहते हैं कि हमारी जीवन-शैली ऐसी होनी चाहिए कि कूड़ा फेंले ही नहीं, क्योंकि यदि कूड़ा उत्पन्न होगा तो वह कहीं-न-कहीं तो रहेगा ही और उससे वातावरण भी गंदा होगा ही।

आज हम देख रहे हैं कि हम अपने घर या कार्यालय को तो जैसे-तैसे स्वच्छ कर लेते हैं, परन्तु वहाँ से जो कूड़ा निकलता है, उससे बड़े-बड़े कूड़े के पहाड़ खड़े हो जाते हैं। उनमें से अनेक दुर्गन्धित गैसों निकलती रहती हैं और नाना प्रकार की भयंकर समस्याएँ खड़ी होती रहती हैं। वर्तमान में दिल्ली को ही देख लीजिए, यहाँ भलस्वा और गाजीपुर में तो दो बड़े-बड़े कूड़े के पहाड़ बन ही गये हैं, सरकार ने अभी-अभी दो और स्थान इस कार्य के लिए आवंटित कर दिए हैं। समझ में नहीं आ रहा कि ऐसा कब तक किया जा सकेगा। अभी से ही सारी धरती और सारा आकाश कूड़े से भरता जा रहा है। आगे क्या होगा? हमारा स्वच्छता अभियान इस विधि से कैसे सफल होगा?

यही कारण है कि आज हमें जैन आचार्यों के इस उपदेश पर ध्यान देना होगा कि 'सफाई करो, सफाई करो'—चिल्लाने की बजाय 'कूड़ा मत पैदा करो, गंदगी मत फैलाओ'—ऐसा कहा जाए और साथ में यह भी कहा जाए कि जो अधिक या खतरनाक कूड़ा फैलाएगा उसे प्रायश्चित्त (दंड) का भागी बनना होगा।

हम देखते हैं कि प्राचीन काल में भी हमारे देश में प्रायः सर्वत्र ऐसा ही था, प्रथम तो कूड़ा पैदा ही नहीं होता था और जो कुछ होता था तो उसका अन्य उपयोग हो जाता था, पर आज हमारी जीवनशैली बहुत खराब हो गई है और हम विकास, पैकिंग, लुकिंग आदि के नाम पर बहुत अधिक एवं बड़े ही खतरनाक कूड़े का

उत्पादन कर रहे हैं। विचारणीय है कि हम इतने सारे एवं खतरनाक कूड़े का नाश कैसे करेंगे? अतः यदि हमें अपने स्वच्छता अभियान को सफल बनाना है तो उन सब कार्यों को हतोत्साहित करना होगा, जिनसे अधिक एवं खतरनाक कूड़ा फैलता है, गन्दगी फैलती है।

यद्यपि यह सम्भव नहीं है कि कूड़ा बिलकुल ही पैदा न हो, होगा, अवश्य होगा और हमें उसकी सफाई भी अवश्य करनी ही होगी, अन्यथा अधिक गंदगी फैलेगी, परन्तु फिर भी सफाई करने की बजाय सफाई रखने वाली अवधारणा को हमें बहुत अधिक प्रोत्साहित करना होगा, तभी हमारा स्वच्छता अभियान सही अर्थों में सफल होगा। यूँ ही विकास के नाम पर विनाश की आँधी चलाना उचित नहीं है।

सफाई कैसे रखी जाए अथवा गंदगी कैसे कम फैले —इस विषय पर भी जैन आचार्यों का मार्गदर्शन बहुत महत्वपूर्ण है। इस सम्बन्ध में उन्होंने अनेक उपाय बताये हैं। यथा—

1. आरम्भ कार्य (जैसे— पृथ्वी खोदना, पानी फैलाना, अग्नि जलाना, वायु को बाधित करना, पेड़-पौधों को नुकसान पहुँचाना) कम से कम किये जाएँ। ‘आरम्भ’ जैनदर्शन का एक विशेष पारिभाषिक शब्द है। जिन कार्यों से जीवों को पीड़ा पहुँचे उन्हें आरम्भ कहते हैं। बहुत आरम्भकार्य करने से बहुत गंदगी फैलती है।
2. परिग्रह कम से कम इकट्ठा किया जाए। अनावश्यक परिग्रह इकट्ठा करने से बहुत गंदगी फैलती है। अनावश्यक वस्तुएँ काम नहीं आ पातीं, खराब हो जाती हैं।
3. शुद्ध सात्विक शाकाहारी भोजन किया जाए। भोजन की कच्ची, पक्की सारी सामग्री अत्यंत सीमित मात्रा में एवं अत्यंत सावधानी से रखी जाए। भोजन वेस्ट न किया जाए।
4. नदियों को पवित्र रखा जाए। उनमें घुसकर स्नान, धोवन आदि न किया जाए।

इसी प्रकार के और भी अनेक उपाय बताए हैं। यदि हम सब इन उपायों पर गम्भीरतापूर्वक ध्यान दें तो सहज ही गंदगी कम फैलेगी और हमारा ‘स्वच्छ भारत अभियान’ पूर्ण सफल होगा।

जैन ग्रन्थों में उपलब्ध स्वच्छता के प्रमुख सन्दर्भ

1. अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य। बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः। —आचार्य उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 6, सूत्र 15 एवं 17
2. यत्नाचारप्रवृत्ति (मरदु व जीवदु जीवो..... —प्रवचनसार, गाथा 217)

3. अनर्थदंड व्रत (हिंसादान, प्रमादचर्या.....)
4. आदाननिक्षेपण समिति, व्युत्सर्ग समिति (ईर्याभाषैणा.....तत्त्वार्थसूत्र, 9/5)
5. कदं चरे कदं चिट्टे जदं चरे जदं चिट्टे(मूलाचार, 10/121-122)
6. जैन साधु सब छोड़ देते हैं, तन के वस्त्र भी, पर पिच्छी रखते हैं जो संयम का उपकरण है— (णिपिच्छे णत्थि णिव्वाणं) —मूलाचार 10/25
7. जैन पूजा पद्धति भी स्वच्छता के अनुरूप है। (यज्ञ, हवन, फल, फूल रहित)
8. जैन आहार पद्धति — शुद्ध शाकाहार, बासी भोजन कभी नहीं, अंतर्मुहूर्त, अतिरिक्त मत बनाओ, बन जाए तो किसी को खिला दो, बचाओ मत, खाद्य सामग्री का बहुत संग्रह मत करो।
9. परिग्रहपरिमाण — आहार, वस्त्र आदि वस्तुओं का संचय मत करो।
10. अयोध्या, वैशाली आदि नगरों की बसावट स्वच्छता के अनुरूप थी।
11. स्वच्छता को 'शुचिता' या 'शुद्धता' शब्द से कहा जाए तो अधिक उपयुक्त है, क्योंकि यह अधिक व्यापक है। इसमें समस्त अन्तरंग-बहिरंग शुद्धि (व्यवस्था, मन-वचन-काय) गर्भित हो जाती है। जैसे आहारशुद्धि को जैनधर्म में 'चौका' कहते हैं अर्थात् जो न्यायपूर्वक कमाया हो, यत्नाचारपूर्वक बनाया हो, वात्सल्यपूर्वक खिलाया हो, अनासक्तिपूर्वक खाया हो, उसे शुद्ध भोजन कहते हैं। आज स्वच्छता तो कुछ बढ़ गई है, पर शुद्धता घट गई है।
12. शुद्धता में भी मनशुद्धि मूल है। जैसा कि कबीर आदि ने भी कहा है— “कबीर मन निर्मल भया, जैसे गंगा नीर। पीछे-पीछे हरि फिरे, कहत कबीर-कबीर।।”
13. स्वच्छता का उद्देश्य मात्र यही नहीं है कि हम स्वस्थ रहें, बल्कि अन्य जीवों की भी हिंसा नहीं होनी चाहिए। इसीलिए जैनों को 'सफाई करो' की बजाय 'गंदगी मत फैलाओ' कहना अधिक पसंद है। यह समस्या को मूल से समाप्त करने का विचार है।
14. सफाई करना अच्छी बात नहीं है। वह तो बस इसलिए उचित कही जा सकती है कि अधिक गंदगी न फैले, उचित तो वास्तव में यह है कि गंदगी ही न फैलाई जाए— prevention is better than cure- सफाई करना तो हिंसा है, जिसका जैन लोग प्रायश्चित्त करते हैं। जैन धर्म के अनुसार तो कूड़ा फैलाना पाप है। पाप ही नहीं, महापाप है, क्योंकि उससे ही अनंत समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं। ❖❖

सफाई रखना जरूरी है। सफाई करना मजबूरी है।।

जैन आचारशास्त्र की भूमिका¹

भाग-1

जैनदर्शन के आचारशास्त्र को समझना भी कोई साधारण कार्य नहीं है, जैसा कि प्रायः लोग समझ लेते हैं; क्योंकि वह कोई सामान्य शिष्टाचार या लोकाचार मात्र नहीं है, अपितु एक ऐसा गूढ़-गम्भीर द्विमुखी सिद्धान्त है जो एक ओर अपनी आधारशिला के रूप में जैनदर्शन की सम्पूर्ण तत्त्वमीमांसा को स्पर्श करता है और दूसरी ओर साधक को आत्मानुभूति में मग्न कर अपनी आध्यात्मिकता भी सुसिद्ध करता है।

प्रायः जब भी कभी जैनाचार को समझने-समझाने की कोई कोशिश होती है, तो साधारण लोग ही नहीं, बड़े-बड़े विद्वान् और शोधार्थी भी उसके मात्र आचार पक्ष पर ही विमर्श करके रह जाते हैं, उसकी आधारशिला— तत्त्वमीमांसा और उसकी अन्तिम परिणति— आध्यात्मिकता के दोनों ही पक्ष उससे बिलकुल अछूते रह जाते हैं, जो कि जैनाचार को समझने के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। महत्त्वपूर्ण ही नहीं, बल्कि यह कहना चाहिए कि अनिवार्य हैं। उनके बिना जैनाचार को पूर्णतः/समग्रतः/सर्वाङ्गीणरूप से समझा ही नहीं जा सकता।

जिस प्रकार किसी वृक्ष को पूर्णतः समझने के लिए उसके मूल, फल आदि को भी समझना आवश्यक है, मात्र समक्षस्थित वृक्ष भाग को ही समझना पर्याप्त नहीं है, उसी प्रकार जैनाचार को भी पूर्णतः समझने के लिए हमें उसके मूल-स्थानीय जैन तत्त्वमीमांसा को और फल-स्थानीय आध्यात्मिकता को भी समझना अत्यन्त आवश्यक है, मात्र आचार पक्ष को ही समझना पर्याप्त नहीं है।

जिस आचार की आधारशिला जैन तत्त्वमीमांसा नहीं है और जिसका प्रतिफल भी आत्मानुभूति, आत्मलीनता या आध्यात्मिकता नहीं है; उसे वस्तुतः जैनाचार ही नहीं कहा जा सकता। वह तो एक तरह से बे-सिर-पैर की बात हुई।

-
1. प्रस्तुत लेख प्रो. कमलचंद सोगानी की पुस्तक 'जैनधर्म में आचारशास्त्रीय सिद्धांत' की 'भूमिका' के रूप में लिखा गया था, किन्तु जैन आचारशास्त्र को समझने में सहायक जानकर यहाँ भी दिया जा रहा है। पुस्तक तीन भागों में विभाजित है, अतः इस लेख में भी तीन भाग हैं।

जैनाचार्यों के अनुसार कोई भी आचार यदि वह तत्त्वज्ञान से रहित है तो मूल-रहित वृक्ष की भाँति असंभव, मिथ्या या बाललीला मात्र है और यदि वह अन्त में साधक को आत्मलीन न कर सके तो फल-रहित वृक्ष की भाँति निष्फल है, निरर्थक है, निरुद्देश्य है।

इस बात को दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जैनदर्शन का आचार सिद्धान्त एक ऐसी मध्यस्थित कड़ी है जिसके एक ओर तत्त्वमीमांसा है और दूसरी ओर आध्यात्मिकता तथा वह स्वयं तत्त्वमीमांसा और आध्यात्मिकता— इन दोनों कड़ियों को बड़ी ही कुशलता के साथ जोड़कर समीचीन मोक्षमार्ग की भव्य रचना करती है और साधक को आत्मविकास के उत्तरोत्तर सभी सोपान चढ़ाती हुई कृतकृत्य सिद्ध परमात्मा बना देती है।

डॉ. कमलचन्द सोगाणी की इस कृति ने मुझे इसीलिए अत्यधिक प्रभावित किया कि इसमें जैनाचार के इन दोनों महत्त्वपूर्ण पक्षों को बड़े ही सुन्दर ढंग से स्पष्ट किया गया है और उनकी उपेक्षा कर देने की सामान्य भूल इसमें नहीं हो पाई है।

यद्यपि जैनाचार के विवेचन की प्राचीन परम्परा ऐसी ही रही है कि उसमें आचार को तत्त्वज्ञान और आत्मानुभूति के बीच में रखकर ही उपर्युक्तानुसार समझाया जाता रहा है; जैसा कि समन्तभद्र, अमृतचन्द्र, आशाधर आदि के आचार-ग्रन्थों से भलीभाँति स्पष्ट है। किन्तु आधुनिक युग में यह परम्परा कुछ विच्छिन्न-सी हो गई है। आज के विद्वान् और शोधार्थी आचार को समझने के लिए ‘आचार’ तक ही सीमित रह जाते हैं, उसके साथ उसकी आधारभूत तत्त्वमीमांसा एवं शिखरभूत आत्मानुभूति— इन दोनों की चर्चा तक नहीं करते हैं। उनका आचार के साथ अविनाभावी सम्बन्ध समझना तो दूर की बात है। मेरी दृष्टि में यह एक बड़ी भारी भूल है। डॉ. सोगाणी की यह कृति इस दिशा में बढ़ाया गया परम्परानुरूप/आगमानुरूप समीचीन कदम होने से अत्यन्त सराहनीय है। केवल सराहनीय ही नहीं है, अनुकरणीय भी है। जब कभी हमें जैन आचारशास्त्र पर कुछ लिखने-बोलने का अवसर मिले तो इसी दृष्टि से लिखना-बोलना चाहिए। विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में भी जैन आचारशास्त्र का अध्ययन-अध्यापन इसी दृष्टि से होना चाहिए।

इस प्रकार जैनाचारशास्त्र के सभी जिज्ञासुओं को इस कृति को अवश्य ही मनोयोगपूर्वक पढ़ना चाहिए। मुझे पूर्ण आशा है कि इसके अध्ययन से पाठकों को तत्त्वज्ञान, आचार और अध्यात्म की पारस्परिक प्रगाढ़ मैत्री समझ में आएगी।²

तत्त्वज्ञान के ठोस आधार पर स्थित और अध्यात्म के मधुर फलों से सुशोभित जैनाचार की अन्य भी अनेक विशेषताएँ हैं। यथा— उसके केन्द्र में सर्वत्र एक

2. ‘ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्री’ —समयसारकलश 267

अहिंसा व्याप्त है; वह आत्मकल्याणकारी होने के साथ-साथ समाजकल्याणकारी भी है; उसमें आधुनिक विश्व की भयंकर समस्याओं के समाधान भी निहित हैं; वह आधुनिक विज्ञान द्वारा सिद्ध व समर्थित भी है; वह अव्यावहारिक नहीं, अपितु अत्यन्त व्यावहारिक भी है; पाश्चात्य आचारशास्त्र (Western Ethics) और जैन आचारशास्त्र (Jaina Ethics) में महान् अन्तर है; इत्यादि। डॉ. सोगाणी की प्रस्तुत कृति के माध्यम से जैनाचार के इन सभी पहलुओं को भी भलीभाँति समझने में सहायता प्राप्त होगी।

भाग-2

एक ही आचार को जैनाचार्यों ने दो भागों में विभाजित करके समझाया है— गृहस्थाचार और मुनि-आचार। डॉ. कमलचन्द सोगाणी की प्रस्तुत कृति— ‘जैनधर्म में आचारशास्त्रीय सिद्धान्त’ के प्रथम खण्ड में हमने गृहस्थाचार के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त की। अब द्वितीय प्राक्कथन खण्ड में मुनि-आचार का विवेचन किया जा रहा है। लेखक का प्रस्तुतीकरण यहाँ भी वैसा ही अत्यन्त व्यापक एवं निष्पक्ष होने से हृदयग्राह्य बना हुआ है।

मुनि-आचार का विवेचन करते हुए लेखक ने उसकी प्रेरक द्वादशानुप्रेक्षाओं से प्रारंभ करके अट्टाईस मूलगुणों और चौदह गुणस्थानों तक का विस्तृत स्वरूप प्रस्तुत किया है, किन्तु सर्वाधिक बल जिस बात पर दिया है वह है— रहस्यवाद। तथा मैं समझता हूँ कि यही एक इस कृति की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

बहुत से लोग (कुछ विद्वान तक भी) रहस्यवाद को समझ नहीं पाते, खास तौर से जैन-आचार के साथ तो बिल्कुल ही नहीं समझ पाते, अपितु विरोध-सा व्यक्त करने लगते हैं; जबकि यह जैन-आचारशास्त्र का एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण पक्ष/विषय है, जिसे समझना अत्यन्त आवश्यक है। आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। इसे समझे बिना जैन-आचारशास्त्र को पूर्णतः/समीचीनतः नहीं समझा जा सकता।

प्रश्न है कि रहस्यवाद कहते किसे हैं? तो इस सम्बन्ध में लेखक का स्पष्ट कहना है कि— “जैनधर्म में रहस्यवाद का समानार्थक शब्द ‘शुद्धोपयोग’ है। कुन्दकुन्द के अनुसार बहिरात्मा को छोड़ने के पश्चात् अन्तरात्मा के द्वारा लोकातीत आत्मा की अनुभूति रहस्यवाद है।”³

इस प्रकार हम देखते हैं कि रहस्यवाद आत्मानुभूति, आत्मदर्शन, आत्मसाक्षात्कार या आत्मलीनता की वचन-अगोचर स्थिति का ही अपर नाम है जिसे आचार्यों ने समाधि, योग, तत्त्वोपलब्धि, वीतरागस्वसंवेदन, ध्यान, निर्विकल्प आत्मध्यान, शुद्धोपयोग

3. जैनधर्म में आचारशास्त्रीय सिद्धान्त, खण्ड-2, पृष्ठ 62

आदि अनेक अन्य शब्दों से भी कहा है।⁴ डॉ. ए. एन. उपाध्ये ने ‘परमात्मप्रकाश’ की प्रस्तावना में इसे ही ‘गूढवाद’ शब्द से भी सूचित किया है।⁵

जैनदर्शन में सर्वत्र ही इस स्थिति का बड़ा महत्त्व माना गया है। निश्चयधर्म का प्रारम्भ वस्तुतः इसी दशा से माना गया है। प्रारम्भ ही नहीं, विकास एवं पूर्णता भी परमार्थतः इसी अवस्था से मानी गयी है। आचार्यों ने स्पष्ट शब्दों में कहा है— ‘धर्मः शुद्धोपयोगः स्यात्’—पंचाध्यायी 2/763 अर्थात् धर्म तो वस्तुतः शुद्धोपयोग है, शेष उसकी पूरक समस्त क्रियाओं को कारण में कार्य का उपचार करके ‘धर्म’ कहा जाता है।

इस प्रकार शुद्धोपयोग अर्थात् रहस्यवाद का जैनाचार के साथ बड़ा ही गहरा सम्बन्ध सिद्ध होता है, क्योंकि समस्त जैनाचार की अन्तिम परिणति अनिवार्य रूप से रहस्यवाद/शुद्धोपयोग में होना आवश्यक है। उसके बिना वह अपूर्ण ही रहा माना जाएगा।

इसे हम इसप्रकार भी कह सकते हैं कि सम्पूर्ण आचार का पालन वस्तुतः रहस्यात्मक जीवन (शुद्धोपयोग) की प्राप्ति के लिए ही किया जाता है, उसका अन्य कोई प्रयोजन नहीं होता। आचार साधन है और रहस्यवाद साध्य। साधन तभी साधन है जब वह साध्य की प्राप्ति कराए और साध्य भी इसीलिए साध्य है क्योंकि वह साधनों द्वारा प्राप्त किया जाता है।

निष्कर्ष यह हुआ कि जैनाचार और रहस्यवाद का पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है, इनको एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता न तो समझने के स्तर पर ही और न पालने के स्तर पर ही।

भाग-3

जैन आचार का अन्य आचार के साथ तुलनात्मक अध्ययन करना भी एक अत्यन्त रोचक विषय है। आचार्य सिद्धसेन लिखते हैं—

“सुनिश्चितं नः परतंत्रयुक्तिषु, स्फुरन्ति याः काश्चन सूक्तसंपदः।
तवैव ताः पूर्वमहार्णवोत्थिताः, जगत्प्रमाणं जिनवाक्यविप्रुषः॥”⁶

अर्थ— हे ऋषभदेव! मेरा यह दृढ़ निश्चय है कि अन्य दर्शनों में भी जो कोई

4. “साम्यं स्वास्थ्यं समाधिश्च योगश्चेतोनिरोधनम्।

शुद्धोपयोग इत्येते भवन्त्येकार्थवाचकाः।।”

—पद्मनन्दिपंचविंशतिका, एकत्वसप्तति अधिकार, 64

5. “यह निश्चित है कि जैन गूढवाद सभी को विशेष रोचक मालूम होगा।”

—परमात्मप्रकाश, अंग्रेजी प्रस्तावना का हिन्दी सार, पृष्ठ 106

6. सिद्धसेनद्वात्रिंशतिका, 1/30

उचित बातें (सूक्तसंपदा) हैं, वे आपके ही महासागर से उछलकर गई हुई हैं, अतः वास्तव में केवल आपके ही वाक्य विद्वानों के लिए प्रमाण हैं।

जैनदर्शन के उद्भट विद्वान डॉ. कमलचन्द सोगाणी की कृति ‘जैनधर्म में आचारशास्त्रीय सिद्धान्त’ का यह तीसरा खण्ड मुख्य रूप से जैन एवं जैनेतर आचारशास्त्र के तुलनात्मक अध्ययन हेतु ही समर्पित है। इसमें जैन आचारशास्त्र का उपनिषद्, गीता, बौद्ध एवं पाश्चात्य दर्शनों के आचारशास्त्र के साथ साम्य-वैषम्य देखने का शोधपूर्ण प्रयास किया गया है। आश्चर्य होता है कि उन सबके बीच भारी समानता दृष्टिगोचर होती है। विशेष रूप से उपनिषदों का प्रतिपादन तो जैनाचारशास्त्र से लगभग पूरा का पूरा ही मिलता-जुलता प्रतीत होता है। इससे सभी के मूल स्रोत का एकत्व सिद्ध होता है।

‘जैनधर्म में आचारशास्त्रीय सिद्धान्त’ के इस तृतीय खण्ड में जैनाचार को वर्तमान समस्याओं के सन्दर्भ में भी देखने की रोचक एवं प्रासंगिक चेष्टा की गई है। वास्तव में ही जैनाचार के अन्तर्गत राष्ट्र की ही नहीं, अपितु समूचे विश्व की सर्व समस्याओं के सशक्त समाधान छुपे हुये हैं। भारत के पूर्व राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह तो यहाँ तक कहते थे कि यदि सभी लोग जैनाचार का पालन करें तो एक पुलिस-चौकी की भी आवश्यकता न पड़े।

इस प्रकार इस कृति का यह तीसरा खण्ड भी पूर्ववर्ती दो खण्डों की भाँति बड़ा ही उपयोगी बन गया है। प्रतिपादन-शैली इसकी भी ऐसी ही है कि पाठक अन्त तक इससे बँधा रहता है।

इस प्रकार यह कृति पूर्ण होती है। कृति की अनुवादिका श्रीमती शकुन्तला जैन तथा प्रकाशक, जैनविद्या संस्थान, दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी कोटिशः धन्यवादार्ह हैं कि उन्होंने जैन आचारशास्त्र को समझने के लिए अत्यन्त उपयोगी इस कृति को हिन्दी पाठकों को उपलब्ध कराया। ❖❖

“हत्तं ज्ञानं क्रियाहीनं, हता चाज्ञानिनां क्रिया।
धावन् किलान्धको दग्धः पश्यन्नपि च पंगुलः ॥”

—आचार्य अकलंक, तत्त्वार्थवार्तिक, 1/1

क्रिया (आचार) से हीन ज्ञान व्यर्थ है और ज्ञान से हीन क्रिया व्यर्थ है। अन्धा व्यक्ति दौड़ते हुए भी जलते हुए जंगल से बाहर नहीं निकल पाता और आँखों वाला व्यक्ति भी यदि पंगु है तो वह भी नहीं निकल सकता। यदि दोनों व्यक्ति मिल जाएँ तो पारस्परिक सहयोग से वे दोनों दावानल से बचकर नगर में पहुँच सकते हैं। इसी प्रकार ज्ञान और क्रिया दोनों अलग-अलग हों तो निरर्थक हैं और यदि दोनों मिल जाएँ तो वह जीव संसार दुःख से छूटकर मोक्ष में पहुँच जाता है।

क्रोध से बचने के अनेक उपाय

क्रोध एक अत्यन्त हानिकारक मनोविकार है। उससे हमें येन-केन प्रकारेण अवश्य बचना चाहिए। अन्यथा हमारा धार्मिक या आध्यात्मिक जीवन तो दूर, लौकिक जीवन भी ठीक से नहीं चल पायेगा।

जैनाचार्यों के अनुसार क्रोध को जीतने का सच्चा उपाय यद्यपि एक आत्मानुभूति ही है, तथापि उन्होंने प्राथमिक दशा में क्रोध से बचने के अनेक उपाय निम्नानुसार भी बताये हैं, जिन्हें हम ज्ञानार्णव (18/51-84), भगवती आराधना (1420-26), सुभाषित-रत्नसन्दोह, परमात्मप्रकाश-टीका, रत्नकरण्डश्रावकाचार-भाषावचनिका आदि अनेक ग्रन्थों के आधार से यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।

उदाहरणार्थ किसी ने हमको बहुत दुर्वचन कहे, गाली दी, हमको ‘गधा’ ही कह दिया तो हमें इस-इस प्रकार से विचार करके शान्ति धारण करना चाहिए, क्रोध नहीं करना चाहिए—

- (i) यदि सामने वाले ने मुझे ‘गधा’ कहा है तो सर्वप्रथम मुझे स्वयं को देखना चाहिए, आत्मनिरीक्षण करना चाहिए, हो सकता है मुझसे कोई गलती हुई हो, मुझे अपनी गलती सुधारनी चाहिए। गलती बताने वाले पर क्रोध करना उचित नहीं।
- (ii) मेरे हाथ-पैर गधे जैसे नहीं हैं, मनुष्य जैसे हैं, मैं गधा नहीं हूँ, उसके कहने से भी मैं गधा बना नहीं हूँ, उसी की वाणी झूठी हुई है, वही झूठा हुआ है, मेरा तो इससे कुछ भी नहीं बिगड़ा।
- (iii) चलो, कोई बात नहीं, उसे थोड़ी देर के लिए खुशी मिल गई और वह भी मेरे निमित्त से—यह तो अच्छा ही हुआ। लोग तो दूसरों को प्रसन्न करने के लिए पता नहीं क्या-क्या करते हैं, भोजन कराते हैं, वस्त्रादि प्रदान करते हैं, बहुत धन खर्च करते हैं, मेरा तो कुछ भी खर्च नहीं हुआ और उसे मेरे निमित्त से खुशी मिल गई। कहा भी है—

“सततसुलभदैव्ये निःसुखे जीवलोके, यदि मम परिवादात् प्रीतिमाप्नोति कश्चित्।
परिवदतु यथेष्टं मत्समक्षं तिरो वा, जगति हि बहुदुःखे दुर्लभः प्रीतियोगः॥”

- (iv) चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करते हुए मैं पूर्वजन्मों में अनेक बार गधा हुआ हूँ। इसने मुझे गधा कहा है सो भूत नैगम नय से सत्य ही है। उसमें गलत क्या कहा? जैसे सेवानिवृत्त तहसीलदार या पटवारी या जज को लोग बाद में भी तहसीलदार, पटवारी या जज कह देते हैं, पर कोई बुरा नहीं मानता। यह तो संसार में चलता ही है।
- (v) ‘गधा’ शब्द का अर्थ गधा ही नहीं होता, लक्षणाशक्ति से ‘गधा’ शब्द का अर्थ ‘अज्ञानी’ होता है और केवलज्ञान होने से पूर्व तक सभी जीव अज्ञानी होते हैं। मैं तो महा अज्ञानी हूँ। इसने मुझे अज्ञानी रूप में गधा कहा तो इसमें उसकी गलती क्या है?
- (vi) गधा कोई बुरा नहीं होता है। वह भी एक जीव है, जो स्वभाव से हमारे ही समान है। ऊपरी पर्याय मात्र को क्या देखना? पर्यायदृष्टि तो संसार का कारण है।
- (vii) गधे में अनेक गुण हैं। वह अविराम भार-वहन करता है, शीतोष्ण से नहीं घबराता, सदा सन्तोष धारण करता है। यथा—

“अविश्रामं वहेत् भारं, शीतोष्णं च न विन्दति।

ससन्तोषस्तथानित्यं, त्रीणि शिक्षेत् गर्दभात्॥” —चाणक्यनीति, 68

- (viii) यह मुझे दुर्वचन कह रहा है तो क्या हुआ? यह तो इसका स्वभाव ही है। मैं क्यों क्रोध करूँ? यदि कुत्ता काटे तो क्या बदले में हम भी उसे काटते हैं?
- (ix) लोग ‘गधा’ कहेंगे तो क्या मैं क्रोध करके सचमुच ही ‘गधा’ बनना शुरू कर दूँ?
- (x) बड़े-बड़े महापुरुषों को भी दुर्जन लोग इससे अधिक बुरे वचन कहते हैं, पर वे शान्त रहते हैं, क्रोध नहीं करते। मुझे ऐसा कहा तो क्या हुआ?
- (xi) शब्द तो ब्रह्म है। यह उनका दुरुपयोग कर रहा है। क्या करे, यह नासमझ है। अग्नि, जल पाषाण आदि तो सदुपयोग के लिए हैं, कोई उनका दुरुपयोग करे तो क्या किया जा सकता है?
- (xii) मैंने शास्त्रों में पढ़कर सीखा है कि क्रोध हानिकारक है, कदापि नहीं करना चाहिए— ‘गाली सुनि मन खेद न आनो’; आज मुझे उसे आचरण में उतारने का अवसर मिला है, यह मुझे निःशुल्क प्रयोगशाला प्राप्त हुई है। यह मेरे ज्ञान की परीक्षा की घड़ी है।
- (xiii) जीवों को पूर्वकर्म के उदय से सब फल प्राप्त होते हैं। मैंने भी पूर्व में किसी को दुर्वचन कहे होंगे। आज उसी का उदय आया है। मुझे शान्ति रखनी चाहिए।

- (xiv) रोज चार रोटी पचाता हूँ, क्या इसके ये दो अक्षर (गधा) भी नहीं पचा पाऊँगा। कुछ नहीं चलो, कुछ नहीं हुआ।
- (xv) अरे, इसने मुझे दो अक्षर ही तो कहे हैं, बहुत अधिक तो कुछ नहीं कहा। कहनेवाले तो जाने कितना-कितना गन्दा कह देते हैं और वह भी भरी सभा में।
- (xvi) इसके कुछ भी कह देने से क्या होता है, यह उतना ही तो कहेगा जितनी इसकी बुद्धि होगी—
‘जाकी जितनी बुद्धि हो, उतनी देय बताय।
वाको बुरो न मानिए, और कहाँ से ल्याय।।’
- (xvii) इसने मेरे लिए अपने मुँह से कुछ कहा ही तो है, मेरा कुछ छीना तो नहीं। मेरे शरीर को तो कोई बाधा नहीं पहुँचाई।
- (xviii) शरीर को भी बाधा पहुँचाए तो भी क्षमा करना चाहिए कि मात्र इतनी-सी बाधा पहुँचाई है, प्राण-विनाश तो नहीं किया।
- (xix) प्राण-विनाश करे तो भी क्षमा करना चाहिए कि मात्र इस शरीर का प्राण-विनाश कर रहा है, मेरे आत्मिक गुणों (धर्म) का विनाश तो नहीं करता।

इस प्रकार शान्त मन से चिन्तन करने से गाली सुनकर भी क्रोध से बचा जा सकता है। इसीप्रकार क्रोध के अन्य निमित्त मिलने पर भी क्रोध से बचा जा सकता है; सहज शान्त और संतुलित रहा जा सकता है।



क्रोध पर ही क्रोध करो

अपकुर्वति कोपश्चेत्, किं न कोपाय कुप्यसि।
त्रिवर्गस्यापवर्गस्य, जीवितस्य च नाशिने॥

—आचार्य वादीभसिंह, क्षत्रचूडामणि, 2/42

अर्थ— हे भाई! यदि तुम बुरा करने वाले पर ही क्रोध करना चाहते हो तो इस क्रोध पर ही क्रोध क्यों नहीं करते हो? क्योंकि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप तुम्हारे सम्पूर्ण जीवन का विनाश करनेवाला यह क्रोध ही तो है। इससे अधिक बुरा करनेवाला अन्य कोई नहीं है।

क्षमाशस्त्रं करे यस्य, दुर्जनः किं करिष्यति?
अतृणे पतितो वह्निः, स्वयमेवोपशाम्यति॥

अर्थ— जिसके हाथ में क्षमारूपी शस्त्र है, उसका दुर्जन क्या कर पाएगा? तृणहीन स्थान पर गिरी हुई अग्नि स्वयमेव उपशांत हो जाती है।

सामायिक की चार भावनाएँ

सामायिक के सन्दर्भ में इन चार भावनाओं की चर्चा बहुत होती है— मैत्री, प्रमोद, करुणा और मध्यस्थ। लगभग सभी सामायिक पाठों में भी इनकी चर्चा आई है। सामायिक की इन चार भावनाओं में वास्तव में ही बहुत गहरा अर्थ छुपा हुआ है। आज हम उसी का कुछ विचार करना चाहते हैं।

सामायिक की इन चार भावनाओं के सम्बन्ध में निम्नलिखित श्लोक अत्यधिक प्रसिद्ध है—

सत्त्वेषु मैत्री गुणेषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।
माध्यस्थ्यभावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव ! ॥

यह आचार्य अमितगति द्वारा रचित ‘भावनाद्वात्रिंशतिका’ का प्रथम श्लोक है जिसे ‘भावना-बत्तीसी’ या ‘सामायिक पाठ’ के नाम से भी जाना जाता है। इसके अनेक हिन्दी-अनुवाद भी लोकप्रिय हैं। प्रथम श्लोक का एक हिन्दी-अनुवाद इस प्रकार है—

“प्रेम भाव हो सब जीवों से, गुणी जनों में हर्ष प्रभो!
करुणास्रोत बहे दुखियों पर, दुर्जन में मध्यस्थ विभो!”

अथवा—

“हे देव! मेरी आत्मा धारण करे इस नेम को ।
मैत्री करे सब प्राणियों से गुणिजनों से प्रेम को ॥
उन पर दया करती रहे जो दुःखग्राह गृहीत हैं ।
उनसे उदासी-सी रहे जो धर्म से विपरीत हैं ॥”

ध्यान से देखा जाए तो ‘भावना-बत्तीसी’ के उक्त श्लोक में एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण विषय समझाया गया है, जो एक तरह से पूरे नीतिशास्त्र का सार भी है। लगभग सारा नीतिशास्त्र इसी का विस्तार है। इसमें हमारे नित्यप्रति काम में आने वाला एक ऐसा व्यावहारिक मार्गदर्शन भी है जिसे अपनाकर हम अपना एवं अपने समाज का जीवन अच्छा बना सकते हैं।

दुनिया में अनेक प्रकार के लोग हैं। हम उन सभी के प्रति एक-सा व्यवहार नहीं

कर सकते। तो फिर किसके प्रति कैसा व्यवहार करें, यहाँ इसी की उत्तम भावना भाई जा रही है। यथा—

1. सामान्यतः सभी जीवों के प्रति — मैत्री भावना होनी चाहिए।
2. गुणी जनों के प्रति — प्रमोद भावना होनी चाहिए।
3. दुःखी जनों के प्रति — करुणा भावना होनी चाहिए।
4. दुर्जनों के प्रति — मध्यस्थ भावना होनी चाहिए।

इन चार प्रकार की भावनाओं का वर्णन ‘भावना-बत्तीसी’ के अतिरिक्त अन्य भी अनेकानेक ग्रन्थों में मिलता है। आचार्य उमास्वामी ने ‘तत्त्वार्थसूत्र’ (7/11) में भी कहा है—

‘‘मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि सत्त्वगुणाधिकविलश्यमानाविनेयेषु।’’

अतः इन पर हमें बड़ी गम्भीरतापूर्वक चिन्तन करना चाहिए और फिर इसी के अनुरूप व्यवहार भी करना चाहिए। इससे सबका मंगल होता है।

1. मैत्री भावना— अर्थात् हे देव! मैं तीन लोक के सभी जीवों को अपना मित्र समझूँ, चार गति चौरासी लाख योनियों के समस्त जीवों को भी अपना मित्र समझूँ, पशु-पक्षी और पेड़-पौधे तक को भी अपना मित्र समझूँ। इसीप्रकार अरिहंत, सिद्ध आदि को भी अपना मित्र समझूँ।

मित्र समझने का अर्थ है कि सबको समान समझूँ, उनमें छोटे-बड़े का भेदभाव नहीं करूँ, क्योंकि मित्रता समानता के भाव में ही होती है, छोटे-बड़े के भाव में नहीं—
‘समानशीलेषु सख्यम्।’

सभी जीव वस्तुतः स्वभाव से एक समान ही हैं, कोई छोटा-बड़ा नहीं है। हम अज्ञानवश व्यर्थ ही लिंग, जाति, वर्ण, क्षेत्र आदि बाह्य कारणों के आधार पर उन्हें छोटा या बड़ा मानकर बड़ी भारी गलती करते हैं; क्योंकि जब हम किसी को छोटा मानते हैं तो हमारे अन्दर अभिमानादि उत्पन्न होते हैं और हम उन्हें शोषित करते हैं, जिससे हमारा मानसिक-सामाजिक-आध्यात्मिक सभी प्रकार का पतन होता है। तथा जब हम किसी को बड़ा मानते हैं तो हमारे अंदर दीनता, लोभादि के भाव उत्पन्न होते हैं और उनसे भय, याचना आदि अनेक दुर्गुण उत्पन्न होते हैं। अतः सभी जीवों को समान मानना आवश्यक है। समान मानने से वीतरागता उत्पन्न होती है।

इस प्रकार मित्रता की भावना का अभिप्राय हुआ कि छोटे-बड़े के रूप में देखने की पर्यायदृष्टि छोड़ो और सभी को द्रव्यदृष्टि से समान देखो। यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने ‘प्रवचनसार’, गाथा 93 में पर्यायदृष्टि जीव को मिथ्यादृष्टि (मूढ़) कहा है।

देखो आश्चर्य की बात कि आचार्यदेव तो हमें सब जीवों को समान/मित्र मानने

की शिक्षा दे रहे हैं और हम हैं कि भाई-भाई में, मनुष्य-मनुष्य में, जैन-जैन तक में ही छोटे-बड़े की भावना कर रहे हैं, अपने ही भाई के प्रति शत्रु-जैसा व्यवहार कर रहे हैं। यह बड़े खेद की भी बात है।

अतः हमें चाहिए कि हम किसी को भी छोटा या बड़ा न समझें, सब जीवों को समान ही समझें, कभी भी किसी की उन्नति में ईर्ष्या न रखें, किसी के भी दुःख की कामना न करें और सभी के परम कल्याण की कामना करें। यथा—

1. “सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥”
2. “भावना दिन-रात मेरी सब सुखी संसार हो।”
3. “सुखी रहें सब जीव जगत् के कोई कभी न घबरावे।”

पुनश्च, यहाँ जिसप्रकार छोटे-बड़े की भेद-भावना करने का निषेध किया गया है, उसीप्रकार अपने-पराये की भेद-भावना का निषेध भी घटित कर लेना चाहिए। क्योंकि तीन लोक में कोई भी जीव वास्तव में अपना या पराया नहीं है। सब अपने हैं, सब पराये हैं। विश्वप्रेम और वीतरागता में कोई अन्तर नहीं है। कहा भी है—

“त्यक्तव्यः सर्वत्र एव हि ममकारः।
नो चेद् कर्तव्यः सर्वत्र एव हि ममकारः॥”

सबको मित्र मान लेने पर क्रोध, मानादि भाव खत्म हो जाते हैं। मित्र से कैसा क्रोध, कैसा मान, कैसी ईर्ष्या आदि? मित्र मान लेने पर ऐसा नहीं हो सकता कि पड़ोसी की उन्नति हो और हमारा खून जले इत्यादि। इसप्रकार यह मैत्री भावना हमें घोर पापों से बचाती है और वीतरागता के मार्ग में लगाती है।

2. प्रमोद भावना— जो जीव गुणवान हैं; ज्ञान, चारित्र, तप, शील, विनय, करुणा, सत्य, संयम आदि गुणों से सम्पन्न हैं उनके प्रति हमारे हृदय में प्रमोद भावना होनी चाहिए। प्रमोद भावना होने से स्वयं के गुणी होने का मार्ग प्रशस्त होता है।

प्रायः देखा जाता है कि लोग किसी के गुणों की सराहना नहीं कर पाते, क्योंकि इसके लिए बड़ा हृदय होना आवश्यक है जो उनके पास नहीं होता। सर्वप्रथम तो इसके लिए उन्हें अपने में विद्यमान दोषों को भी छोड़ना नहीं तो कम से कम दोष के रूप में स्वीकारना तो अवश्य ही पड़ता है। यही लोग नहीं कर पाते। अपने दोषों को स्वीकारना भी तो शूरवीरता का काम है। दोष छिपाना सभी जानते हैं, परन्तु दोषों को स्वीकार करना और फिर उन्हें मिटाना कोई महावीर ही जानता है।

कितने ही लोग तो अपने दोषों को गुण के रूप में प्रस्तुत करते हैं। परन्तु ऐसे लोगों की दिल्ली अभी बहुत दूर समझना चाहिए। वे तो दोषों में ही स्थित रहने के कारण ‘दुष्ट’ कहे गये हैं। सज्जनों को उनकी संगति शीघ्र ही छोड़ देनी चाहिए।

इसीप्रकार कितने ही लोग दूसरों के गुण को 'गुण' के रूप में देखना तो दूर, अपितु दोष के रूप में ही देखते-कहते हैं। सोचिए वे कब सुधरेंगे? यथा— कितने ही लोग दूसरे के गुणों से ईर्ष्या भाव रखते हैं अथवा उनकी हँसी उड़ाते हैं, उपेक्षा करते हैं, निंदा करते हैं। विचारणीय है कि ऐसी स्थिति में वे स्वयं उन गुणों को कब कैसे धारण करेंगे? पुराण उठाकर देखें तो पता चलता है कि गुणीजनों की निन्दा करके आजतक इस जीव ने घोर पाप किया है और अपने आपको चिरकाल के लिए गुणप्राप्ति के मार्ग से कोसों दूर कर लिया है।

कितने ही लोग तो सभा में, शास्त्रसभा में गुणीजनों (साधु तक) की निन्दा करते हैं। वह घोर पाप का कारण है। कितने ही लोग तो गुणी जनों को नाना प्रकार से तिरस्कृत और पीड़ित करते हैं, उन पर मिथ्या दोषारोपण करते हैं, उनको शारीरिक-मानसिक कष्ट देते हैं, यहाँ तक कि उनकी मृत्यु तक का उपाय रचते हैं। यह भी महापाप का कार्य है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वयं गुणी बनने के लिए दूसरे गुणीजनों के प्रति प्रमोदभाव आना आवश्यक है। जबतक अपने दोषों के प्रति खेद और दूसरे के गुणों के प्रति प्रमोद की भावना हृदय में जागृत नहीं होती तब तक व्यक्ति दोषों का त्याग और गुणों का ग्रहण नहीं कर सकेगा।

3. करुणा भावना— जो जीव दुःखी हैं; शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक, आर्थिक आदि किसी भी प्रकार के दुःखों से परेशान हैं, उनके प्रति हमारे हृदय में करुणा की भावना होनी चाहिए। देखा जाता है कि कितने ही लोग दुःखी जनों की हँसी उड़ाते हैं अथवा उन्हें और अधिक दुःखी करते हैं। परन्तु ऐसा करना अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी मारना है, घोर पापबन्ध का कारण रचना है। कभी भूलकर भी हमें ऐसा नहीं करना चाहिए। विकलांग आदि दुःखी जीवों की हँसी उड़ाने से हमें स्वयं भी आगामी जन्म में वैसा ही दुःख उठाना पड़ता है। अतः जैनधर्म समस्त दुःखी, दलितों, शोषितों के प्रति करुणा रखना सिखाता है।

इसीप्रकार कुछ लोग दुःखी जनों को देखकर ऐसा विचार करते हैं कि होंगे दुःखी, मैं क्या करूँ, मैंने कोई ठेका ले रखा है, इसमें मेरी क्या गलती है, सब अपने कर्मों से दुःखी हैं, भोगें अपने कर्मों की सजा; परन्तु ऐसा सोचना ठीक नहीं है, इससे परिणाम कठोर एवं लोकनिन्द्य बनते हैं।

कुछ लोग तो ऐसे होते हैं जो स्वयं तो दुःखियों की सहायता करते ही नहीं, यदि कोई दूसरा करे तो उसे भी रोकते हैं, रोकना चाहते हैं। यह अन्तराय कर्म के आस्रव-बन्ध का कारण है।

4. माध्यस्थ्य भावना— संसार में कुछ लोग अत्यन्त दुष्ट स्वभाव के होते हैं। हमें उनके प्रति रागपूर्ण या द्वेषपूर्ण कैसा भी व्यवहार — सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए,

उनसे कटु या मधुर कैसा भी सम्भाषण नहीं करना चाहिए, क्योंकि दोनों ही स्थितियाँ घातक हैं। कटु सम्भाषण किया तो वे हमारा सिर फोड़ देंगे और यदि मधुर सम्भाषण किया तो हमारे सिर पर पैर रखने लगेंगे, अतः दुर्जनों से दूर रहना ही श्रेयस्कर है। उनके प्रति न अच्छा व्यवहार करो, न ही बुरा।

देखा गया है कि कुछ लोग तो दुर्जनों (दुष्टों/कृपात्रों) को सुधारने के चक्कर में अपना जीवन बरबाद कर लेते हैं और कुछ उनका बुरा करने, उनको नष्ट/समाप्त करने के चक्कर में अपना घोर अहित कर लेते हैं, जबकि ये दोनों ही कार्य अनुचित एवं असंभव हैं। न तो दुर्जनों को सुधारा ही जा सकता है और न ही उन्हें दुनिया से नष्ट/समाप्त किया जा सकता है। अतः यहाँ उनके प्रति मध्यस्थ भाव रखने की भावना भाई जा रही है। जो लोग दुर्जनों को सुधारने के लिए उन्हें हित-शिक्षा देने लग जाते हैं, वे नहीं जानते कि यह उन्हें बहुत महँगा सिद्ध होता है, क्योंकि उस उपदेश से वे सुधरते नहीं, उल्टा उन्हें क्रोध ही उत्पन्न होता है। यथा—

“उपदेशो हि मूर्खाणां, प्रकोपाय न शान्तये।
पयःपानं भुजंगानां, केवलं विषवर्धनम्॥”

अतः सदा यही ध्यान रखना चाहिए कि—

“सीख दीजिए ताहि को, जाको सीख सुहाय।
सीख न दीजे वानरा, घर बया को जाय॥”

दुर्जन को शिक्षा देने की गलती करके अनेक सज्जन लोग भी बहुत कष्ट उठा चुके हैं, अतः यहाँ दुर्जनों से दूर रहने की अर्थात् उनके प्रति मध्यस्थ भावना रखने की कामना की गई है।

यहाँ इतना विशेष है कि ज्ञानीजन दुर्जन के प्रति मध्यस्थभाव रखते हुए भी, उसे कोई हित-शिक्षा न देते हुए भी, उसके प्रति कोई द्वेषभाव नहीं रखते, वह उनका बुरा करे तब भी, अपितु उसका भी शीघ्र कल्याण हो—ऐसी अंतरंग में शुभ भावना ही रखते हैं।

ध्यान देने की बात है कि यहाँ दुर्जन को भी ‘दुर्जन’ संज्ञा हमने दी है, आचार्यदेव ने तो मूल श्लोक में मात्र ‘विपरीतवृत्ति’ जैसा उचित शब्द ही प्रयोग किया है—
‘माध्यस्थ्यभावं विपरीतवृत्तौ’।

प्रश्न— उक्त चार प्रकार के जीवों के प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिए— यह तो समझ में आया, परन्तु यह नहीं बताया कि जो हमारे शत्रु हैं उनके प्रति हमें कैसा व्यवहार करना चाहिए।

उत्तर— संसार में कोई भी जीव वास्तव में शत्रु नहीं होता। ज्ञानी जन उसे जब द्रव्यदृष्टि से देखते हैं तो उसके प्रति भी प्रेम/मैत्री का भाव उत्पन्न होता है और जब

पर्यायदृष्टि से देखते हैं तो 'विपरीतवृत्ति' होने के कारण मध्यस्थता का भाव उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त उसके गुणों या दुःखों को देखकर उनके मन में प्रमोद या करुणा का भाव भी उत्पन्न होता है। ज्ञानी जन किसी को भी अपना शाश्वत शत्रु नहीं मानते।

प्रश्न— परिवार के लोगों के प्रति कैसी भावना होनी चाहिए?

उत्तर— वे भी उक्त चार प्रकारों में ही समाहित हो जाते हैं, उनसे अलग नहीं होते; अतः जो जैसा हो उसके प्रति वैसा ही व्यवहार रखना चाहिए। हाँ, इतना तो होता है कि वे जैसे भी हैं, अपने परिवार के हैं— इस कारण उन्हें सन्मार्ग पर लगाने का भाव ज्ञानियों को भी आता है, वे युक्ति एवं स्नेह के आलंबन से ऐसा करने का प्रयास भी बहुत अधिक करते हैं; परन्तु बात न बने तो अधिक खेदखिन्न नहीं होते और उक्त चार प्रकार की भावना भाते हुए शान्ति धारण करते हैं।

उक्त चार प्रकार की भावनाओं के सम्बन्ध में यहाँ एक विशेष बात मुझे ऐसी भी प्रतीत होती है कि उन्हें हमें दो वर्गों में बाँटकर समझना चाहिए— 1. मैत्री भावना, 2. प्रमोद, करुणा, मध्यस्थ भावना।

कहने का तात्पर्य यह है कि वैसे तो एक मैत्री भावना में ही सारी बात आ गई, परन्तु यदि हम वह न कर सकें, सबको सदा समान न समझ सकें तो दूसरे वर्ग के अनुसार ही भेदभावना करो, परन्तु अन्य कोई क्षुद्रतापूर्ण भावना कदापि न करो।



समस्याओं के समाधान का सूत्र- अल्पारम्भः क्षेमकरः

विडम्बना देखिए कि एक ओर तो पशुओं को यह कहकर काटा जा रहा है कि उनके लिए चारा नहीं है और दूसरी ओर इतनी सारी पराली जलाई जा रही है कि लाखों पशुओं का पेट भर जाए। पराली जलाने से करोड़ों लोग प्रदूषण के शिकार बनकर मृत्यु के मुख में जा रहे हैं, जमीन बंजर बन रही है, उत्पादन अल्प और विकृत हो रहा है, इत्यादि अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं सो अलग हैं। क्या कहा जाए, आज का आदमी समस्याओं को सुलझाने की बजाय बुरी तरह उलझा रहा है। इसे कहते हैं अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारना। अरे, पशु तो मनुष्यों के परम मित्र होते हैं। उनका अपना कोई बड़ा खर्च नहीं होता, अपितु बदले में वे दूध, गोबर आदि देकर हमारा महान उपकार करते हैं। उनके कारण ही पहले के लोग हृष्ट-पुष्ट रहते थे। उनके अभाव में आज घरों में मानसिक रोग भी बहुत फैल गये हैं। आज हमने पशुओं के स्थान पर ट्रेक्टर आदि लगाये हैं। विचारणीय है कि क्या ये सस्ते पड़ रहे हैं? कदापि नहीं। तथा डीजल आदि के कारण भी ये बहुत अधिक हानिकारक ही सिद्ध हो रहे हैं। अतः जब तक हम 'अल्पारम्भः क्षेमकरः' के सिद्धांत को स्वीकार नहीं करेंगे तब तक समाधान का सूत्र नहीं मिलेगा, हम सुलझने की बजाय उलटे उलझते ही जाएँगे।

सामायिक का स्वरूप : आचार्य समन्तभद्र की दृष्टि में

जैन धर्म में सामायिक का बड़ा महत्त्व बताया गया है, इसलिए लोग सामायिक-सामायिक तो बहुत बोलते रहते हैं, सामायिक करना भी चाहते हैं, करते भी हैं, परन्तु सामायिक का सही स्वरूप नहीं समझते हैं, इसलिए उन्हें उसका उचित लाभ नहीं मिल पाता, अतः यहां संक्षेप में सामायिक का स्वरूप लिखने का प्रयास करते हैं।

सामायिक का स्वरूप अनेक जैन ग्रंथों में बहिरंग-अन्तरंग दोनों दृष्टियों से मिलता है, किन्तु मुझे लगता है कि आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने ‘रत्नकरंडश्रावकाचार’ में श्लोक संख्या 97 से 105 तक में जो बताया है, वह अत्यंत सारगर्भित है, उसका एक-एक शब्द बड़ा ही महत्त्वपूर्ण और प्रामाणिक है, अतः हम यहाँ उसी के आधार पर बिन्दुवार ढंग से संक्षेप में सामायिक के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं। आशा है सुधी पाठक इन सभी बिन्दुओं पर गंभीरतापूर्वक चिन्तन करेंगे।

आचार्य समन्तभद्र के अनुसार सामायिक के संबंध में निम्नलिखित बिंदु ज्ञातव्य हैं—

1. सामायिक का शुद्ध नाम ‘सामयिक’ है, ‘सामायिक’ नहीं, क्योंकि यह ‘समय’ शब्द से बना है। **(सामयिक)** यद्यपि अन्य आचार्यों ने ‘सामायिक’ शब्द को भी ‘सम+आय+इक’ के रूप में बना कर शुद्ध माना है। सम अर्थात् समता भाव। शत्रु-मित्र, सुख-दुःख, निंदा-प्रशंसा, जीवन-मरण आदि में समता भाव रखना ही सामायिक है।
2. ‘सामायिक’ में ‘समय’ शब्द के दोनों अर्थ ग्राह्य हैं— आत्मा और काल। आत्मा में निश्चित समय तक एकाग्र होने का नाम ही सामायिक है। **(आसमयमुक्तिमुक्त)**
3. सामायिक के दौरान हिंसादि पाँचों पापों का पूर्णतया त्याग होना चाहिए। **(पंचाघानामशेषभावेन)**
4. सामायिक में समय की मर्यादा केशबंधन, मुष्टिबंधन, वस्त्रबंधन या पर्यकासनबंधन के द्वारा भी निश्चित की जा सकती है। **(मूर्धरुहमुष्टिवासो पर्यकबन्धनं चापि)**
5. सामायिक खड्गासन या पद्मासन में की जाती है। **(स्थानमुपवेशनं वा)**

6. सामायिक एकांत स्थान में अथवा विघ्न-रहित वन, भवन या चैत्यालय में करनी चाहिए। (एकांते सामयिकं निर्व्याक्षेपे वनेषु वास्तुषु च)
7. सामायिक अत्यंत प्रसन्न मन से करनी चाहिए। (प्रसन्नधिया) कुछ लोग बहुत दुखी-से होकर सामायिक करते हैं— यह बात गलत सिद्ध हुई।
8. सामायिक के समय कायव्यापार, मनोव्यापार और अंतर्जल्पव्यापार से भी निवृत्ति होनी चाहिए। (व्यापारवैमनस्याद् विनिवृत्यामन्तरात्मविनिवृत्या)
9. उपवास या एकासन के द्वारा भी सामायिक को बढ़ाते रहना चाहिए। (सामयिकं बध्नीयादुपवासे चैकभुक्ते)
10. सामायिक प्रतिदिन आलस्य छोड़कर सावधानी से करनी चाहिए। (सामयिकं प्रतिदिवसं यथावदप्यनलसेन चेतव्यं)
11. सामायिक पाँच व्रतों की पूर्णता का कारण है। (व्रतपंचकपरिपूरणकारणम्)
12. सामायिक के समय गृहस्थ के भी समस्त आरम्भ-परिग्रह छूट जाते हैं, अतः उस समय वह वस्त्र से ढके हुए मुनि के समान यति-भाव को प्राप्त हो जाता है। (सामयिके सारम्भा परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि। चेलोपसृष्टमुनिरिव गृही तदा याति यतिभावम् ॥)
13. सामायिक के समय शीत, उष्ण, दंशमशक आदि परिषहों और उपसर्गों को भी शान्तिपूर्वक सहन करना चाहिए। (शीतोष्णदंशमशकपरिषहमुपसर्गमपि च अधिकुर्वीरन्)
14. सामायिक के समय अचल और मौन रहना आवश्यक है। (मौनधराः अचलयोगाः)
15. सामायिक के समय ऐसा चिन्तन करना चाहिए कि यह संसार अनित्य, अशरण, दुःखरूप आदि है और मोक्ष इससे विपरीत है, मुझे इस दुःखमय संसार से मुक्त होना है। (अशरणमशुभमनित्यं दुःखमनात्मानमावसामि भवं, मोक्षस्तद्वि-परीतात्मेति ध्यायन्तु सामयिके)
16. मन, वचन, काय की दुष्प्रवृत्ति हो जाना, सामायिक में उत्साह कम हो जाना और सामायिक के पाठ को भूल जाना— ये सामायिक के पाँच अतिचार हैं। (वाक्कायमानसानां दुष्प्रणिधानान्यनादरास्मरणे, सामयिकस्यातिगमा व्यज्यन्ते पञ्च भावेन)

इसके अतिरिक्त आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने प्रतिमाओं के प्रकरण में भी एक श्लोक (क्रम संख्या 139) सामायिक के विषय में लिखा है, जो इसप्रकार है—

“चतुरावर्तत्रितयश्चतुप्रणामः स्थितो यथाजातः।
सामयिको द्विनिषद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसंध्यमभिवंदी ॥”

इससे भी तीन बातें ज्ञात होती हैं। एक— सामायिक तीनों संध्याओं में की जाती है। दो— सामायिक के समय पूर्ण नग्न होने का भी एक विधान है, जैसा कि सेठ सुदर्शन, राजकुमार वारिषेण आदि का श्मशान में नग्न होकर ध्यान-सामायिक करने का वर्णन शास्त्रों में मिलता है। तीन— सामायिक का एक सुनिश्चित क्रिया-विधान भी है, जिसमें चारों दिशाओं में तीन-तीन आवर्त के साथ चार प्रणाम आदि किये जाते हैं।

अंत में, सामायिक पर लेख लिखना सरल है, भाषण देना भी सरल है, पर सामायिक करना बहुत कठिन है, अतः हम सब सामायिक का समीचीन स्वरूप समझ कर अपने जीवन में सामायिक का गहरा अभ्यास करें—यही मेरी मंगल भावना है। धर्म की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और पूर्णता—सबका कारण एक सामायिक ही है, अतः सामायिक ही परम धर्म है। अनादि काल से हो रहे आर्त-रौद्र ध्यानों का त्याग होना ही सच्चा सामायिक है— ‘आर्तरौद्रपरित्यागः तद्धि सामायिकं मतं’ (वरांगचरित्र 15/278)। गृहस्थी के सम्पूर्ण विष को उतारने वाला गारुड़ी मन्त्र है सामायिक। जिस प्रकार संजीवनी बूटी सूँघ लेने से नेवले को सर्प का विष नहीं चढ़ता या चढ़ा हो तो भी उतर जाता है, उसी प्रकार सामायिक करने वाले श्रावक को कभी संसार का विष मोहित नहीं करता, यदि थोड़ा कभी चढ़े तो वह भी शीघ्र उतर जाता है।

कतिपय प्रश्नोत्तर-

प्रश्न 1.— क्या सामायिक खड्गासन या पद्मासन में ही हो सकती है?

उत्तर— उपर्युक्त श्लोकों में आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने तो ऐसा ही कहा है, परन्तु आचार्य जिनसेन स्वामी ने महापुराण (21/75) में कहा है कि बैठकर, खड़े होकर, लेटकर या अन्य अवस्था में भी ध्यान किया जा सकता है। यथा— ‘स्थित्वासित्वाधिशय्य वा’।

तथा आचार्य जिनसेन स्वामी ने महापुराण (21/76) में ही ऐसा भी कहा है कि देश, काल, आसन आदि के जो नियम कहे हैं वह प्रायोवृत्ति से कहे हैं, कृतात्माओं के लिए तो सभी देश, काल, आसन आदि ध्यान के साधन हैं।

साधक सावधानी से विचार करें। अपनी स्थिति पहिचानें। छल ग्रहण न करें। सामायिक अवश्य करें।

प्रश्न 2.— हमसे तो घुटनों में दर्द के कारण पद्मासन और खड्गासन—दोनों ही नहीं हो सकते हैं, अतः क्या हम कुर्सी पर बैठकर सामायिक कर सकते हैं?

उत्तर— उपर्युक्त शास्त्र-कथन के आलोक में कहा जा सकता है कि कुर्सी पर बैठकर भी सामायिक की जा सकती है। इसी प्रकार सुखासन आदि में भी सामायिक की जा सकती है। जब पद्मासन, खड्गासन में बैठा ही नहीं जा सकता तो ऐसी

स्थिति में किया ही क्या जा सकता है? उत्तम नहीं तो मध्यम हो जाएगी, होगी तो सही।

प्रश्न 3.— क्या मिथ्यादृष्टि जीव के सामायिक हो सकती है?

उत्तर— नहीं, सामायिक मिथ्यादृष्टि जीव के नहीं होती, सम्यग्दृष्टि श्रावक के ही होती है, अतः सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए— यही यहाँ ‘रत्नकरंड-श्रावकाचार’ में भी पूर्व में कहा था।

किन्तु ध्यान रहे यहाँ चरणानुयोग का प्रकरण है, अतः यहाँ ‘सम्यग्दृष्टि श्रावक’ का अर्थ चरणानुयोग के अनुसार ही लगाना चाहिए। जो व्यक्ति सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का दृढ श्रद्धालु है, कुदेव-कुगुरु-कुधर्म का त्यागी है, निःशंकित आदि अंगों का धारक है, वही सम्यग्दृष्टि श्रावक है और सामायिक का अधिकारी है। अतः हम सभी श्रावकों को प्रतिदिन सामायिक करना चाहिए। करणानुयोग, द्रव्यानुयोग का सम्यग्दर्शन तो सूक्ष्म है, छद्मस्थगोचर नहीं है।

तथा उसके लिए भी तो ध्यान-सामायिक ही करणीय है। सामायिक वास्तव में दोनों दशाओं में उपादेय है। सम्यग्दर्शन नहीं हुआ हो तो उसे प्रगट करने के लिए और यदि सम्यग्दर्शन हो गया हो तो उसकी स्थिति-वृद्धि के लिए।

प्रश्न 4.— सामायिक में किसका चिन्तन करना चाहिए— आत्मा का या परमात्मा का? या किसी मन्त्र का या बारह भावना आदि का?

उत्तर— सामायिक में तो वास्तव में अपनी आत्मा का ही चिन्तन करना चाहिए, क्योंकि ‘समय’ अर्थात् आत्मा में एकाग्र होने का नाम ही सामायिक है, किन्तु जो जीव सीधे आत्मा का चिन्तन नहीं कर सकते उन्हें परमात्मा के ध्यान का उपदेश दिया है। तथा जो जीव सीधे परमात्मा का भी ध्यान नहीं कर पाते उन्हें उनकी प्रतिमा आदि के ध्यान का उपदेश दिया है। इसी प्रकार तीर्थ, मन्त्र, जिनवचन, बारह भावना आदि के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए। ये सब आलम्बन हैं, इनमें से किसी के भी द्वारा अपनी आत्मा के चिन्तन, ध्यान तक पहुँचना ही सच्ची सामायिक है। (‘केनाप्युपायेन फलं हि साध्यं’—विषापहारस्तोत्र, 32)

प्रश्न 5.— सामायिक व्रत और सामायिक प्रतिमा में क्या अंतर है?

उत्तर— कोई विशेष अंतर नहीं है। जब व्रतों के माध्यम से श्रावकाचार समझाया जाता है तो इसे सामायिक व्रत कहते हैं और जब प्रतिमाओं के माध्यम से श्रावकाचार समझाया जाता है तो इसे ही सामायिक प्रतिमा कहते हैं।

किन्तु कुछ विद्वानों ने इनमें निम्न-उच्च का अंतर भी कहा है कि सामायिक व्रत सामान्य है और सामायिक प्रतिमा विशेष है। व्रत में अभ्यास रूप दशा है और प्रतिमा में वह निश्चित एवं नियमित हो जाती है। ❖❖

पाँच समितियों का व्यापक अर्थ : श्रावकों की अपेक्षा से

पाँच समितियों के सम्बन्ध में प्रायः लोग ऐसा ही समझते-समझाते हैं कि ये मुनिराजों के होती हैं और इनका स्वरूप इस प्रकार है— चार हाथ भूमि देखकर चलना ईर्या समिति है, हित-मित-प्रिय वचन बोलना भाषा समिति है, दिन में एक बार खड़े होकर आहार ग्रहण करना एषणा समिति है, पिच्छी-कमण्डलु-शास्त्र आदि को देख-भालकर उठाना-रखना आदान-निक्षेपण समिति है और निर्जन्तु स्थान देखकर वहाँ मल-मूत्र त्यागना व्युत्सर्ग या प्रतिष्ठापना समिति है।

किन्तु यह अर्थ बड़ा ही सीमित एवं स्थूल है। यदि थोड़ी व्यापक एवं सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो इसमें से और भी अनेक महत्त्वपूर्ण अर्थ प्रकट होते हैं।

दरअसल, 'समिति' का अर्थ होता है— सम्यक् प्रवृत्ति¹, अतः पाँच समितियों का सही अर्थ इसप्रकार बनता है कि गमनागमन-सम्बन्धी समस्त सम्यक् प्रवृत्ति को ईर्या समिति कहते हैं, भाषा या वचन-सम्बन्धी समस्त सम्यक् प्रवृत्ति को भाषा समिति कहते हैं, एषणा (भोजन) सम्बन्धी समस्त सम्यक् प्रवृत्ति को एषणा समिति कहते हैं, वस्तुओं को रखने-उठाने सम्बन्धी समस्त सम्यक् प्रवृत्ति को आदान-निक्षेपण समिति कहते हैं और मलिनता के विसर्जन हेतु की जाने वाली समस्त सम्यक् प्रवृत्ति को प्रतिष्ठापना समिति करते हैं।

वैसे तो यदि मुनियों के सन्दर्भ में ही देखा जाए तब भी इनका अर्थ उपर्युक्तानुसार सीमित नहीं है, उसमें अनेक विशेष-विशेष बातें और भी आती हैं जिनकी चर्चा श्रमणाचार-विषयक ग्रन्थों में उपलब्ध होती है। यहाँ हम उसके विस्तार में नहीं जाना चाहते हैं, किन्तु इनका पूरा अर्थ समझने के लिए इन्हें श्रावकों के सन्दर्भ में भी देखना चाहते हैं, जो कि बहुत आवश्यक है, क्योंकि शास्त्रों में श्रावकों को भी यथाशक्ति पाँच समितियों के पालन की प्रेरणा दी गई है, जैसा कि 'लाटी संहिता' के निम्नलिखित श्लोक से स्पष्ट होता है—

1. 'सम्यगितिः समितिरिति।'

—आचार्य अकलंक, तत्त्वार्थवार्तिक, 9/5/2

अर्थ— सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति का नाम समिति है।

“यथा समितयः पंच, सन्ति तिस्रश्च गुप्तयः।
अहिंसाव्रतक्षार्थं, कर्तव्या देशतोऽपि तैः॥”

अर्थ— अहिंसा व्रत की रक्षा के लिए श्रावकों को भी पाँच समितियों और तीन गुप्तियों का देशतः पालन करना चाहिए।

कहने का तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार व्रत मुनि और श्रावक —दोनों के होते हैं, उसीप्रकार समिति भी मुनि और श्रावक —दोनों के ही अनिवार्यतः होती है। अन्तर मात्र इतना होता है कि जिसप्रकार मुनियों के व्रत महाव्रत होते हैं और श्रावकों के अणुव्रत, उसीप्रकार मुनियों की समिति महासमिति होती है और श्रावकों की समिति अणुसमिति।

विषय बहुत विस्तृत एवं गंभीर है, परन्तु हम यहाँ मात्र श्रावकों के सन्दर्भ में इन पाँच समितियों का स्वरूप कैसा होगा— इस विषय पर कुछ विचार करना चाहते हैं, वह भी आधुनिक सन्दर्भों में।

पाँच समितियों का अर्थ आधुनिक सन्दर्भों में श्रावकों के प्रसंग में कुछ इसप्रकार समझा जा सकता है। यथा—

I. ईर्या समिति हमसे (श्रावकों से) कहती है कि—

1. पैदल तो आगे और नीचे देखकर चलना ही चाहिए, परन्तु साईकिल, स्कूटर, गाड़ी आदि वाहन भी देखकर ही चलाना चाहिए, अन्यथा ईर्या समिति का पालन नहीं हो सकेगा।
2. यातायात के नियमों का पालन भी अवश्य करना चाहिए। यथा— लाल बत्ती नहीं पार करना चाहिए। गलत दिशा में (दाएँ) नहीं चलना-चलाना चाहिए। जेबरा क्रॉसिंग या पारगामी पुल से ही दूसरी तरफ जाना चाहिए, रैलिंग कूदकर या पटरी पर से नहीं जाना चाहिए। रेलवे फाटक बन्द हो तो उसमें से नहीं निकलना चाहिए। रेलगाड़ी में ऊपर छत पर बैठकर यात्रा नहीं करना चाहिए। चलते समय वार्तालाप, हँसी-ठट्टा नहीं करना चाहिए। फोन पर बात करते हुए सड़क पार नहीं करना चाहिए तथा गाड़ी भी नहीं चलाना चाहिए। गाड़ी को निर्धारित गति-सीमा में ही चलाना चाहिए, उससे तेज नहीं।
3. इसीप्रकार की अन्य भी गमनागमन-सम्बन्धी समस्त सावधानियाँ ईर्या समिति में गर्भित जाननी चाहिए, क्योंकि उनके नहीं पालने से स्व-पर को कष्ट होगा, हिंसा होगी, जीवदया नहीं पलेगी।

II. भाषासमिति हमसे कहती है कि—

1. गाली-गलौच के अशिष्ट शब्द मत बोलो।

2. क्रोध, मान, माया आदि से युक्त वचन मत बोलो।
3. असत्य वचन मत बोलो।
4. अहितकर वचन मत बोलो।
5. अनावश्यक वचन मत बोलो।
6. अनुचित अवसर पर मत बोलो, उचित अवसर पर ही बोलो।
7. आत्मप्रशंसा व परनिन्दारूप वचन मत बोलो।
8. इत्यादि वचन सम्बन्धी समस्त सावधानी भाषा समिति में गर्भित जाननी चाहिए, क्योंकि उसके न पालने से स्व-पर की हिंसा होगी।

III. एषणा समिति हमसे कहती है कि—

1. अभक्ष्य (त्रसघात, बहुघात, नशाकारक, अनिष्ट, अनुपसेव्य) का भक्षण न करें।
2. अकाल में भोजन (रात्रिभोजन) न करें।
3. टी.वी. देखते हुए, फोन पर बात करते हुए भोजन न करें, वरना भोजन नहीं देखा जा सकेगा, जीवदया नहीं पलेगी।
4. बातें करते हुए, हँसी-ठट्टा करते हुए भोजन न करें।
5. अपनी रसोई भी सँभालकर रखें, खाद्य सामग्री को अमर्यादित काल तक न रहने दें।
6. भूख से अधिक भोजन न करें।
7. अतिथि को भोजन करा कर ही भोजन करें। जिनेन्द्रदेव के दर्शन-पूजन-पूर्वक ही भोजन करें।
8. जूठा न छोड़ें।
9. बाजार का बना अशुद्ध भोजन न करें।
10. रसोई में दाल, सब्जी, मिठाई, रस आदि कुछ भी खाद्य सामग्री फैलाना नहीं चाहिए, क्योंकि उससे गन्दगी फैलती है और जीवहिंसा होती है।

IV. आदान-निक्षेपण समिति हमसे कहती है कि—

सभी वस्तुएँ सदा उचित स्थान पर भलीभाँति रखना चाहिए; क्योंकि ऐसा न करने पर स्वयं को भी और दूसरों को भी असुविधा होती है, दुःख होता है, चोट लग सकती है, मृत्यु भी हो सकती है। यही हिंसा है। अतः श्रावकों को यह समिति कुछ इस प्रकार से पालनी चाहिए—

1. जूठे और शुद्ध बर्तनों को अलग-अलग अपने उचित स्थान पर रखें। जूठे बर्तन

कहीं भी कैसे भी न छोड़ें।

2. जूते-चप्पल, मोजे, पॉलीथीन बैग आदि उचित स्थान पर रखें।
3. अपनी गाड़ी को गलत जगह, गलत तरीके से पार्क न करें।
4. सूखे, गीले और प्रेस किये कपड़े भी अपने-अपने उचित स्थान पर रखें।
5. फल, सब्जी, मिठाई, तेल, घी, मसाले आदि सभी खाद्य सामग्री भी सावधानी से यथास्थान रखें और लें।
6. रुपये, ज्वैलरी आदि भी उचित स्थान पर ठीक से रखें।
7. सभी पुस्तकों को पुस्तकालय, मंदिर या घर में उचित स्थान पर ही रखें।
8. पिन, आलपिन, सूई, कांच, ब्लेड, चाकू, कैंची, कील, चश्मा, पैन, पेंसिल आदि उचित स्थान पर रखें।
9. दवाइयाँ, थर्मामीटर आदि औषध उपकरणों को ठीक से रखें, अन्य सामान भी उचित स्थान पर ही रखें।
10. बच्चे भी अपनी सभी चीजें जैसे लंच बॉक्स, पेन, पुस्तक, बेल्ट, सॉक्स, ड्रेस आदि उचित स्थान पर ठीक से रखें।

V. प्रतिष्ठापना या व्युत्सर्ग समिति हमसे कहती है कि—

1. मल-विसर्जन उचित स्थान पर ही करना चाहिए। जहाँ-तहाँ कहीं भी नहीं करना चाहिए, मार्ग में भी नहीं। यदि शौचालय में जाते हैं तो भी ठीक से करें, सीट के बाहर मल न गिरावें, सीट भी गन्दी न छोड़ें।
2. मूत्र-विसर्जन भी निर्जन्तु एवं उचित स्थान पर ही करें। जहाँ कहीं भी नहीं करें। मंदिर, स्कूल आदि भवनों की दीवारों पर नहीं करें।
3. नाक कहीं भी छिनकना और पोंछना नहीं चाहिए। अपितु उचित स्थान पर ही ऐसा करना चाहिए।
4. थूकना भी उचित स्थान पर उचित प्रकार से ही चाहिए। लोग तो पान-गुटखा कहीं भी थूकते हैं, जबकि वह तो खाना ही नहीं चाहिए। इसीप्रकार लोग बीड़ी, सिगरेट का धुआँ भी कहीं भी फेंकते हैं, पर वह भी बिल्कुल सेवन नहीं करना चाहिए।
5. नाखून काटकर कहीं भी नहीं फेंकना चाहिए।
6. सिर एवं दाढ़ी-मूँछ के बाल भी इधर-उधर कहीं भी नहीं डालना चाहिए। घर में जहाँ-तहाँ न फैलाना चाहिए।
7. खाँसते समय भी मुँह पर कपड़ा या हाथ लगाना चाहिए, अन्यथा इससे दूसरे

को बीमारी हो सकती है।

8. इलैक्ट्रॉनिक कूड़े (बैट्री, कम्प्यूटर, सीडी, बल्ब) को सावधानी के साथ उचित स्थान पर पहुँचाना चाहिए।
9. कूड़ा-कचरा जहाँ कहीं भी नहीं डालना/फैलाना चाहिए।
10. काँच का कूड़ा भी उचित स्थान पर ही डालना चाहिए।
11. हड्डी, खून, खून का कपड़ा आदि भी उचित स्थान पर ही डालना चाहिए।
12. पुरानी सूर्ई, ब्लैड, सिरींज आदि भी उचित स्थान पर ही डालना चाहिए।
13. किसी भी प्रकार की गन्दगी को नदियों में छोड़कर उन्हें प्रदूषित नहीं करना चाहिए।

इस प्रकार यहाँ हमने पाँचों समितियों में गर्भित होने वाले व्यापक अर्थों का संक्षेप में दिग्दर्शन कराया है। आशा है सुधी पाठक इसी प्रकार की और भी बहुत सारी बातें अपने आप समझ लेंगे।

आजकल ‘स्वच्छ भारत अभियान’ के तहत, पूरे देश में स्वच्छता पर बहुत जोर दिया जा रहा है। इन समितियों के पालन से सहज ही स्वच्छता का वातावरण भी निर्मित होगा।

अन्त में निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि पाँच समितियों में जीवन का सम्पूर्ण सदाचार एवं शिष्टाचार समाहित हो जाता है, क्योंकि उसके न पालने से किसी-न-किसी प्रकार से हिंसा होती है, जीवदया नहीं पलती और उनके पालन से आत्मिक उन्नति के साथ-साथ पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रिय हित भी सिद्ध होते हैं। यही जैनाचार्यों की उभयलोक-हितकारी भावना है।



मेरे पास क्यों आये हो, अपने पास जाओ

जैन दर्शन का स्पष्ट संदेश है कि “सगदव्वादो सुग्गदि परदव्वादो दुग्गदि” अथवा “परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततो सुखम्” अर्थात् स्वद्रव्य के आश्रय से सुगति होती है और परद्रव्य के आश्रय से दुर्गति होती है, अतः हमें कभी भी किंचित् भी किसी भी परपदार्थ की ओर नहीं देखना चाहिए, उसके पास नहीं जाना चाहिए, उससे किंचित् भी राग-द्वेष नहीं करना चाहिए, उसका आश्रय नहीं लेना चाहिए, परद्रव्य का आश्रय ही जीव के समस्त दुःखों का मूल कारण है; किन्तु फिर भी जैन आचार्यों ने चैत्य-चैत्यालय आदि परपदार्थों की पूजा-भक्ति का विधान भी किया है। इसकी संगति यह है कि यदि तुम पूर्णतः पर की ओर देखे बिना न रह सको तो उस पर की ओर देखो जो कहे कि मेरी ओर क्यों देखते हो, अपनी ओर देखो, उस पर के पास जाओ जो कहे कि मेरे पास क्यों आये हो, अपने पास जाओ।

बहुत सूक्ष्म है भगवान महावीर की अहिंसा

भगवान महावीर ने प्राणिमात्र के कल्याण हेतु अनेकानेक शिक्षाएँ दी हैं, परन्तु उन सबका एक शब्द में सारांश है— अहिंसा। ‘अहिंसा’ भगवान महावीर के सम्पूर्ण उपदेशों का मूलाधार है, एकमात्र केन्द्रबिन्दु है।

भगवान महावीर ने झूठ नहीं बोलने, चोरी नहीं करने और परिग्रह-संचय नहीं करने के लिए भी कहा है, परन्तु उन सबके पीछे भी अभिप्राय केवल अहिंसा-पालन का ही है, क्योंकि उन सबसे हिंसा होती है। झूठ बोलना, चोरी करना, परिग्रह-संचय करना इसीलिए बुरा एवं त्याज्य है, क्योंकि इनसे हिंसा होती है। इसी प्रकार मांसभक्षण, मद्यपान, द्यूतक्रीड़ा, रात्रिभोजन आदि जितने भी पापकर्मों का निषेध किया गया है वह भी वस्तुतः इसीलिए किया गया है क्योंकि उनसे हिंसा होती है और जितने भी अहिंसा, करुणा, सत्य, अपरिग्रह, स्याद्वाद आदि पुण्यकर्मों का उपदेश दिया गया है वह इसीलिए दिया गया है क्योंकि उनसे अहिंसा-पालन होती है।

भगवान महावीर के सम्पूर्ण उपदेशों की एक ही कसौटी है कि जिस किसी भी कार्य से हिंसा हो, वह सब त्याज्य है और जिस किसी भी कार्य से अहिंसा-पालन हो वह सब ग्राह्य (उपादेय) है।

किन्तु भगवान महावीर की हिंसा और अहिंसा की व्याख्या बहुत सूक्ष्म है, उसे इतनी आसानी से नहीं समझा जा सकता। भगवान महावीर के अनुसार हिंसा के लिए किसी दूसरे प्राणी को मारना-सताना ही जरूरी नहीं है, मात्र कुछ बुरे शब्द बोलकर भी घोर हिंसा की जा सकती है। यहाँ तक कि शब्द बोलने की भी कोई आवश्यकता नहीं है, मात्र अपने मन को मलिन बनाकर ही प्रचुर हिंसा की जा सकती है। तथा इस मन को मलिन बनाने के लिए भी हल्का-सा राग-द्वेष ही पर्याप्त है।

यही कारण है कि भगवान महावीर ने हिंसा-अहिंसा की परिभाषा बारम्बार यही दुहराई है कि आत्मा में राग-द्वेषादि भावों की किंचित् भी उत्पत्ति होना ही हिंसा है और राग-द्वेषादि भावों की उत्पत्ति नहीं होना ही अहिंसा है। हिंसा-अहिंसा की ऐसी परिभाषा देकर भगवान महावीर ने इस विषय के मूलभूत बिन्दु को ही पकड़ लिया है। जिस प्रकार मूल से ही वृक्ष जीवित रहता है और मूल के बिना मर जाता है, उसी प्रकार भगवान महावीर की हिंसा-अहिंसा की उपर्युक्त परिभाषा में हिंसा-अहिंसा की

दुनिया भर की समस्त बातें गर्भित हो जाती हैं।

राग-द्वेष ही संसार के सबसे बड़े प्रदूषण हैं जो अन्यान्य प्रदूषणों का कारण बनते हैं; राग-द्वेष से बड़ा प्रदूषण दुनिया में दूसरा कोई नहीं है। तथा राग-द्वेष ही संसार के सबसे बड़े शस्त्र भी हैं। सबसे बड़े क्या, वे ही तो असली शस्त्र हैं। यदि वे न हों तो विशाल शस्त्रागार भी किसी का कुछ नहीं बिगाड़ सकता और यदि वे हों तो सामने रखी कोई एक छोटी-सी वस्तु भी शस्त्र बन सकती है।

सचमुच राग-द्वेष ही आत्मा की सबसे बड़ी गन्दगी है। इतनी बड़ी कि सारे संसार में हमें जो कुछ भी गन्दा दिखाई देता है, वह सब इसी की वजह से दिखाई देता है, अन्यथा इस सारे संसार में कुछ भी गन्दा नहीं है। राग-द्वेष ने ही सारे संसार में सर्वत्र भारी गन्दगी फैला रखी है। दुनिया की समस्त बुराइयों का आधार ये राग-द्वेष ही हैं। यदि राग-द्वेष का ही अभाव हो जाए तो कहीं कुछ गन्दगी या बुराई शेष ही न रहे।

मानसिक, पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रिय ही नहीं, अन्तराष्ट्रिय समस्याएँ भी राग-द्वेष से ही उत्पन्न होती हैं। जहाँ राग-द्वेष नहीं है, वहाँ कोई समस्या नहीं है, क्योंकि असल में इस भौतिक जगत् में स्वतः कहीं कोई समस्या नहीं है, सारी समस्याओं का मूल कारण तो ये राग-द्वेष ही हैं।

राग-द्वेष में से भी भगवान महावीर ने ‘राग’ पर विशेष जोर दिया, क्योंकि द्वेष का भी जनक – मूल कारण वस्तुतः राग ही होता है। यदि राग न हो तो द्वेष भी नहीं हो सकता। इसीलिए भगवान महावीर स्वयं भी पूर्ण वीतराग हो गए और औरों को भी वीतराग होने की शिक्षा दे गये। कह गये कि जब तक इस राग-भाव को नहीं छोड़ोगे, शुद्ध नहीं हो सकोगे, सुखी नहीं हो सकोगे। संसार का कोई भी पदार्थ अच्छा-बुरा नहीं है, उनमें इष्ट-अनिष्ट की बुद्धि नहीं करो, बस, वीतरागी बन जाओ, सबको समान भाव से देखो, तुम पूर्ण सुखी हो जाओगे। जीवन में सुख का भण्डार मिल जाएगा तुम्हें वीतरागता से। ❖❖

मनुष्य ने अपने सुखद जीवन के लिए अनेक व्यवस्थाएँ बनाई हैं। जैसे कि न्यायालय बनाया ताकि उसे न्याय मिल सके, औषधालय बनाया ताकि उसे स्वास्थ्य मिल सके, विद्यालय बनाया ताकि उसे ज्ञान मिल सके; किन्तु यदि इन सबको मिलाकर एक वस्तु बनाई जाए तो वह है— जिनालय। यही जिनालय का चमत्कार है। न्यायालय में तो आपको न्याय मिले या नहीं इसकी कोई गारंटी नहीं है, पर जिनालय में अवश्य ही न्याय मिलता है। औषधालय में तो आपको स्वास्थ्य मिले या नहीं इसकी कोई गारंटी नहीं है, पर जिनालय में अवश्य ही स्वास्थ्य मिलता है। विद्यालय में तो आपको ज्ञान मिले या नहीं इसकी कोई गारंटी नहीं है, पर जिनालय में अवश्य ही ज्ञान मिलता है। अतः हमें जिनालय का महत्त्व भलीभाँति समझना चाहिए।

व्यावहारिक जीवन में अहिंसा के सूक्ष्म रूपों का प्रचलन

बड़े ही आश्चर्य की बात है कि आज समय बहुत बदल गया है, फिर भी जैन समुदाय में अहिंसा के ऐसे अनेक सूक्ष्म रूप प्रचलन में पाए जाते हैं, जो प्रशंसनीय ही नहीं, अनुकरणीय भी हैं। यद्यपि हम मानते हैं कि ये रूप वर्तमान में सर्वत्र नहीं पाये जाते हैं, परन्तु कहीं-कहीं ही सही, आज की विषम परिस्थितियों में ये जीवित हैं —यही क्या कम बात है? हमें आशा है कि इनके ज्ञान और अनुकरण से जनता का महान हित होगा, अतः इनमें से कतिपय रूपों को यहाँ संगृहीत किया जाता है। अहिंसा के ये सूक्ष्म रूप न केवल धार्मिक-आध्यात्मिक दृष्टि से ही उचित सिद्ध होते हैं, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि अनेक दृष्टियों से भी बड़े लाभकारी सिद्ध होते हैं। यहाँ तक कि पर्यावरण-प्रदूषण आदि की अनेक गंभीर समस्याओं का सहज-सरल समाधान भी प्रस्तुत करते हैं।

1. दीपक को मुँह से फूँक देकर नहीं बुझाया जाता है, क्योंकि इससे अग्निकायिक और वायुकायिक जीवों की हिंसा होती है।
2. फल-सब्जी को 'काटो' शब्द से नहीं बोला जाता है, क्योंकि इस शब्द में हिंसा की गंध आती है।
3. गर्म पानी में ठण्डा और ठण्डे पानी में गर्म पानी नहीं मिलाया जाता है। इसी प्रकार गर्म पानी नाली में नहीं बहाया जाता है और साबुन का पानी शौचालय में नहीं डाला जाता है।
4. अनाज दाल-चावलादि को साफ करते समय यदि कोई कीड़ा निकले तो उसे धूप में या यूँ ही सड़क पर कहीं भी नहीं डाल दिया जाता है।
5. रात्रिभोजन नहीं किया जाता है और कराया भी नहीं जाता है। रात्रि में भोजन बनाया भी नहीं जाता है। रात्रि का बना हुआ भोजन दिन में खाया भी नहीं जाता है।
6. जमीकन्द का सेवन नहीं किया जाता है, विवाह आदि किसी पार्टी में भी नहीं।

7. शहद का सेवन नहीं किया जाता है, दवाई तक में भी नहीं।
8. मद्य-मांसादि का सेवन तो दूर, इनका नाम भी लेना ठीक नहीं समझा जाता है, खासकर भोजन के समय तो कदापि नहीं। बहुत-से लोग इनका नाम सुनकर भोजन छोड़ देते हैं।
9. पीने के लिए ही नहीं, स्नानादि के लिए भी पानी को छानकर ही काम में लिया जाता है। बिना छाना पानी किसी भी काम में नहीं लिया जाता।
10. पशु-पक्षी के आकार की मिठाई (Toffee) नहीं खाई-खिलाई जाती है। खाने की किसी भी वस्तु में ऐसी कल्पना भी नहीं की जाती है।
11. चाँदी का वर्क लगी हुई मिठाई नहीं खाई जाती है।
12. सात दिन से अधिक का आटा, मसाले, आचार आदि इस्तेमाल नहीं किये जाते हैं।
13. बासी भोजन नहीं किया जाता है।
14. मक्खन, ब्रेड, बिस्कुट इत्यादि का उपभोग नहीं किया जाता है।
15. बैंगन, गोभी आदि सब्जियों का प्रयोग नहीं किया जाता है।
16. पानी की एक बूँद भी व्यर्थ नहीं गिराई जाती है। अनाप-सनाप पानी फँलाना तो बहुत दूर की बात है।
17. अनाथ, गरीब और याचक को भी अभक्ष्य वस्तु नहीं दी जाती है।
18. गृहप्रवेश आदि के सभी मुहूर्त एवं विवाहादि भी दिन में ही सम्पन्न किये जाते हैं।
19. वृक्षों के पत्र, पुष्प आदि नहीं तोड़े जाते हैं। हरी घास पर चलना तक वर्जित माना जाता है।
20. मच्छर और जूँ आदि को भी नहीं मारा जाता है।
21. चित्रात्मक जीवों की भी हिंसा नहीं की जाती है।
22. मंदिर में भगवान के आगे फल-फूल आदि नहीं चढ़ाए जाते हैं, मात्र चावल आदि निर्दोष वस्तुएँ ही चढ़ाई जाती हैं।
23. मंदिरों में रात्रि के समय घण्टा नहीं बजाया जाता है, क्योंकि इससे भी अनेक सूक्ष्म जीवों को पीड़ा पहुँचती है। पूजा भी नहीं की जाती है।
24. कहीं-कहीं तो मंदिरों में पंखे तक नहीं चलाए जाते हैं, क्योंकि इससे वायुकायिक जीवों की हिंसा होती है।
25. प्रमादवश हिंसा होने पर प्रायश्चित्त लिया जाता है।
26. बीड़ी, सिगरेट, पान मसाला, गुटका आदि नशाकारक वस्तुओं का सेवन तो दूर, उनका व्यापार भी नहीं किया जाता है। इसी प्रकार अन्य भी किसी भी हिंसक

वस्तु का व्यापार नहीं किया जाता है।

27. कहीं-कहीं तो सभा में ताली तक नहीं बजाई जाती है, क्योंकि इससे भी सूक्ष्म जीवों की हिंसा होती है।
28. कुछ लोग माइक तक का उपयोग नहीं करते हैं, क्योंकि इससे सूक्ष्म अग्निकायिक जीवों की हिंसा होती है।
29. बहुत-से लोग अग्नि से हवन भी नहीं करते हैं, क्योंकि इसमें भी हिंसा होती है।
30. रावणादि के पुतले नहीं जलाये जाते हैं, क्योंकि इसमें भी हिंसा होती है। लोग उन्हें देखने तक भी नहीं जाते हैं, क्योंकि इससे भी हिंसा की अनुमोदना होती है।
31. नकद रुपये का दान नहीं दिया जाता है, क्योंकि उसका दुरुपयोग हो सकता है, उसके माध्यम से अभक्ष्य-भक्षणादि करके हिंसा की जा सकती है।
32. अस्त्र-शस्त्रादि का दान नहीं दिया जाता है, क्योंकि उससे हिंसा को प्रोत्साहन मिलता है।
33. विकथा नहीं करते हैं, क्योंकि इससे भी घोर मानसिक हिंसा होती है।
34. रेशमी वस्त्रों (साड़ी आदि) का प्रयोग नहीं किया जाता है, क्योंकि इनके निर्माण में असंख्य कीटों की हिंसा होती है।
35. हिंसा से उत्पन्न सौन्दर्य-प्रसाधनों का उपयोग नहीं किया जाता है।
36. पटाखे नहीं चलाए जाते हैं, क्योंकि इससे भी असंख्य त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा होती है।
37. ताजा दूध को शीघ्र गर्म किया जाता है, उसमें देर नहीं लगाई जाती, क्योंकि अंतर्मुहूर्त के बाद उसमें सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति हो जाती है।
38. चमड़े की किसी भी वस्तु जूते, चप्पल, पर्स, बेल्ट, बैग आदि का उपयोग नहीं किया जाता है।
39. चूहे, कोकरोच, मक्खी आदि को विषैली दवाइयां डालकर नहीं मारा जाता है।
40. सप्ताह में एक दिन (अष्टमी-चतुर्दशी को) साबुन का प्रयोग नहीं किया जाता है।
41. सप्ताह में एक दिन (अष्टमी-चतुर्दशी को) हरी सब्जी का सेवन भी नहीं किया जाता है।
42. जिस पर तितली, चूहा, चिड़िया आदि का चित्र छपा हो— ऐसी चप्पल या मेट आदि किसी भी चीज पर पैर नहीं रखा जाता है।
43. खाने-पीने की हर चीज बीनकर-छानकर ही काम में ली जाती है। हर चीज को देखभाल कर ही खाया-पिया, उठाया-धरा जाता है। ❖❖

क्या अहिंसा जैन धर्म की विशेषता है ?

दुनिया के प्रायः सभी धर्म-दर्शन अहिंसा का ही उपदेश देते हैं, कोई भी यह नहीं कहता कि हिंसा करो, अतः बहुत-से लोगों को ऐसा लगता है कि अहिंसा जैन धर्म की अपनी विशेषता नहीं है, किन्तु यदि गम्भीरता से विचार किया जाए तो ऐसे अनेक कारण हैं जिनसे अहिंसा जैन धर्म की ही विशेषता सिद्ध होती है। यथा—

1. अन्य धर्म अहिंसा का उपदेश देते हुए भी किसी-न-किसी रूप में हिंसा का औचित्य सिद्ध कर बैठते हैं, उसका समर्थन कर बैठते हैं, किन्तु जैन धर्म किसी भी प्रकार से किंचित् भी हिंसा का समर्थन नहीं करता, उसे कथमपि उचित नहीं ठहराता। जैसे—कोई कह देता है कि वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, कोई कह देता है कि काफिर को मारने में कोई दोष नहीं है, कोई कह देता है कि सज्जन की रक्षा के लिए दुर्जन की हिंसा करना उचित है, कोई कह देता है कि अपनी या अपने परिवार आदि की रक्षा के लिए आक्रमणकारी की हिंसा करना उचित है, इत्यादि, किन्तु जैन धर्म किसी भी स्थिति में हिंसा को उचित नहीं मानता। यह बहुत बड़ी बात है और बड़ी ही शांति से समझने योग्य है। एक बार महात्मा गाँधी ने भी अपने गुरु श्रीमद् रायचन्द्र से पूछा था कि यदि कोई मेरी छाती पर बंदूक रख दे तब तो मुझे उसे शीघ्र मार देना चाहिए न? रायचन्द्र का उत्तर मननीय है— मैं तब भी तुम्हें उसे मारने की अनुमति नहीं दूंगा, क्योंकि तुम्हारा जीवन-मरण उसके हाथ में नहीं है, तुम्हें हिंसा के घोर दलदल में क्यों फंसाया जाये, तुम्हारे अनेक जन्म क्यों खराब किये जाएँ।

2. जैन धर्म में अहिंसा का जितना विस्तृत और सूक्ष्म वर्णन मिलता है, वैसा अन्य धर्मों में नहीं मिलता। जैन धर्म में अहिंसा को स्पष्ट करने के लिए हिंसा का भी उसके भेद-प्रभेद-सहित बहुत विस्तृत एवं सूक्ष्म वर्णन मिलता है, जो कि अन्यत्र नहीं मिलता। इस सन्दर्भ में मेरा अन्य लेख ‘हिंसा के भेद-प्रभेद’ पठनीय है। उसमें हिंसा के निश्चय-व्यवहार, द्रव्य-भाव, स्व-पर, मानसिक-वाचिक-कायिक, कृत-कारित-अनुमत, स्थूल-सूक्ष्म, त्रस-स्थावर, संकल्पी-विरोधी-आरम्भी-उद्योगी, परिणमनरूप-अविरमणरूप आदि भेदों को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। ऐसा अन्य धर्म-दर्शनों में नहीं मिलता। अन्य धर्म हिंसा-अहिंसा शब्द तो बोलते हैं, पर उनका स्वरूप विशदतया स्पष्ट नहीं करते। हिंसा-अहिंसा का विशद स्वरूप जैन धर्म में ही स्पष्ट

किया गया है।

3. अन्य धर्म किसी जीव को मारना, सताना या उससे द्वेष भाव रखना— इसको तो हिंसा मानते हैं, किन्तु राग करना भी हिंसा है—ऐसा नहीं मानते हैं, अपितु राग भाव को अच्छा बताकर उसे खूब रखने का उपदेश देते हैं, जबकि जैन धर्म तो राग भाव को ही हिंसा मानने पर विशेष बल देता है, कहता है कि राग ही तो सबका मूल कारण है, यदि हमें किसी से राग न हो तो किसी से द्वेष भी नहीं हो सकता, अतः चोर को नहीं चोर की माँ को पकड़ो, फूल को नहीं मूल को पकड़ो। (आत्मा में रागादि की उत्पत्ति होना ही हिंसा है— पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 49)

4. जैन धर्म ‘हिंसा’ में झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, क्रोध, मान, माया आदि समस्त विकारों को भी गर्भित मानता है और इसीलिए ‘अहिंसा’ के पालन में इन सबका भी त्याग आवश्यक मानता है। जैसा कि आचार्य अमृतचन्द्रसूरि ने ‘पुरुषार्थसिद्ध्युपाय’ (श्लोक 42) में स्पष्ट लिखा है कि झूठ, चोरी आदि तो प्राथमिक शिष्यों को समझाने के लिए अलग से कहे हैं, वस्तुतः तो वे सब हिंसा ही हैं, क्योंकि उनसे आत्मा के परिणामों की हिंसा होती है। यथा—

‘आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात् सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय॥’

5. अन्य धर्म मनुष्य या पशु-पक्षी की हिंसा को तो हिंसा मानते हैं, परन्तु पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति एवं द्वीन्द्रियादि सूक्ष्म जीवों की हिंसा की ओर उनका ध्यान नहीं जाता और इसका उपदेश भी नहीं दिया जाता, किन्तु जैन धर्म में इनकी हिंसा को भी हिंसा ही माना जाता है और उसके त्याग का भी बहुत उपदेश दिया जाता है। यही कारण है कि जैन धर्म के अनुसार अहिंसा के पालन हेतु जीव के स्वरूप एवं भेद-प्रभेदों का सम्यक् ज्ञान-श्रद्धान होना अनिवार्य है। उसके बिना अहिंसा का ठीक से पालन सम्भव नहीं है। “दया दया सब ही कहे, दया न जाने कोय। जीव जाति जाने बिना दया कहाँ से होय॥”

6. इसी प्रकार जैन धर्म के अनुसार अहिंसा के पालन हेतु ऐसा सम्यक् ज्ञान-श्रद्धान भी अत्यंत आवश्यक है कि परमार्थ से कोई किसी को मार-बचा नहीं सकता, सुखी-दुखी नहीं कर सकता, सब जीव स्वयं अपने-अपने कर्मानुसार जीते-मरते और सुखी-दुखी होते हैं।

उपर्युक्त बिन्दुओं के आलोक में अहिंसा को जैनधर्म की मौलिक विशेषता कहने में किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। आचार्य समन्तभद्र ने भी बृहत्स्वयंभूस्तोत्र, श्लोक 119 में ऐसा ही संकेत किया है। यथा—

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्।
न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ ॥

**ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रंथमुभयं।
भवानेवात्याक्षीन् च विकृतवेषोपधिरतः॥**

भावार्थ— हे जिनेन्द्र ! जीवों की अहिंसा जगत में परम ब्रह्म मानी गई है, किन्तु वह अहिंसा आपके ही मत में है, अन्यत्र नहीं है, क्योंकि अहिंसा वहीं हो सकती है, जहाँ अणु मात्र भी आरम्भ न हो।

इस प्रकार यहाँ अनेक हेतुओं से अहिंसा को जैन धर्म की ही विशेषता सिद्ध किया गया, किन्तु प्रतिपादन का एक दृष्टिकोण यह भी हो सकता है कि मूलतः कोई भी धर्म हिंसा का समर्थन नहीं करता, सभी धर्म स्पष्ट शब्दों में बारम्बार यही उपदेश देते रहे हैं कि ‘अहिंसा परमो धर्मः’, ‘मा हिंस्यात् सर्वभूतानि’ इत्यादि, किन्तु परवर्ती काल में उनके कुछ अनुयायी उस मूल उपदेश से भ्रष्ट हो गये हैं, अतः उनको सम्भलना चाहिए।

पुनश्च, यहाँ जिसप्रकार हिंसा के सम्बन्ध में कहा, उसीप्रकार झूठ आदि पाँचों पापों और क्रोधादि चारों कषायों के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए। अन्य धर्म-दर्शन झूठ एवं क्रोध आदि को कहीं-न-कहीं किसी-न-किसी रूप में उचित सिद्ध कर बैठते हैं, किन्तु जैन दर्शन इनको कथमपि उचित नहीं मानता।

हिंसा कथमपि उचित नहीं

कभी-कभी कुछ घटनाओं में हमें ऐसा लगता है कि हिंसा करना भी उचित ही रहा, उससे हिंसक को बहुत पुण्यबन्ध हुआ, परन्तु इससे हमें कभी भी भ्रमित होकर ऐसा नहीं समझ लेना चाहिए कि हिंसा से पुण्यबन्ध होता होगा, क्योंकि हिंसा से तो पापबन्ध ही होता है, हिंसा से कभी त्रिकाल में पुण्यबन्ध नहीं हो सकता, किन्तु कई बार हिंसा के समय भी हिंसा के नहीं, रक्षा के परिणाम होते हैं, और उन रक्षा के परिणामों से ही पुण्यबन्ध होता है। जैसेकि— सूअर ने मुनिराज की रक्षा के लिए शेर की हिंसा की और इसके फलस्वरूप उसे स्वर्ग की प्राप्ति हुई। यहाँ शेर की हिंसा से स्वर्ग की प्राप्ति नहीं हुई है, अपितु मुनिराज की रक्षा से हुई है। इसीप्रकार सर्वत्र समझना चाहिए। शास्त्रों में भी कई बार ऐसा उपदेश दिया गया है जिसमें हमें ऊपर से हिंसा होती दिखाई देती है, पर वह उपदेश वास्तव में हिंसा के लिए नहीं, रक्षा के लिए होता है। जैसेकि स्वच्छता रखने के उपदेश को हिंसा के लिए नहीं अपितु बहुत हिंसा से बचने के लिए दिया गया उपदेश समझना चाहिए।

इसी प्रकार यदि कदाचित् ऐसा कहा जाए कि यह हिंसा उचित है तो उसका आशय भी हमें इसी प्रकार भलीभांति समझना चाहिए कि हिंसा तो कथमपि उचित नहीं हो सकती, परन्तु कभी-कभी हिंसा के समय भी भावना हिंसा की नहीं, अहिंसा की होती है और उचित उस अहिंसा को ही कहा गया है, हिंसा को नहीं।



हिंसा के भेद-प्रभेद

‘अहिंसा’ शब्द निषेधपरक है— ‘न हिंसा इति अहिंसा’, अतः अहिंसा के स्वरूप को भलीभाँति समझने के लिए ‘हिंसा’ के स्वरूप को समझना अनिवार्य है। ‘हिंसा’ के स्वरूप को भलीभाँति समझे बिना अहिंसा के स्वरूप का समुचित ज्ञान नहीं हो सकता।

हिंसा का स्वरूप भी अत्यन्त सूक्ष्म है, उसे समझने में प्रायः लोगों को बड़ी भ्रान्ति होती है। ऐसी स्थिति में हम समझते हैं कि यदि हम हिंसा के भेद-प्रभेदों को ही भलीभाँति समझ लें तो हमारे चित्त में हिंसा का स्वरूप काफी कुछ स्पष्ट हो जाएगा। हिंसा के स्वरूपबोध में उसके भेद-प्रभेद के बोध की महती भूमिका है। खेद है कि आजकल हिंसा के भेद-प्रभेदों की चर्चा प्रायः उपेक्षित रहती है। लोग अहिंसा के गीत तो बहुत गाते हैं, पर उसका स्वरूप समझने का प्रयत्न कम ही करते हैं। अतः यहाँ हिंसा के भेद-प्रभेदों के माध्यम से हिंसा के स्वरूप को समझने का प्रयत्न किया जाता है। हिंसा के भेद-प्रभेदों का ऐसा सूक्ष्म विवेचन जैन वाङ्मय में ही उपलब्ध होता है।

जैनाचार्यों ने हिंसा के भेद-प्रभेद विभिन्न दृष्टियों से किये हैं। यथा—

1. निश्चय और व्यवहार हिंसा

- (i) निश्चय हिंसा— आत्मा में रागादि की उत्पत्ति होना निश्चय हिंसा है।¹
- (ii) व्यवहार हिंसा— किसी भी प्राणी को पीड़ा देना, सताना या मारना व्यवहार हिंसा है।²

ध्यान देने योग्य है कि व्यवहार हिंसा को तो सारा जगत् हिंसा मानता है, पर आत्मा में रागादि भावों का उत्पन्न होना भी हिंसा है, न केवल हिंसा है अपितु निश्चय हिंसा है—ऐसा जैनदर्शन में ही माना गया है।

2. द्रव्य और भाव हिंसा

- (i) द्रव्यहिंसा— किसी भी प्राणी को मारना, सताना या किसी भी प्रकार से दुःख देना द्रव्यहिंसा है।
- (ii) भावहिंसा— किसी को कष्ट देने का मन में भाव उत्पन्न होना भावहिंसा है। द्रव्यहिंसा शरीर या वाणी से होती है, पर भावहिंसा अपने भावों में होती है।

प्रधानतः भावहिंसा को ही हिंसा कहा है, क्योंकि द्रव्यहिंसा तो भावहिंसापूर्वक ही होती है, भावहिंसा के बिना नहीं होती।

3. स्व और पर हिंसा

- (i) स्वहिंसा— कषायभाव से अस्त्र-शस्त्रादि द्वारा अपना घात करना स्वहिंसा है।
- (ii) परहिंसा— अन्य प्राणी को मारना या सताना परहिंसा है।

यहाँ भी प्रधानतः स्वहिंसा को ही हिंसा कहा है, परहिंसा तो उसके बाद होती है।³

4. मानसिक, वाचिक और कायिक हिंसा

- (i) मानसिक हिंसा— मन के द्वारा किसी का अहित-चिन्तन करना आदि मानसिक हिंसा है। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायें भी मानसिक हिंसा में आती हैं।
- (ii) वाचिक हिंसा— दुःखदायक वचन बोलना आदि वाचिक हिंसा है।
- (iii) कायिक हिंसा— अस्त्र-शस्त्र या हाथ-पैर आदि के द्वारा किसी को मारना या दुःख देना कायिक हिंसा है।

5. कृत, कारित, अनुमोदनरूप हिंसा

- (i) स्वयं हिंसा करना कृतरूप हिंसा है।
- (ii) अन्य से हिंसा कराना कारितरूप हिंसा है।
- (iii) होती हुई हिंसा को उचित कहना/मानना अनुमोदनरूप हिंसा है।

6. स्थूल एवं सूक्ष्म हिंसा

- (i) स्थूल हिंसा— व्यवहारहिंसा या द्रव्यहिंसा को स्थूल हिंसा कहते हैं।
- (ii) सूक्ष्म हिंसा— निश्चय हिंसा या भावहिंसा को सूक्ष्म हिंसा कहते हैं।
अथवा— हिंसा को ही हिंसा मानना स्थूल हिंसा है और असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य एवं परिग्रह को भी हिंसा में गर्भित करना सूक्ष्महिंसा है।

7. त्रस और स्थावर हिंसा

- (i) त्रस हिंसा— द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय या पंचेन्द्रिय जीव की हिंसा को त्रस हिंसा कहते हैं।
- (ii) स्थावर हिंसा— पृथिवीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक, अग्निकायिक एवं वनस्पतिकायिक जीव की हिंसा को स्थावर हिंसा कहते हैं।

8. संकल्पी, विरोधी, आरंभी और उद्योगी हिंसा⁴

- (i) संकल्पी हिंसा— बिना प्रयोजन किसी निर्दोष प्राणी को जानबूझकर मारना

या सताना संकल्पी हिंसा है।

- (ii) विरोधी हिंसा— शत्रु के द्वारा आक्रमण कर देने पर, देश, परिवार या स्वयं की रक्षा के लिए जो हिंसा होती है, उसे विरोधी हिंसा कहते हैं।
- (iii) आरम्भी हिंसा— भोजनादि बनाने में, स्नानादि करने में, साफ-सफाई आदि घरेलू कार्यों में होने वाली हिंसा आरम्भी हिंसा है।
- (iv) उद्योगी हिंसा— आजीविका हेतु किये जाने वाले व्यापार-उद्योगादि में जो हिंसा होती है, उसे उद्योगी हिंसा कहते हैं।

ज्ञानी गृहस्थ मात्र केवल संकल्पी हिंसा का त्यागी होता है, शेष तीन प्रकार की हिंसा उसके जीवन में पाई जा सकती हैं।

9. परिणमन एवं अविरमणरूप हिंसा

- (i) परिणमनरूप हिंसा— जो हिंसा हम करते हैं, वह परिणमनरूप हिंसा है।
- (ii) अविरमणरूप हिंसा— जो हिंसा हम करते तो नहीं, परन्तु उसके त्याग का संकल्प भी नहीं लेते, वह अविरमणरूप हिंसा है।

उक्त भेद-प्रभेदों के अतिरिक्त भी हिंसा के अन्य अनेक भेद-प्रभेदों की चर्चा आगम में मिलती है। हमें उसे भी समझने का प्रयत्न करना चाहिए। ‘भगवती आराधना’ में आचार्य शिवार्य ने हिंसा की क्रियाओं के पाँच भेद बतलाए हैं। यथा—

पादोसिय अधिकरणीय कायिय परिदावणादिवादाए।

एदे पंच पओगा किरियाओ होंति हिंसाओ॥८०॥

अर्थात् द्वैषिकी, कायिकी, प्राणघातिकी, पारितापकी, क्रियाधिकारिणी— ऐसी पाँच प्रकार की क्रियाओं को हिंसा क्रिया कहते हैं।

इसी प्रकार के अन्य भी वर्णन उपलब्ध होते हैं। हमें उन सबके माध्यम से हिंसा का और फिर उसके माध्यम से अहिंसा का समीचीन स्वरूप समझना चाहिए, तभी भगवती अहिंसा की उपासना भलीभाँति हो सकेगी।

सन्दर्भ-

1. (क) कसायपाहुड, गाथा 42/102 (ख) पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्लोक 44
(ग) परमात्मप्रकाशटीका, 2/125 (घ) अनगारधर्मामृत, 4/26
2. (क) तत्त्वार्थसूत्र, 7/13 (ख) पुरुषार्थसिद्धयुपाय, 43
3. (क) भगवती आराधना, 803,1363
(ख) सर्वार्थसिद्धि, 7/13/352
4. जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, 4/532



हतं ज्ञानं क्रियाहीनम्

सामान्य जन तो अज्ञानी होने के कारण धर्म के मार्ग पर चलते ही नहीं हैं, परन्तु अनेक लोग विद्वान् पंडित होकर भी, धर्म के मार्ग को जानते-पहचानते हुए भी उस पर चलते नहीं हैं। यह अत्यन्त खेद एवं आश्चर्य का विषय है।

ऐसे लोगों के लिए आचार्य अकलंकदेव की यह सूक्ति बारंबार गंभीरतापूर्वक चिन्तन-मनन करने योग्य है—

‘हतं ज्ञानं क्रियाहीनम्’

अर्थात् क्रिया-रहित (आचरण-रहित) ज्ञान निष्फल/निष्प्राण है।

यद्यपि आचार्य अकलंकदेव ने साथ ही यह भी स्पष्ट कहा है कि ज्ञान-रहित की क्रिया निष्फल/निष्प्राण है, यथा—

‘हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनां क्रिया।’ —राजवार्तिक, 1/1

अर्थ— क्रियाहीन ज्ञान निष्फल है और ज्ञानरहित की क्रिया भी निष्फल है।

अतः उनका अभिप्राय हमें समीचीन रूप से इसप्रकार समझना चाहिए कि ज्ञान नहीं है तो ज्ञान करो और ज्ञान करके उसे आचरण में भी अवश्य उतारो।

तथापि जिन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ है उन्हें तो ‘हतं ज्ञानं क्रियाहीनं’ कथन पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

प्रश्न है कि प्राप्त ज्ञान को क्रिया में कैसे उतारें?

उत्तर— धर्म की असंख्य क्रियाएँ हैं और उन्हें जीवन में उतारने की एक ही मूलभूत विधि है— ध्यान, आत्मध्यान। एक आत्मध्यान में धर्म की असंख्य क्रियाएँ सहज अन्तर्भूत हो जाती हैं। जैसा कि कहा भी गया है—

‘तस्य तु मध्ये वीतरागसर्वज्ञप्रणीतनयविभागेन सर्वे धर्मा अन्तर्भूता लभ्यन्ते।’

—परमात्मप्रकाश-टीका, 2/68

अर्थ— शुद्धोपयोग रूप ध्यान में वीतराग-सर्वज्ञ-प्रणीत सभी धर्म अन्तर्भूत हो जाते हैं।

इसीप्रकार आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी ने भी ‘द्रव्यसंग्रह’ में कहा है कि—

“दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाऊणदि जं मुणी णियमा ।
तम्हा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह॥”

—द्रव्यसंग्रह, 47

अर्थ— निश्चय और व्यवहार रूप दोनों ही प्रकार के मोक्षमार्ग को मुनिजन ध्यान में अनिवार्यतः प्राप्त कर लेते हैं, अतः तुम सब सावधान होकर ध्यान का अभ्यास करो ।

अतः हम सबको प्रतिदिन ध्यान/आत्मध्यान का प्रयत्न करना चाहिए ।

ध्यान सर्व समाधानकारक भी है । हमारे जीवन में अनगिनत समस्याएँ हैं— आकाश के तारों के समान; मानसिक, शारीरिक, पारिवारिक, सामाजिक आदि; परन्तु सभी के समाधान वास्तव में देखा जाए तो एक ध्यान या आत्मध्यान में ही अन्तर्निहित हैं और ज्ञानीजन उसी में से उन समाधानों को प्राप्त करके प्रसन्न होते हैं ।

इसका एक बड़ा ही सारगर्भित रूपक/कथानक है, जो इसप्रकार है—

एक महात्माजी थे । वे वाराणसी में अपने आश्रम में भक्तगणों के साथ सदैव ज्ञान-ध्यान में लीन रहते थे । उनके पास एक तोता भी था और वातावरण के प्रभाव से वह भी मनुष्य की बोली में कुछ अच्छे-अच्छे शब्द बोलना सीख गया था । आने-जाने वालों से वह कहता— जय जिनेन्द्र! आइए!! पधारिए!!! इत्यादि । लोग बहुत प्रभावित होते ।

एक दिन की बात— चार आतंकवादी लोग आश्रम से गुजर रहे थे । तोते को मनुष्य की बोली में अच्छी-अच्छी बातें बोलते देखकर उनका मन उसे अपने घर ले जाने का हो गया । उन्होंने महात्माजी से कहा— ये तोता हमें चाहिए ।

महात्माजी— यह तोता बिकाऊ नहीं है, आगे जाओ ।

आतंकवादी— ए बुढ़े! सीधे से देता है या नहीं?

महात्माजी समझ गये कि ये पापी लोग हैं और तोते को ले जाए बिना नहीं रहेंगे । वे मन मसोस कर रह गये । आतंकवादी तोते को लेकर चले गये ।

आतंकवादियों के घर का वातावरण बिल्कुल विपरीत था, अतः तोता वहाँ बहुत उदास रहने लगा ।

एक दिन किसी कार्य से वे आतंकवादी पुनः वाराणसी जा रहे थे । जाते समय उन्होंने तोते से कहा— हम तेरे गुरुजी के पास जा रहे हैं, कोई काम हो तो बता दे ।

तोता बोला— एक प्रश्न का उत्तर मेरी समझ में नहीं आ रहा है— मुक्ति का क्या

उपाय है। कृपया अवश्य पूछकर आइएगा।

आतंकवादी महात्माजी के आश्रम पहुँचे तो उन्हें देखते ही महात्माजी ने पूछा— भैया! मेरा तोता तो ठीक है न? कैसा है? क्या करता रहता है?

आतंकवादी— वह बिल्कुल ठीक है, सदा ही गहरे चिन्तन में डूबा रहता है। यद्यपि यहाँ जैसा प्रसन्न रहता था, वैसा तो नहीं रहता है, उदास-सा ही बना रहता है; पर उसने आपसे एक प्रश्न पूछा है कि मुक्ति का क्या उपाय है।

महात्माजी सारी बात समझ गये कि तोता वहाँ बहुत दुःखी है और वहाँ से छुटकारा चाहता है; परन्तु उन आतंकवादियों को कैसे क्या कहते? अतः श्वास-निरोध करके कायोत्सर्ग करने लग गये।

आतंकवादी ध्यान की इस स्थिति को क्या जानते? उन्होंने तो समझा कि महात्माजी मर गये और कहीं उन पर ही उन्हें मारने का आरोप न लग जाए, पुलिस उन्हें पकड़ न ले— इस डर से घबराकर वे वहाँ से ऐसे भागे कि अपने घर ही आकर रुके।

घर पहुँचते ही तोते ने पूछा— मेरे गुरुजी से मिले क्या? कैसे हैं वे? मेरा प्रश्न पूछा क्या? क्या उत्तर दिया उन्होंने?

आतंकवादी— अरे थोड़ी साँस तो लेने दे, बड़ी जोर से डर कर भाग कर आये हैं।

तोता— क्यों क्या हुआ?

आतंकवादी— अरे, तेरे गुरुजी अच्छे खासे थे, तेरे बारे में हमसे ठीक तरह बात भी कर रहे थे, पर जैसे ही हमने तेरा प्रश्न पूछा कि मुक्ति का क्या उपाय है, वे तो मर गये। हमने सचमुच कुछ भी नहीं किया, पर लोग हमें ही पकड़ लेते कि हमने कुछ कर दिया होगा, अतः हम तो अपने प्राण बचाकर भाग आये।

अब्वल उस्ताद को इशारा ही काफी होता है। तोता समझ गया कि मुक्ति का उपाय क्या है और उसने भी गुरुजी की तरह कायोत्सर्ग/ध्यान करना प्रारंभ कर दिया।

आतंकवादी यहाँ भी ध्यान की स्थिति को नहीं समझ सके। उन्हें लगा— लो, यह तोता भी मर गया। पता नहीं आज क्या बात है, इसके गुरुजी से बात की तो वे मर गये और अब इस तोते से बात की तो यह भी मर गया।

उन्होंने पिंजरा खोला और तोते को उठाकर बाहर फेंक दिया। तोता जमीन में गिरने की बजाय यह कहते हुए आकाश में उड़ गया कि— मिल गया मुक्ति का उपाय! टाटा बाय बाय !!

इस कथानक का मुख्य सन्देश यही है कि— ध्यान/आत्मध्यान ही सर्व दुःखों से मुक्ति का एक मात्र उपाय है। ध्यान से लौकिक और पारलौकिक सभी प्रकार के लाभ प्राप्त होते हैं, जैसा कि अनेक आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से कहा है।

हाँ, यह बात सत्य है कि ज्ञानीजन लौकिक लाभ के लिए ध्यान को नहीं चाहते और हमें भी नहीं चाहना चाहिए। कहा है—

“इतश्चिन्तामणिर्दिव्य इतः पिण्याकखण्डकम् ।
ध्यानेन चेदुभे लभ्ये क्वाऽऽद्विगन्तां विवेकिनः ॥”

—पूज्यपादस्वामी, इष्टोपदेश, 20

भावार्थ— ध्यान से दोनों चीजें प्राप्त होती हैं— पारमार्थिक भी और लौकिक भी; किन्तु उनमें से एक तो दिव्य चिन्तामणि के समान है और दूसरी खली के टुकड़े के समान; अतः अब तुम ही बताओ कि ज्ञानीजन किसे चाहेंगे?

ध्यान का मुख्य प्रयोजन तो मोक्ष/मुक्ति ही है, क्योंकि वही उत्तम सुख देता है। यथा—

“उत्तमु सुखसुखं देइ जइ, उत्तमु सुखसुखं होइ ।
तो किं इच्छहिं बंधणहिं, बद्धा पसुय वि सोइ ॥”

—योगीन्दुदेव, परमात्मप्रकाश, 2/5

अर्थ— यदि मोक्ष उत्तम सुख न देता हो तो वह उत्तम कैसे हो सकता है? अर्थात् मोक्ष तो उत्तम सुख देनेवाला ही होता है; तभी तो बंधनबद्ध पशु-पक्षी तक भी उसे चाहते हैं। ❖❖

भवतपहर शीतल वाच

पंडित नेमीचंदजी ग्वालियर ने मुझे नन्दीश्वर पूजा की एक प्राचीन प्रति दिखाई। उसमें चन्दन के छंद में प्रथम चरण में ‘भवतपहर शीतल वास’ के स्थान पर ‘भवतपहर शीतल वाच’ लिखा था। उसे पढ़कर मुझे अद्भुत आनंद प्राप्त हुआ। ऐसा लगा कि यही शुद्ध पाठ होना चाहिए, हम लोग जो ‘भवतपहर शीतल वास’ बोल रहे हैं और पुस्तकों में भी छपा मिल रहा है, वह शुद्ध नहीं है, वह तो अशुद्ध पाठ है। यद्यपि ‘भवतपहर शीतल वास’ का भी सही अर्थ बिठाया जा सकता है, पर शुद्ध पाठ तो मुझे ‘भवतपहर शीतल वाच’ ही लग रहा है, क्योंकि— 1. वचनों को ही संसार-ताप दूर करके शीतलता देने वाले स्थान-स्थान पर कहा गया है, 2. छन्दानुरोध से भी ‘वाच’ ही उपयुक्त लगता है, क्योंकि नीचे की पंक्ति में ‘साँच’ आया है। 3. पूरे छन्द का अर्थ इससे ही सही बैठता है। इससे ऐसा भी लगा कि यदि पूजा-पाठ की पुस्तकों का वैज्ञानिक पाठ-सम्पादन किया जाए तो इसी प्रकार की और भी अनेक महत्त्वपूर्ण भूलें दूर हो सकती हैं।

चातुर्मास स्थापना का महत्त्व

चारित्र्यचक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागरजी महाराज कहा करते थे कि जबतक साधु और श्रावक दोनों मिलते रहेंगे, तबतक जिनधर्म की प्रभावना का रथ निर्बाधरूप से चलता रहेगा, उसमें किसी प्रकार की कोई बाधा नहीं आयेगी, अपितु उससे जैनधर्म की और अधिक अभिवृद्धि होगी। वे कहते रहते थे— ‘साधुसंघोऽस्तु मंगलं, श्रावकसंघोऽस्तु मंगलं’।

सच है, धर्म की प्रभावना के लिए साधु और श्रावक दोनों का मिलन बहुत आवश्यक होता है, क्योंकि प्रभावना के कुछ कार्य ऐसे होते हैं जिन्हें साधु ही कर पाते हैं, श्रावक नहीं और कुछ कार्य ऐसे होते हैं जिन्हें श्रावक ही कर पाते हैं, साधु नहीं।

परन्तु समस्या तो यह है कि साधु और श्रावक— इन दोनों का एक साथ मिलन हो तो कैसे हो? यह तो बड़ा ही दुष्कर कार्य है। साधु तो पूर्णनिवृत्ति की भावना वाले और सतत विहारी होते हैं, कभी भी 3-4 दिन से अधिक एक स्थान पर रुकते ही नहीं हैं। जबकि श्रावक नाना-प्रवृत्तियों में फँसा हुआ रात-दिन अपने घर-व्यापार में उलझा रहता है। उसे साधुओं के समागम का समय ही नहीं मिलता।

लेकिन यह चातुर्मास या वर्षायोग की ही विशेष देन है कि इस समय साधु और श्रावक दोनों का चार महीने के लिए एक साथ मिलन हो जाता है। साधु तो इसलिए एक स्थान पर रुक जाते हैं कि इस समय विहार करने में जीवहिंसा बहुत होती है। और श्रावक इसलिए इनके पास आ जाते हैं कि अब वर्षा के कारण व्यापार-धन्धे, शादी-विवाह आदि के बहुत काम कम हो जाते हैं।

इस प्रकार चातुर्मास के अवसर पर साधु और श्रावक दोनों का चार मास के लिए स्थाई-सा मिलन हो जाता है और इसीलिए इस अवसर पर धर्म की महती प्रभावना होती है, इतिहास में पहले भी हुई है व आगे भी होगी और यही इस चातुर्मास स्थापना का बड़ा भारी महत्त्व है।

आज का समय विज्ञान का समय है और जैन दर्शन भी एकदम वैज्ञानिक दर्शन है, उसका समस्त आचार और विचार आधुनिक विज्ञान के द्वारा बार-बार पुष्ट हो रहा

है। आवश्यकता इस बात की है कि आज हम अपनी ऊर्जा को फालतू के या हल्के-फुल्के कार्यक्रम करके नष्ट न करें, अपितु जैनदर्शन के ठोस प्रचार-प्रसार हेतु श्रेष्ठ व्याख्यानों, शिविरों और कार्यशालाओं का आयोजन करें, ताकि हमारी नई पीढ़ी जैनदर्शन को भलीभाँति समझकर स्वीकार कर सके।

आज लोगों में साम्प्रदायिक कट्टरता भी कम हुई है और लोग दूसरे धर्म-दर्शनों को भी सद्भाव के साथ पढ़ना-समझना चाह रहे हैं। ऐसी स्थिति में यदि हम जैनदर्शन के अहिंसा, अनेकान्त, स्याद्वाद, अपरिग्रह, आत्मा, परमात्मा, कर्म, लोक आदि विषयों को भलीभाँति प्रतिपादित करें तो जैनतर बन्धु भी जैनदर्शन से परिचित एवं प्रभावित हो सकते हैं, और यही जैनदर्शन की सच्ची प्रभावना है।

चातुर्मास के अवसर पर हस्तलिखित प्राचीन जैन ग्रन्थों के सम्पादन-अनुवादादि के कार्य भी किये जा सकते हैं। इनसे स्व एवं पर —दोनों का परमकल्याण होता है।

चातुर्मास के अवसर पर ‘प्राकृतभाषा’ के अध्ययन-अध्यापन की भी कोई सुन्दर योजना चलाई जा सकती है, चलानी ही चाहिए। इससे जैनसंस्कृति का संरक्षण-संवर्धन होगा।

ध्यान रखने की बात यह है कि हमारे सभी कार्यक्रम अनुशासित और स्तरीय होने चाहिए। हल्के कार्यक्रमों से धर्म और समाज को यश की बजाय अपयश मिलता है।

आशा है, सभी लोग इन महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं की ओर ध्यान देंगे। इनके अनुपालन से चातुर्मास स्थापना के अवसर को स्वर्णिम बनाया जा सकता है, चिर स्मरणीय बनाया जा सकता है। ❖❖

स्वाध्यायः परमं तपः

शास्त्रों में परम तप आदि कहकर स्वाध्याय की महिमा बताई गई है, मात्र अध्ययन की नहीं। स्वाध्याय और अध्ययन में बड़ा अंतर है। ‘स्वाध्याय’ शब्द में एक अलग ही भाव है, जो ‘अध्ययन’ में नहीं आता। ‘अध्ययन’ तो कोई भी कैसे भी कर लेता है, पर ‘स्वाध्याय’ स्व को समझने की भावना से ही किया जाता है, आत्मकल्याण की विशुद्ध भावना से ही किया जाता है। अनेक विद्वान पंडित रात-दिन शास्त्र पढ़ने वाले मिल जाएंगे, पर जरूरी नहीं कि वह स्वाध्याय हो। बहुत लोग आजीविका, पुरस्कार, मनोरंजन, परीक्षण, उपाधि आदि के लिए कोई पुस्तक पढ़ते हैं, पर वह ‘अध्ययन’ है, ‘स्वाध्याय’ नहीं। स्वाध्याय तो समीचीन शास्त्र अर्थात् जिनवाणी का ही होता है। वह भी श्रद्धापूर्वक और आत्मकल्याण की विशुद्ध भावना से ही होता है। उसमें अन्य कोई लौकिक कामना नहीं होती। उसे तो बड़ी ही अंतरंग-बहिरंग पवित्रता से किया जाता है। हमें प्रतिदिन ऐसा ‘स्वाध्याय’ अवश्य करना चाहिए।

भ्रष्टाचार समाप्त करने की समीचीन विधि

भ्रष्टाचार की हालत आज ऐसी हो रही है कि— तू डाल-डाल में पात-पात। सरकार कितनी भी कोशिश करती है उसे मिटाने की, पर वह वहाँ से भी रास्ता निकालकर फिर पनपने लगता है। कथमपि मिटने का नाम ही नहीं ले रहा है। नीति-निर्धारक ही टेंशन में आ गये हैं। उन्हें समझ नहीं आ रहा कि क्या किया जाए।

यही कारण है कि हमारे दिव्यज्ञानी ऋषि-मुनियों ने हमसे कहा है कि सुनो, प्रथम तो भ्रष्टाचार को इस दुनिया से पूरी तरह समाप्त ही नहीं किया जा सकता, सम्भव ही नहीं है। यह दुनिया है, यह ऐसी ही है, ऐसी ही थी और ऐसी ही रहेगी। संसार को मोक्षधाम में नहीं बदला जा सकता। यह अच्छी तरह समझ लो और बहुत अधिक टेंशन में मत आओ, अपना धैर्य कदापि मत खोओ। यदि हममें से कोई व्यक्ति सचमुच ही भ्रष्टाचार को इस दुनिया से पूरी तरह समाप्त करना चाहता है तो वह गलत है, अज्ञानी है।

इसी प्रकार किसी कठोर आदेश या अस्त्र-शस्त्रादि से भी भ्रष्टाचार के समूल नाश की कल्पना करना कल्पनामात्र ही है। डंडे के बल पर कभी रामराज्य नहीं आता। जबरदस्ती किसी से कुछ नहीं कराया जा सकता।

तथा जितना जो कुछ भ्रष्टाचार मिटाया जा सकता है, उसका उत्तम उपाय एक शिक्षा या आत्मानुशासन ही है, अन्य कुछ नहीं है। सम्यग्ज्ञान द्वारा उत्पन्न आत्मानुशासन ही सुशासन (good governance) का सच्चा आधार हो सकता है, अतः हमको अधिक से अधिक शिक्षा के प्रचार पर ध्यान देना चाहिए। जितनी अधिक शिक्षा बढ़ेगी, उतना ही भ्रष्टाचार कम होगा। शिक्षा के द्वारा जब व्यक्ति स्वयं भ्रष्टाचार से स्व और पर—दोनों का भयंकर विनाश अनुभव करेगा, विशेषरूप से अपनी ही महा हानि अनुभव करेगा कि उससे मेरी आत्मा पतित होती है, तब वह स्वतः ही भ्रष्टाचार से मुक्त हो जाएगा।

यही कारण है कि ज्ञानी जन सदा शांतिपूर्वक उपदेश ही देते रहते हैं, आदेश आदि भी कभी नहीं देते। वे समाज-सुधारकों से भी बारम्बार कहते रहते हैं कि—आत्मा ही अपना गुरु है; आत्मा ही अपना शत्रु व मित्र है; समझे तो अपने आप से,

नहीं तो किसी के बाप से; लोटा छन सकता है, कुआँ नहीं, इत्यादि। हमें उनके इन वचनों का मर्म समझना होगा। यही सुशासन (good governance) का आधार है।

सुशासन (good governance) के लिए शस्त्रादि की निरर्थकता तो हमको अवश्य ही समझ लेनी चाहिए। शस्त्रों से कभी भी ऐसे महान कार्यों की सिद्धि नहीं होती। शस्त्रों से सामने वाले को हराया तो जा सकता है, पर जीता नहीं जा सकता। जीतने के लिए प्रेम और करुणा की भाषा ही समर्थ होती है।

अंत में, जिसप्रकार यहाँ भ्रष्टाचार के सम्बन्ध में कहा, उसीप्रकार संसार की सर्व समस्याओं के सम्बन्ध में भी हमें समझ लेना चाहिए और सदैव स्व एवं पर को ज्ञानाराधना में लगाने का उद्यम करना चाहिए।

सुशासन प्रेम से आता है— इस सम्बन्ध में अपभ्रंश भाषा का निम्नलिखित दूहा ध्यान देने योग्य है। इसमें एक कथा के माध्यम से बड़ा ही हृदयस्पर्शी सन्देश दिया गया है। यथा—

“धवल विसूरड़ णियमणड़, गरुआ भरु पिकखेवि ।
हउ किं ण जुत्तउ सामिहो, खंडउ बेई करेइ॥”

अर्थ— एक किसान था। उसके पास दो बैल थे। वह अपने दोनों बैलों को बहुत अधिक प्रेम करता था। उन्हें अपने पुत्र के ही समान समझता था, उन्हें खिलाकर ही खाता था, सुलाकर ही सोता था, उनका पूरा ध्यान रखता था। बैल भी उससे बहुत अधिक प्रेम करते थे। किन्तु एक दिन उनमें से एक बैल की मृत्यु हो गई। दूसरा बैल बहुत उदास था। किसान ने उससे गले लगाकर कहा— मैं समझता हूँ तेरा दुख, सबसे अधिक नुकसान तो तेरा ही हुआ है, साथी तो तेरा बिछुड़ा है, परंतु होनी बलवान है, तू शान्त हो, हमने बहुत मेहनत करके फसल तैयार की है, उसे सिर्फ घर लाना है, आज आज चल, उसे ले आते हैं, फिर कुछ नहीं करेंगे, तू आराम करना, बस। वे दोनों फसल लेने चले गये। गाड़ी में एक ओर किसान स्वयं जुड़ा और दूसरी ओर उस बैल को जोड़ दिया। अपने स्वामी को गाड़ी में जुड़ते हुए देखकर उस बैल ने, जिसका नाम किसान ने प्यार से ‘धवल’ रखा था, रोते हुए कहा— हे स्वामी! आप गाड़ी में क्यों जुड़े हो, मुझसे देखा नहीं जा रहा, काश मेरे ही दो टुकड़े करके दोनों ओर जोड़े जाते।

सत्य है, समस्याएँ हृदय-परिवर्तन से ही समाप्त होती हैं और हृदय-परिवर्तन प्रेम से ही होता है, ज्ञान से ही होता है, अन्य कोई उपाय नहीं है।



दूसरों को जीतनेवाले दुनिया में बहुत मिलेंगे, वह भी हथियारों के बल पर; परन्तु इसे जीतना नहीं कहते, जीतना है तो अपने विकारों को जीतकर बताओ।

स्वाध्याय में गुणवत्ता की वृद्धि करें

‘स्वाध्याय’ की अद्भुत महिमा है। स्वाध्याय ही सारे मोक्षमार्ग का मूलाधार है, क्योंकि स्वाध्याय से ही सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है और फिर उस सम्यग्ज्ञान से सहज ही सम्यक् श्रद्धान और सम्यक् चारित्र होता है, अतः हमारा पुरुषार्थ तो एक स्वाध्याय द्वारा सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति करना ही है। शास्त्रों में बारम्बार स्वाध्याय की महिमा बताकर उसकी प्रेरणा देनेवाले अनेकानेक मर्मस्पर्शी कथन उपलब्ध होते हैं, अतः हमें अपने जीवन में स्वाध्याय पर बहुत अधिक ध्यान देना चाहिए। न केवल ध्यान देना चाहिए, उसमें निरंतर गुणवत्ता (quality) की वृद्धि भी करनी चाहिए। स्वाध्याय में गुणवत्ता बढ़ाने के लिए हमको निम्नलिखित कार्य करना चाहिए—

1. सर्वप्रथम तो हमें स्वाध्याय की उपयोगिता और महत्ता को भलीभांति समझना चाहिए, उसका बारम्बार बहुत गहराई से अनुभव करना चाहिए। इसके बिना स्वाध्याय में गुणवत्ता नहीं आती।
2. इसके साथ ही समय की अल्पता, संयोगों की दुर्लभता और विषयों की असारता का भी गहराई से अनुभव करना चाहिए।
3. इसके बाद शास्त्रों में पाठक/श्रोता के कुछ खास गुण-दोष कहे हैं। उनमें से गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग करना चाहिए। जैसेकि गुण कहे हैं—

“शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा।
स्मृत्यूहापोहनिर्णीतिः श्रोतुरष्टगुणाः विदुः॥”

और दोष कहे हैं—

“आलस्यो मंदबुद्धिश्च सुखिनो व्याधिपीडितः।
निद्रालुः कामुकश्चेति षडैते शास्त्रवर्जिताः॥”

4. इसीप्रकार ज्ञान के आठ अंग कहे हैं— शब्दाचार, अर्थाचार, उभयाचार आदि, उनका पालन करना चाहिए और जो ज्ञानावरण के आस्रव के हेतु कहे हैं— प्रदोष, निह्व, मात्सर्य आदि, उनसे बचना चाहिए।
5. इधर-उधर की हल्की किताबों को छोड़कर प्राचीन मूल ग्रन्थों का अध्ययन विशेष करना चाहिए। वह भी एक बार नहीं, अनेक बार, बारम्बार। कहा है कि—

“शतेनगुणितायाति सहस्रेण तु तिष्ठति ।
सहस्राणां सहस्रेण प्रेत्य चेह च तिष्ठति ॥”

अर्थ— सौ बार पढ़ो तो विद्या आती है, हजार बार पढ़ो तो टिकती है और लाख बार पढ़ो तो अगले जन्म में भी साथ जाती है ।

6. शास्त्रों की कुछ विशेष गाथाओं या श्लोकों को कंठस्थ करने का प्रयास करना चाहिए । खासकर लक्षणादि तो अवश्य ही कंठस्थ कर लेने चाहिए ।
7. उनकी मूल भाषा प्राकृत/संस्कृत का भी ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, ताकि आचार्यों के अभिप्राय को मूल से समझा जा सके । अनुवाद में बहुत बार गलतियाँ हो जाती हैं ।
8. थोड़ा-सा व्याकरण एवं शब्दकोश का भी ज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिए, क्योंकि सही अर्थ का बोध कराने में इनकी बहुत बड़ी भूमिका होती है । ‘शब्दब्रह्मणि निष्णातः परंब्रह्माधिगच्छति’ ।
9. इसी प्रकार अन्य दर्शनों (षड्दर्शनों) का ज्ञान भी बहुत जरूरी है । प्रायः सभी लक्षणादि के कथन अन्य दर्शनों की विवक्षा से ही किए जाते हैं । इस सम्बन्ध में मेरा अन्य लेख ‘अन्य दर्शनों के ज्ञान की आवश्यकता’ पठनीय है ।
10. न्यायशास्त्र का भी प्राथमिक परिचय अवश्य होना चाहिए, क्योंकि उसी से समीचीन तत्त्वज्ञान होता है प्रमाण, नय, निक्षेप को समझे बिना युक्त भी अयुक्त और अयुक्त भी युक्त प्रतीत होता है । (—तिलोपपण्णत्ति 1/82)
11. भाषा, व्याकरण, दर्शन और न्याय के अतिरिक्त यदि हमें साहित्यशास्त्र का भी ज्ञान हो तो इससे भी हमारे स्वाध्याय में गुणवत्ता की बहुत वृद्धि होगी । साहित्यशास्त्र के ज्ञान बिना साहित्यिक ग्रन्थों का सही अर्थ नहीं समझा जा सकता । इस सम्बन्ध में मेरे अन्य लेख ‘साहित्यशास्त्र के ज्ञान की आवश्यकता’ और ‘अलंकारशास्त्र के ज्ञान की आवश्यकता’ पठनीय हैं ।
12. अध्ययन के बाद अधीत विषय का युक्ति लगाकर गहरा चिन्तन-मनन भी अवश्य करना चाहिए । वही तो असली स्वाध्याय है । चिन्तन-मनन-मंथन से ही तो ‘सार’ हाथ लगता है । सुचिन्तित हो तो अक्षरमात्र श्रुतज्ञान ही केवलज्ञान देने में समर्थ है । वाचन से पाचन महान है ।
13. स्वाध्याय करते समय अपने समस्त पूर्वाग्रह, दुराग्रहों को छोड़कर एकदम ईमानदारी से निष्पक्षतापूर्वक बात को समझने का प्रयास करना चाहिए । मन में कोई भय या आशा नहीं रखनी चाहिए ।
14. समझी हुई बात को किसी अन्य मित्रादिकों को समझाने का प्रयास भी करना चाहिए । अथवा उसे व्यवस्थित निबन्धादि के रूप में लिखने का प्रयास करना

चाहिए। इससे भी हमारा ज्ञान बहुत निर्मल होता है।

15. बड़े-बड़े विद्वानों के व्याख्यान सुनने चाहिए, उनकी सेवा करके उनका प्रसाद अर्जित करना चाहिए, उनकी संगति करके उनसे गहन तत्त्वचर्चा भी करनी चाहिए।
16. विशुद्ध आत्मकल्याण की भावना से ही स्वाध्याय करना चाहिए। उसके पीछे अन्य कोई लोकैषणा (धन, मान आदि की इच्छा) नहीं रखनी चाहिए।
17. शास्त्रों में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की शुद्धिपूर्वक स्वाध्याय की प्रेरणा दी गई है। हमें उस बात को भी ठीक से समझकर उसका भी पालन करना चाहिए।
18. स्वाध्याय में नियमितता, एकाग्रता, विनम्रता, उत्साह आदि गुण भी अवश्य होने चाहिए। जिसप्रकार एक बूंद जल से गर्म लोहा ठंडा नहीं होता, किन्तु यदि वह एक-एक बूंद भी नियमित गिरती रहे तो वह ठंडा हो जाता है, उसीप्रकार अल्प स्वाध्याय भी यदि नियमित किया जाए तो मोहताप दूर हो जाता है।
19. आरम्भ, परिग्रह, व्यापारादि कार्यों में बहुत अधिक नहीं उलझना चाहिए।
20. इधर-उधर का फालतू/बेकार पढ़कर या देखकर अपने दिमाग में कूड़ा नहीं भरना चाहिए।
21. पुनश्च, स्वाध्याय अनेक प्रकार से किया जाता है— कभी स्वयं पढ़कर, कभी दूसरे से सुनकर, कभी सभा में सुनकर, इत्यादि। सबके कुछ अलग-अलग विशेष गुण होते हैं, उनका भी पालन जरूरी है। जैसे— सभा में सुनना हो तो समय से पूर्व पहुँचना, आगे मुख्य स्थान पर बैठना ('स्थानप्रधानेन बलप्रधानं') आदि से स्वाध्याय में बड़ी गुणवत्ता आती है।

स्वाध्याय की अद्भुत महिमा

शास्त्रों में स्वाध्याय की महिमा बताने वाले अनेक महत्त्वपूर्ण कथन उपलब्ध होते हैं। हमें उनका भी बार-बार चिन्तन करना चाहिए। यथा—

1. 'तिलोक्कसारं पि सुदलाहं।' —तिलोयपण्णत्ति, 637
अर्थ— तीन लोक में श्रुतलाभ ही सार है।
2. 'कंठगदेहि वि पाणे साहुणा आगमो हु कादव्वो।' —भगवती आराधना, 151
अर्थ— प्राण कंठ में आ जाएँ तब भी स्वाध्याय करना चाहिए।
3. 'अज्झयणमेवज्झाणं पंचेंदियणिग्गहं कसायं पि।
तत्तो पंचमकाले पवयण-सारब्बासमेव कुज्जाहो।' —रयणसार, 90
अर्थ— अध्ययन ही ध्यान है। उसीसे पंचेंद्रियों व कषायों का निग्रह होता है। अतः इस पंचम काल में 'प्रवचनसार' का ही अभ्यास करने योग्य है।

4. 'जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादिहिं बुज्झदो णियमा ।
खीयदि मोहोवचओ तम्हा सत्थं समधिदव्वं ।' —प्रवचनसार, 86
जिनशास्त्रों से प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा पदार्थों का स्वरूप जानने वाले के नियम से मोह क्षय होता है, अतः समीचीन रूप से स्वाध्याय करना चाहिए ।
5. 'आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा ।' —प्रवचनसार, 232
आगम में प्रवृत्ति करना ही सर्वश्रेष्ठ कार्य है ।
6. 'स्वाध्यायः परमं तपः ।'
अर्थ— स्वाध्याय ही उत्कृष्ट तप है ।
7. 'ण वि अत्थि ण वि य होहिदि सज्झायसमं तवोकम्मं ।' —भगवती आराधना, 107
अर्थ— स्वाध्याय से बड़ा तप न है, न होगा ।
8. 'जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूदं ।' —दंसणपाहुड, 17
अर्थ— यह जिनवचनरूपी औषध विषयसुख का विरेचन करने वाली अमृतभूत वस्तु है ।
9. 'सूई जहा ससुत्ता णासदि सुत्ते सहा णो वि ।' —सुत्तपाहुड, 3
अर्थ— जिसप्रकार डोरा सहित हो तो सूई नहीं खोती, उसीप्रकार यदि हम सूत्र-सहित रहें तो नष्ट नहीं होंगे ।
10. 'विणएण सुदमधीदं' —मूलाचार (विनयपूर्वक किया गया स्वाध्याय विस्मृत हो तो भी अगले जन्म में श्रुतकेवली-केवली बना देता है ।)
11. 'न शीतलाश्चन्दनचन्द्रश्मयः.....' —बृहत्स्वयंभूस्तोत्र, 46
अर्थ— चन्दन, चन्द्र, गंगाजल, मोतीमाल आदि भी आत्मा को शीतलता नहीं दे सकते, एकमात्र जिनवचन ही दे सकते हैं ।
12. 'मनः प्रसाद्यं श्रुतैरमृतैः ।' —रत्नकरंड श्रावकाचार
अर्थ— मन को श्रुतरूपी अमृत से प्रसन्न रखना चाहिए ।
13. 'शास्त्राभ्यासो जिनपतिनुतिः.....' —शांतिपाठ (हे भगवन्! मैं नित्यप्रति स्वाध्याय करता रहूँ, एक भी दिन स्वाध्याय के बिना व्यतीत न हो ।)
14. 'श्रुतस्कन्धे धीमान् रमयतु मनोमर्कटममुम् ।' —आत्मानुशासन, 170
अर्थ— मन बन्दर के समान है, इसे अमृतफलों से भरपूर श्रुतस्कन्ध पर लगा दो ।
15. 'जा वाणी के ज्ञान तें, सूझे लोकालोक ।' —जिनवाणी-स्तुति
अर्थ— जिनवाणी के ज्ञान से समस्त लोकालोक दिखाई देने लगता है । ❖❖

महाकवि पंडित दौलतराम कासलीवाल के अनुसार स्वाध्याय का स्वरूप और प्रयोजन

जिनागम के प्रचार-प्रसार में महाकवि पण्डित दौलतराम कासलीवाल का योगदान अत्यधिक महत्वपूर्ण है। आदिपुराण, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण, परमात्मप्रकाश आदि विशालकाय ग्रन्थों की सरल-सुबोध भाषावचनिकाएँ लिखकर और विवेक-विलास, अध्यात्म-बारहखड़ी, जीवन्धर-चरित आदि अनेक अनूठे मौलिक ग्रन्थ तैयार कर उन्होंने सम्पूर्ण जनता पर अनुपम उपकार किया है। उनका जन्म विक्रम संवत् 1749 में आषाढ़ कृष्ण चतुर्दशी को जयपुर (राजस्थान) जिले के बसवा नामक ग्राम में हुआ था। उनका साहित्य-रचना-काल वि. सं. 1777 से 1829 है। लगभग 52 वर्ष की इस अवधि में उन्होंने निरन्तर साहित्य-साधना में जुटे रहकर 19,000 श्लोक-प्रमाण गद्य-रचना की, विपुल पद्य रचना इसके अतिरिक्त है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह उनका असाधारण प्रदेय है। उनके समकालीन जैन-लेखकों में पण्डित टोडरमल, पण्डित जयचन्द छाबड़ा, पण्डित दीपचन्द कासलीवाल और महाकवि भूधरदास के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

पण्डित दौलतराम कासलीवाल की अनेक अनूठी मौलिक रचनाओं में एक है—‘क्रियाकोष’। इसकी रचना महाकवि ने उदयपुर में भाद्रपद शुक्ल द्वादशी वि.सं. 1795 को पूर्ण की थी। यह कुल 2525 (387+2138) छन्दों में बद्ध एक आचार-प्रधान बड़ी रचना है, जिसमें जिनशास्त्रों में वर्णित 53 क्रियाओं का निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक बहुत सूक्ष्म, स्पष्ट, सरल और आगमानुकूल विवेचन किया गया है। 8 मूलगुण, 12 व्रत, 12 तप, 1 सम्यक्त्व, 11 प्रतिमाएँ, 4 दान, 1 जलगालनविधि, 1 रात्रिभोजनत्याग और 3 रत्नत्रय —ये जिनशास्त्रों में वर्णित 53 क्रियाएँ हैं।

प्रस्तुत निबन्ध में हमें उक्त ‘क्रियाकोष’ के आधार से 29वीं क्रिया स्वाध्याय के स्वरूप और प्रयोजन पर प्रकाश डालना अभीष्ट है।

स्वाध्याय द्विविध है— निश्चयस्वाध्याय और व्यवहारस्वाध्याय। आत्म-स्वरूप को देखना निश्चयस्वाध्याय है और जिनेन्द्र-कथित आगम-अध्यात्मरूप सिद्धान्तों को भक्तिपूर्वक पढ़ना व्यवहारस्वाध्याय है। ये दोनों स्वाध्याय मुनि और श्रावक दोनों के

ही यथायोग्य होते हैं—

“लखिवौ आतम भाव कौ, सो स्वाध्याय बखानि ।
मुनि श्रावक दोऊनि कौ, यह परमारथ जानि ॥ 502 ॥”
“आगम अध्यातममई, जिनवर कौ सिद्धान्त ।
ताहि भक्ति करि जो पढ़ै, सो स्वाध्याय सुकान्त ॥ 483 ॥”

व्यवहारस्वाध्याय के मुख्यतः पाँच भेद हैं— वाँचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आमनाय और धर्मोपदेश । ग्रन्थों को पढ़ना वाँचना है, उनके बारे में विधिपूर्वक पूछना पृच्छना है, स्पष्ट प्रतीति के लिए उनका बार-बार विचार करना अनुप्रेक्षा है, जान लेना (याद करना/पाठ करना) आमनाय है, आगमानुकूल धर्मकथन करना धर्मोपदेश है—

“भेद पंच स्वाध्याय के, उपाध्याय भाषेहि ।
जे धारैं ते शांतधी, आतमरस चाखेहि ॥
कही वाचना पृच्छना, अनुप्रेक्षा गुरुदेव ।
आमनाय फुनि धर्म कौ, उपदेशौ बहुभेव ॥ 487 ॥
ग्रंथ वाचवौ वाचना, पृच्छना पूछन रीति ।
बारंबार विचारिवौ, अनुप्रेक्षा परतीति ॥ 488 ॥
आमनाय कौ जानिवौ, जिनमारग की वीर ।
धर्मकथन करिवौ सदा, कहै धर्मधर धीर ॥ 489 ॥”

ध्यान रहे, व्यवहार स्वाध्याय भी जिनेन्द्र-कथित आगाम-अध्यात्म रूप वीतरागी सिद्धान्तों के अध्ययन का ही नाम है, राग-द्वेष पोषक अशास्त्रों का नहीं । जो जीव राग-द्वेष-पोषक अथवा युद्धकथा-कामकथा आदि के निरूपक ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं, उन्हें धर्म की प्राप्ति नहीं होती—

“राग-द्वेषकरि परिणम्युं, करै असूत्र अभ्यास ।
सो पावै नहिं धर्म कौ, करै न कर्म विनास ॥ 498 ॥
युद्धकथा कामादिका, कुकथा चावै मूढ़ ।
लोक-रिझावन कारणें, सो पद लहै न गूढ़ ॥ 499 ॥”

त्रिकालज्ञ जिनेन्द्रदेव कहते हैं कि यह स्वाध्याय सर्व तपों में शीर्षस्थ है—

“सुनों सुबुद्धि कान धरि, दसमो तप स्वाध्याय ।
सर्व तपनि मैं है सिरै, भाषैं त्रिभुवनराय ॥ 479 ॥”

स्वाध्याय, दुःखकारी सर्व विकल्पों का नाश करके निर्विकल्प दशा की प्राप्ति कराता है, स्वाध्याय का फल केवल परमार्थ की प्राप्ति है—

“दुष्ट विकल्पनिकों भया, जो नासन समरत्थ ।
सौ पावै स्वाध्याय कों, फल केवल परमत्थ ॥ 481 ॥”

अतः जो केवल आत्मार्थ की भावना से शास्त्रों का अध्ययन करता है, किसी पूजा-प्रतिष्ठा आदि की चाह उससे नहीं रखता, वही तत्त्वज्ञान की प्राप्ति करता है—

“केवल आत्म अर्थ जो, करै सूत्र अभ्यास ।
अपनी पूजा नहिं चहै, पावै तत्त्व अध्यास ॥ 484 ॥”

जो व्यक्ति तत्त्व का भलीभाँति निर्णय करने के लिए शुद्ध स्वाध्याय करता है वह आत्मलीनता द्वारा आत्मवैभव को प्राप्त करता है—

“तत्त्व सुनिश्चै कारनें, करै शुद्ध स्वाध्याय ।
सिद्धि करै निजऋद्धि कों, सो आत्म लव लाय ॥ 482 ॥”

जो व्यक्ति अपने कर्मकलंक को काटने के लिए निरन्तर धर्मबुद्धिपूर्वक शास्त्रों का अध्ययन करता है, वह अवश्य अष्ट कर्मों का नाश कर सिद्ध पद की प्राप्ति करता है—

“अपने कर्मकलंक के, काटन कों श्रुतपाठ ।
करै निरन्तर धर्मधी, नासै कर्म जु आठ ॥ 485 ॥”

इसके विपरीत, जो व्यक्ति जगत् की अभिलाषा रखकर जिनशास्त्रों का अध्ययन करता है और अपने शास्त्रज्ञान का घमण्ड करता है, वह चतुर्गतिरूप संसार में ही भ्रमण करता है—

“जो सेवै जिनसूत्रकों, जग अभिलाष धरेय ।
गर्व धरै विद्यातनों, सो चउगति भरमेय ॥ 491 ॥”

जो व्यक्ति मान-बढ़ाई के लिए शास्त्रों का अध्ययन करता है वह मूर्ख है, उसे तत्त्वज्ञान की प्राप्ति नहीं होती, अपितु कर्म का ही बन्ध होता है—

“मान बढ़ाई कारनें, जे श्रुति सेवै अंध ।
ते नहिं पावै तत्त्वकों, करें कर्म कौ बंध ॥ 494 ॥”

अहो! अमृत तो सर्वरोगनाशक और अजरामत्व प्रदान करनेवाला है, किन्तु जिसे अमृत भी विषरूप सिद्ध हो जाए, उसे अन्य क्या उपाय हो सकता है? कुछ नहीं। वह तो मरेगा ही। उसीप्रकार जिनशास्त्र तो मानादि सर्व कषायों का हरण करनेवाले हैं, किन्तु जो जीव उन्हीं के द्वारा मानकषाय का पोषण करते हैं, उनके लिए अन्य क्या उपाय हो सकता है? कुछ नहीं। वे तो संसार में भ्रमण करेंगे ही। देखिये—

“जैनसूत्र मद मान हर, ताकरि गर्वित होय ।
ताहि उपाय न दूसरौ, भ्रमैं जगत में सोय ॥ 495 ॥

अमृत विषरूपी भयौ, जाकौ और इलाज ।
कहौ कहा जु बताइये, भाषै पंडितराज ॥ 496 ॥”

अतः शास्त्रज्ञान से घमण्ड कभी नहीं करना चाहिए । जो लोग ऐसा सोचते हैं कि हम विपुल शास्त्रों के अध्येता हैं, बड़े पंडित हैं, शास्त्रों के अर्थों को जानते हैं और देखो तो सही, लोग हमारी सेवा ही नहीं करते; वे पण्डित नहीं हैं । पण्डित तो वस्तुतः वह होता है जो आत्मभाव में रमण करता है—

“हम पंडित बहुश्रुत महा, जानै सकल जु अर्थ ।
हमहिं न सेवै मूढधी, देखो बड़ौ अनर्थ ॥ 492 ॥
इहै वासना जो धरै, सो नहिं पण्डित कोइ ।
आतमभावे जो रमै, सो बुध पण्डित होइ ॥ 493 ॥”

जो पण्डित या स्वाध्यायी आत्मज्ञान में प्रवीण है, स्व-पर के भेद को अच्छी तरह जानता है, वह सचमुच तीनों लोकों का स्वामी (ज्ञाता) है और शान्तरस में लीन रहने के कारण सदासुखी है—

“जानै निज पर भेद जो, आतमज्ञान प्रवीन ।
सो स्वामी सब लोक कौ, सदा सांतरसलीन ॥ 501 ॥”

इसप्रकार हमें स्वाध्याय के समीचीन स्वरूप, महत्त्व एवं प्रयोजन को पहिचान कर स्वाध्याय में दत्तचित्त होना चाहिए । ❖❖

मन्दिर अवश्य जाना चाहिए

ज्ञानी जीव प्रायः आध्यात्मिक कारणों से ही मन्दिर जाते हैं, जैसा कि हम सब सामान्यतः कहते-जानते ही हैं; किन्तु मन्दिर जाने के कुछ अन्य सामाजिक आदि कारण भी होते हैं और कभी-कभी ज्ञानी जीव उन कारणों से भी मन्दिर जाया करते हैं । जैसे कि हमारे पूर्वजों द्वारा निर्मित ये सभी चैत्य-चैत्यालय हमारी अनमोल विरासत हैं, इन्हीं के आधार से धर्म है, हम सब हैं, हमारी संस्कृति है, अतः ये हर हालत में सुरक्षित रहने चाहिए । यदि हम नहीं जाएँगे तो लोग इन्हें हड़प लेंगे अथवा ये खराब हो जाएँगे; अतः हमें इनमें अवश्य जाना चाहिए और यथाशक्ति तन-मन-धन लगाकर इनकी सेवा करना चाहिए । इनकी पूर्ण देखभाल करना, रक्षा करना हमारा परम दायित्व है । कभी-कभी कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि मुझे नहीं जाना मन्दिर, मुझे उसकी जरूरत नहीं है, मैं तो घर में ही धर्मध्यान कर लेता हूँ, उन्हें थोड़ा इस दृष्टि से भी चिन्तन करना चाहिए ।

एक दिन मैं अपने एक परिचित डॉक्टर से मिलने सफदरजंग अस्पताल गया । वहाँ बहुत अधिक भीड़ थी, बड़ी मुश्किल से उन तक पहुँचना हो सका । पहुँचते ही मैंने पूछा— क्या बात है डॉक्टर साहब, सुबह-सुबह इतनी अधिक भीड़ हो रही है? वे बोले— अरे, जैन साहब! पहले लोग सुबह उठकर मंदिर जाया करते थे, वहाँ बहुत भीड़ हुआ करती थी । अब जब से वहाँ भीड़ कम होने लगी है तब से यहाँ भीड़ बढ़ गई है ।

महाकवि पण्डित दौलतराम कासलीवाल के अनुसार

प्रायश्चित्त का स्वरूप

जिनागम के प्रचार-प्रसार में महाकवि पण्डित दौलतराम कासलीवाल का योगदान अत्यधिक महत्वपूर्ण है। आदिपुराण, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण, परमात्मप्रकाश आदि विशालकाय ग्रंथों की सरल-सुबोध भाषावचनिकाएँ लिखकर और विवेक-विलास, अध्यात्म बारहखड़ी, जीवन्धर-चरित आदि अनेक अनूठे मौलिक ग्रंथ तैयार कर उन्होंने सम्पूर्ण जनता पर अनुपम उपकार किया है। उनका जन्म विक्रम संवत् 1749 में आषाढ़ कृष्ण चतुर्दशी को जयपुर (राजस्थान) जिले के 'बसवा' नामक ग्राम में हुआ था। उनका साहित्य-रचना-काल विक्रम संवत् 1777 से 1829 है। लगभग 52 वर्ष की इस अवधि में उन्होंने निरन्तर साहित्य-साधना में जुटे रहकर 19,000 श्लोक-प्रमाण गद्य-रचना की। विपुल पद्य-रचना इसके अतिरिक्त है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह उनका असाधारण प्रदेय है। उनके समकालीन जैन लेखकों में पण्डित टोडरमल, पण्डित जयचन्द छाबड़ा, पण्डित दीपचन्द कासलीवाल और महाकवि भूधरदास के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

पण्डित दौलतराम कासलीवाल की अनेक अनूठी मौलिक रचनाओं में एक है— 'क्रियाकोष'। इसकी रचना महाकवि ने उदयपुर में भाद्रपद शुक्ला 12 विक्रम संवत् 1795 को पूर्ण की थी। यह कुल 2525 (387+2138) छन्दों में बद्ध एक आचार-प्रधान बड़ी रचना है, जिसमें जिनशास्त्रों में वर्णित 53 क्रियाओं का बहुत सूक्ष्म, स्पष्ट, सरल और आगमानुकूल विवेचन किया गया है। 8 मूलगुण, 12 व्रत, 12 तप, 1 सम्यक्त्व, 11 प्रतिमाएँ, 4 दान, 1 जलगालनविधि, 1 रात्रिभोजनत्याग और 3 रत्नत्रय— ये जिनशास्त्रों में वर्णित 53 क्रियाएँ हैं।

प्रस्तुत निबन्ध में हमें उक्त 'क्रियाकोष' के आधार से 27वीं क्रिया प्रायश्चित्त पर प्रकाश डालना अभीष्ट है। यह प्रायश्चित्त बारह तपों में से एक तप है।

विवेकी पुरुष मन से, वचन से अथवा काया से कोई भी अनुचित कार्य न तो स्वयं करते हैं, न कभी किसी अन्य से कराते हैं और न ही कभी किसी के अनुचित कार्य की अनुमोदना करते हैं; वे तो निरुपाधि, निर्दोष व आनन्दस्वभावी शुद्धात्मा में ही परमसमाधि धारण करते हैं—

“दोष न करई आप जो, करवावै न कदापि ।
दोषतनी अनुमोदना, करै नहीं बुध क्वापि ॥ 442 ॥
मन वच तन करि गुणमई, निरदोषी निरुपाधि ।
आनंदी आनंदमय, धारै परम समाधि ॥ 443 ॥”

तथापि यदि कदाचित् प्रमादवश उन्हें कोई दोष लग भी जावे तो वे उसमें किसी प्रकार का दुराव-छिपाव नहीं करते और उसे बड़े सरल हृदय से साफ-साफ अपने श्रीगुरु को बता देते हैं कि हे स्वामी ! मुझसे यह अपराध हो गया है, कृपया मुझे दण्ड दीजिये—

“अथवा कदै प्रमादतें, किंचित् लागै दोष ।
तौ अपने औगुण सुधी, नहिं गोपै व्रतपोष ॥ 444 ॥
श्रीगुरु पास प्रकाशई, सरल चित्त करि धीर ।
स्वामी लाग्यौ दोष मुझ, दंड देहु जगवीर ॥ 445 ॥”

इस पर श्रीगुरु उन्हें जो भी दण्ड देते हैं, वे उसे बिना किसी शंका अथवा विकल्प के श्रद्धापूर्वक ग्रहण कर लेते हैं, उसमें कभी भूलकर भी ऐसा विचार नहीं करते कि अरे, अपराध तो अल्प ही था, पर श्रीगुरु ने दण्ड बड़ा दे दिया है—

“ऐसी मन में ना धरै, अल्प हुतौ यह दोष ।
दियौ दंड गुरु ने महा, जाकरि तन को सोष ॥ 447 ॥
सबै त्यागि शंका सुधी, सकल विकलपा डारि ।
प्रायश्चित्त करै तपा, गुरु आज्ञा अनुसारि ॥ 448 ॥”

इसके बाद वे विवेकी पुरुष उस अपराध का मन-वचन-काय से पूर्णतः त्याग कर देते हैं; भविष्य में कभी उसकी इच्छा तक नहीं करते, चाहे शरीर के सौ टुकड़े ही क्यों न हो जायें—

“बहुरि न इच्छै दोष कों, त्यागै मन वच काय ।
देहतने सौ टूक हवै, तौहू न दोष उपाय ॥ 449 ॥”

ज्ञानी जीवों की यह उपर्युक्त क्रिया ही प्रायश्चित्त कहलाती है। सच तो यह है कि ज्ञानी के दोषों का लगना ही कठिन है, क्योंकि ज्ञानी सदा निज ज्ञानस्वरूपी, अनुपम, चेतनतामंडित, विमल व सकल लोक के भूप (ज्ञाता) शुद्धात्मा का ही चिन्तन करते हैं, उसी को बार-बार देखते हैं, उसे ही बार-बार जानते हैं और उसी का बार-बार अनुभव करते हैं। ज्ञानी विकथाओं, विषयकषायों से बहुत विरक्त रहते हैं। हे मित्र! तुम्हीं बताओ, ऐसे ज्ञानी के कोई भी दोष कैसे उत्पन्न हो सकते हैं? देखिये—

“जो चितवै निजरूप कों, ज्ञानस्वरूप अनूप ।
चेतनता-मंडित विमल, सकल लोककौ भूप ॥ 451 ॥

बार-बार ही निज लखे, जानें बारंबार ।
 बार-बार अनुभव करै, सो ज्ञानी अविहार ॥ 452 ॥
 विकथा विषै-कषाय तें, न्यारो वरतै संत ।
 ता विरकत के दोष कहु, कैसे उपजै मित ॥ 453 ॥”

जो पुरुष इस दोषपरिहाररूप प्रायश्चित्त को धारण करता है, वह वास्तविक निजपुर में पहुँचकर अपनी शाश्वत-निधि को प्राप्त करता है—

“दोषतनों परिहार जो, कहिए प्रायश्चित्त ।
 धरै सो निजपुर लहै, गहै सासतो वित्त ॥ 455 ॥”



क्या चाय पीनी चाहिए?

आज कक्षा में कुछ छात्रों ने मुझसे पूछा कि चाय पीनी चाहिए या नहीं। पहले तो मैंने बात को टालना चाहा कि यह प्रश्न पाठ्यक्रम से बाहर का है, किन्तु आग्रह करने पर मैंने कहा कि देखो, सुनो, मैं चाय बिलकुल नहीं पीता हूँ, कभी भी नहीं पीता हूँ, कभी कोई थकान आदि का बहाना करके भी नहीं पीता हूँ और मेरा यह अनुभव मेरे लिए बहुत ही अच्छा रहा है। आज मैं कहीं भी जाता हूँ तो मुझे बड़ी निराकुलता रहती है, जबकि लोग चाय की वजह से ही बड़े अशांत से रहते हैं, उसके बिना उन्हें अनेक तरह की परेशानियाँ होने लगती हैं; अतः मेरे हिसाब से तो चाय के चक्कर में नहीं पड़ना ही समझदारी है। जो व्यक्ति चाय नहीं पीता वह चौबीस घंटे कुछ भी खाए-पिए बिना शान्ति से व्यतीत कर सकता है, उसे यात्रा आदि सभी कार्यों में बड़ी स्वाधीनता बनी रहती है।

इसके बाद एक छात्र ने पूछा— यदि कभी-कभी पी लो तो क्या दिक्कत है? मैंने कहा— भाई, ये ‘कभी-कभी’ क्या होता है? इस ‘कभी-कभी’ के चक्कर में ही तो बहुत गड़बड़ होती है, चीजें व्यसन बन जाती हैं। ‘कभी-कभी’ का तो सिर्फ नाम होता है, पर ‘कभी-कभी’ करता कौन है? फिर तो बस सब शुरू हो जाते हैं। इसलिए ऐसी शिथिलता की बातें मैं पसंद नहीं करता।

इसके बाद फिर एक छात्र ने पूछा— तब तो आपको चाय पीनेवाले लोग बुरे लगते होंगे? मैंने कहा— देखो, यद्यपि मैं चाय नहीं पीता हूँ, पर अन्य चाय पीनेवालों को बहुत बुरा नहीं मानता हूँ, क्योंकि यह अब सारी दुनिया में ही फैल गई है, बड़ी ही कॉमन चीज हो गई है। अतः मैं तो चाय पीनेवालों के प्रति एकदम मध्यस्थ ही रहता हूँ। कुछ लोग चाय को औषध कहकर उचित सिद्ध करते हैं और कुछ लोग उसे व्यसन अथवा नशाकारक अभक्ष्य में गिनते हैं, पर ये दोनों ही बातें भी मुझे तो अतिवादी-सी लगती हैं।

अन्त में मैंने पुनः छात्रों से कहा— देखो बेटा, तुम नवयुवक हो और आज तुमने मुझसे यह प्रश्न पूछ ही लिया है, तो मेरी तो तुम्हें यही सलाह है कि इस चाय के चक्कर में कभी मत पड़ना, सुखी रहोगे, ठीक से ज्ञानाराधना कर पाओगे।

महाकवि पण्डित दौलतराम कासलीवाल के अनुसार

जल छानने की विधि

“दया दया सब कोउ कहै, मर्म न जानै मूर।
अणछाण्युं पाणी पीवै, ते हि दया तैं दूर॥
दया भली सबही रटै, भेद न पावै कोय।
बरतै अणगाल्यौ उदक, दया कहां तैं होय॥
दया बिना करणी वृथा, यह भाषै सब लोक।
न्हवै अणगाले जलहिं, बाँधै अघ के थोक॥”¹

ये प्रसिद्ध दोहे पण्डित दौलतराम कासलीवाल के ‘क्रियाकोष’ नामक ग्रन्थ से उद्धृत किये गये हैं। इनमें दया का सम्बन्ध छाने पानी से जोड़ते हुए कहा गया है कि सब लोग दया की मीठी-मीठी बातें तो खूब करते हैं, किन्तु दया का मूल रहस्य नहीं जानते। जो लोग अनछना पानी पीते हैं या उसे अन्य किसी काम में लेते हैं अथवा उससे स्नान करते हैं, वे दया से बहुत दूर हैं। उन्हें अनछना पानी पीते हुए दया होगी कहाँ से, वे तो पाप के ढेर बाँधते रहते हैं।

पण्डित दौलतराम कासलीवाल कृत ‘क्रियाकोष’ में इसीप्रकार की अन्य भी बहुत उक्तियाँ आई हैं, साथ ही जल छानने की विधि भी विस्तारपूर्वक समझाई गई है। यहाँ हमें उसी पण्डित दौलतराम कासलीवाल कृत ‘क्रियाकोष’ के अनुसार जल छानने की विधि पर प्रकाश डालना अभीष्ट है।

पण्डित दौलतराम कासलीवाल के अनुसार जल को छानना श्रावक का प्रथम कर्त्तव्य है; अतः उसे सर्व प्रमाद और झुंझलाहट का त्यागकर प्रसन्न मन से विधिपूर्वक जल छानना चाहिए; बिना-छना जल न पीना चाहिए, न पिलाना चाहिए और न किसी काम में लेना चाहिए। बिनाछना पानी पीनेवाले तो धीवर, बागुरों के समान हैं।²

कवि कहता है कि जितना पाप धीवर, बागुर, शिकारी, भील आदि हिंसक लोग पचासों वर्षों में करते हैं, उतना पाप बिनाछना जल काम में लेने वाले एक ही बार में कर लेते हैं, अतः महापाप से डरनवालों को बिना छना जल कभी भी काम में नहीं लेना चाहिए—

“बरतैं मूरख लोग अगाल्यौ नीर जे। तिनकों केतो पाप सुनौ नर धीर जे।
असी बरस लौं पाप करै धीवर महा। अवर पारधी भील वागुरादिक लहा॥

तेतो पाप लहै जु एक ही बार जे । अणछाप्युं बरतै हि वारि तनधार जे ।
ऐसो जानि कदापि अगाल्यो तोय जी । बरतौ मति ता माहिं महा अघ होय जी ॥”³

बिनाछने पानी की एक बूँद में इतने सूक्ष्मातिसूक्ष्म असंख्य जीव होते हैं कि यदि वे भ्रमर के आकार के बन जाएँ तो पूरे जम्बूद्वीप में भी न समा सकें—

“तामै जीव असंखि उडैं हवै भ्रमर ही । जम्बूद्वीप न मायँ जिनेश्वर यों कही ॥”⁴

अतः पानी छानते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि एक बूँद भी बाहर जमीन पर न फैले, अन्यथा असंख्यात जीवों की हिंसा का पाप लगता है—

“छाणत एक हु बूँद मही परि जो परै । भाषै श्री गुरुदेव जीव अगणित मरै ॥”⁵

करुणहृदय पवित्रात्मा जीव तो एक बूँद भी अनछना जल जमीन पर फैल जाने पर प्रायश्चित्त लेते हैं—

“बूँद परै तो ले प्रायश्चित्त । जाके घट में दया पविता ॥”⁶

इसीप्रकार अन्य भी अनेक सावधानियाँ जल छानते समय रखनी चाहिए । यथा जल छानने का छन्ना मांडी-रहित नया, स्वच्छ, पूरी साइज (नाप) का, और सफ़ेद ही होना चाहिए; पुराना, गन्दा, छोटा, पतला और रंगीन नहीं । यथा—

“नूतन गाढै वस्त्र गुड़ी बिनु जो भया । ताकौ गलानो करै चित्त धरि के दया ॥
डेड हाथ लंबो जु हाथ चौरौ गहै । ताहि दूपड़तो करै छांणि जल सुख लहै ॥
वस्त्र पुरानो अवर रंग कौ नातिना । राखै तिन्तै ज्ञानवंत की पांति ना ॥”⁷

जो लोग ओछे छन्ने से पानी छानते हैं, वे अपना अगला जन्म ओछी योनि में ही प्राप्त करते हैं—

“ओछे कपड़े नीर गालही जे नरा । पावैं ओछी योनि कहैं मुनि श्रुतधरा ॥”⁸

अतः छन्ना (पानी छानने का वस्त्र) पूरी साइज का ही होना चाहिए, ताकि उसे दूपड़ता करके अच्छी तरह पानी छाना जा सके । सामान्य छन्ना लगभग डेढ़ हाथ लम्बा और एक हाथ चौड़ा होना चाहिए—

“डेड़ हाथ लंबो जु हाथ चौरौ गहै ।”⁹

बहुत-से लोग धोती, कुर्ता, साड़ी आदि पहने हुए वस्त्रों से पानी छान लेते हैं । यह उचित नहीं है । पानी हमेशा उपर्युक्त प्रकार के छन्ने से ही छानना चाहिए ॥¹⁰

पानी छानने के बाद छन्ने को बड़ी सावधानीपूर्वक छने हुए पानी से ही साफ़ करना चाहिए, अनछने पानी से कभी नहीं—

“छाप्यां जलथी धोय नातणो जो धरै ॥”¹¹

छने पानी से भी छन्ने को रगड़-रगड़ कर नहीं धोना चाहिए, बल्कि उस पर लगी ‘जीवाणी’ का ध्यान रखना चाहिए । जो व्यक्ति जल छानने के बाद ‘जीवाणी’ को

पूरी सावधानी रखकर यथास्थान पहुँचाता है, वह धन्य है—

“जतन थकी मतिवन्त जिवाण्युं जलविषै । पहुँचावै सो धन्य श्रुतविषै यूं लिखै ॥
जा निवाण कौ होय नीर ताही महै । पधरावै बुद्धिवान परम गुरु यों कहै ॥”¹²

बहुत-से लोग पानी छानकर छानने को (चाय आदि की भाँति) चुटकी से दबाकर निचोड़ देते हैं, पर जीवदया के पालन करने वाले को यह भी उचित नहीं है—

“गलना चिहुंटी धरि मति दाबौ, जीवदया को जतन धरावौ ॥”¹³

इसप्रकार जल को अत्यन्त सावधानीपूर्वक छानकर ही काम में लेना चाहिए । ध्यान रहे, इसप्रकार अच्छी तरह छाना हुआ पानी भी दो घड़ी (48 मिनट) बाद अनछना हो जाता है, अतः या तो हमें उसे दो घड़ी पूर्व ही काम में ले लेना चाहिए, अन्यथा उपर्युक्त विधि से पुनः छानना चाहिए—

“द्वै घटिका बीतै जो जाकों, अणछाण्यां को दोष जु ताकों ॥”¹⁴

हाँ, यदि छाने हुए पानी को लोंग आदि डालकर प्रासुक बना लिया जावे तो उसे दो पहर (6 घंटे) तक काम में लिया जा सकता है, उसके बाद उसमें भी त्रसजीवों की उत्पत्ति हो जाती है—

“तित्त कसाय भेलि किय फासू, ताहि अचित्त कहे श्रुतभासू ॥
पहर दोय बीतै जो भाई, अगणित त्रस जीवा उपजाई ।
झोढ़ तथा पौणा दो पहरा, आगे मति वरतो बुधि-गहरा ॥”¹⁵

अतः प्रासुक जल को भी साढ़े चार-पाँच घण्टे तक ही काम में लेना चाहिए । यदि यह छाना पानी गर्म करके उकाल लिया जावे तो इसे आठ पहर (8 x 3 = 24 घण्टे) से पूर्व काम में लिया जा सकता है, किन्तु आठवें पहर में यह भी उपयोग के योग्य नहीं रहता, क्योंकि तबतक उसमें भी स्वयमेव त्रसजीवों की उत्पत्ति हो जाती है—

“तातो भोत उकालि वारि वसु पहर ही । आगे जंगम जीव हु उपजै सहज ही ॥”¹⁶

पानी गर्म करने में भी सावधानी रखना आवश्यक है; अन्यथा कुछ अनभिज्ञ लोग इतना सब सही करके भी यहाँ आकर फिर एक बड़ी भारी गलती कर बैठते हैं । वे थोड़े-से पानी को ही खूब गर्म कर लेते हैं, और फिर उसी में ठंडा पानी मिला देते हैं तथा उसे चौबीस घण्टे तक काम में लेकर जिनाज़ा-पालन कर ली— ऐसा समझते हैं । जबकि यह आगमसम्मत नहीं है, क्योंकि गर्म पानी में ठंडा पानी मिलाने से जीवहिंसा का महादोष लगता है—

“जे नर जिन आज्ञा नहिं जानै, चित मै आवै सोही ठानै ।
भोत उकाल करै नहिं पानी, कुछ इक उष्ण करै मनमानी ॥
“ताहि जु बरतै अष्टहि पहरा, ते व्रत वर्जित अर श्रुतिबहरा ।
मरजादा माफिक नहिं सोई, ऐसैं बरतौ मति भवि कोई ॥”¹⁷

भव्य जीवों को चाहिए कि जल छानने की उपर्युक्त सभी क्रियाएँ दिन में ही करें, रात्रि में पानी का छानना और पीना त्याग दें—

“या विधि पाणी दिवसें पीवौ, निसिक्वू जल छांडौ भवि जीवौ ॥”¹⁸

पण्डित दौलतराम कासलीवाल के अनुसार पानी छानकर पीने वालों को पानी के बर्तनों का भी ध्यान रखना चाहिए। इनमें जो बर्तन धातु के हों उन्हें प्रतिदिन मौजना-पूँछना चाहिए और जो बर्तन मिट्टी के हों उन्हें प्रतिदिन सायंकाल खाली करके सुखा देना चाहिए एवं दूसरे दिन प्रातः उनमें विधिपूर्वक छानकर पानी भरना चाहिए। मिट्टी के बर्तनों को थोड़े दिन होते ही बदल देना चाहिए—

“जल के भाजन धातु के, जो होवें घर मांहि ।
पूँछ-मांजि नित धोयवा, यामें संसे नाहिं ॥
अर जे बासण गार के, गागर घट मटकादि ।
ते हि अल्पदिन राखिवौ, इह आझा जु अनादि ॥
राति सुकाया वा घरा, माटी बासण वीर ।
तिनमें प्रात हि छाणिबौ, आछी विधि सौं नीर ॥”¹⁹

सन्दर्भ-

1. क्रियाकोष, छन्द, द्वितीय 22, 23, 24
2. क्रियाकोष, छन्द, 2008-2009
3. क्रियाकोष, छन्द, 1997-1998
4. क्रियाकोष, छन्द, 1999
5. क्रियाकोष, छन्द, 1996
6. क्रियाकोष, छन्द, 2011
7. क्रियाकोष, छन्द, 1995-1996
8. क्रियाकोष, छन्द, 2001
9. क्रियाकोष, छन्द, 1995
10. क्रियाकोष, छन्द, 244
11. क्रियाकोष, छन्द, 2000
12. क्रियाकोष, छन्द, 2000-2001
13. क्रियाकोष, छन्द, 247
14. क्रियाकोष, छन्द, 253
15. क्रियाकोष, छन्द, 253-254
16. क्रियाकोष, छन्द, 2004
17. क्रियाकोष, छन्द, 2005-2006
18. क्रियाकोष, छन्द, 256
19. क्रियाकोष, छन्द, 240-241-242



संस्कार : क्या, कब और कैसे?

मिट्टी बन जाती कलश, शिला बने भगवान।

संस्कार का महत्त्व है, बालक बने महान॥

‘संस्कृति’ एवं ‘संस्कार’ शब्दों का प्रयोग हम बहुत करते हैं, परन्तु जबतक उनका सही-सही अर्थ नहीं जानेंगे, तब तक उनसे लाभान्वित होना संभव नहीं है।

‘संस्कृति’ का अर्थ समझने के लिए हमें उसके साथ ‘प्रकृति’ और ‘विकृति’ शब्दों का भी अर्थ समझना बहुत उपयोगी रहेगा।

स्वाभाविक स्थिति को ‘प्रकृति’ कहते हैं, उसका विकृत होना ‘विकृति’ है और उसका उन्नत होना ‘संस्कृति’ है। जैसे कि— भूख लगे तब भोजन करना ‘प्रकृति’ है, भूख के बिना ही लोभादिवश (लोलुपता आदि के कारण) भोजन करना ‘विकृति’ है और भूख लगे तब भी और भोजन मिले तब भी अपने धर्म का निर्वाह करके ही भोजन करना, धर्मच्युत होकर नहीं करना ‘संस्कृति’ है।

इसी प्रकार सर्वत्र घटित कर लेना चाहिए। जैसे कि एक और उदाहरण देते हैं। मरना प्रकृति है— ‘मरणं प्रकृतिः शरीरिणाम्’, आत्महत्या करके मरना विकृति है और धर्मध्यान करते हुए निर्भयतापूर्वक मरना संस्कृति है। ‘संस्कृति’ से मनुष्य महान बनता है। जिस प्रकार खान में से निकला हुआ लोहा या सोना कुछ भी हो, ज्यों-ज्यों संस्कारित होता जाता है, त्यों-त्यों अधिक मूल्यवान होता जाता है, उसी प्रकार मनुष्य भी ज्यों-ज्यों ज्ञान-चरित्रादि के द्वारा संस्कारित होता जाता है, त्यों-त्यों अधिकाधिक मूल्यवान होता जाता है।

इस बात को और अधिक स्पष्टरूप से समझने के लिए यहाँ दो दृष्टान्त प्रस्तुत किये जाते हैं—

1. एक उद्यान की पुष्पलताएँ अपने सुवर्ण, सुगन्ध, सुरभित रूप में दशों-दिशाओं को अपनी ओर आकर्षित करते हुए अपनी खिली हुई पंखुड़ियों से जन-जन को प्रभावित कर रही थीं। उसी उद्यान में एक विशालकाय पाषाण-शिला भी पड़ी हुई थी। उद्यान में खिली हुई पुष्पलताएँ उस शिला को देखकर घृणाभरी, अट्टहास-मिश्रित व्यंग्य छोड़ती थीं। उससे कहती थीं— देखो ! हमारे गुण, सुन्दरता, सुरभि

के कारण हमको सब चाहते हैं, परन्तु तुम्हारी कुरूपता, जड़ता के कारण कोई तुम्हारी ओर देखता तक नहीं है, बल्कि सब तुम्हारे ऊपर पैर रखकर तुम्हें रौंदते हुए टुकराते हुए चलते हैं। शिला उनकी गर्वपूर्ण बात सुनकर लज्जित होती थी एवं स्वयं को अभागा समझती थी। किन्तु एक दिन पुष्प ने स्वयं को एक मूर्ति के चरणों में समर्पित हुआ पाया। वह मूर्ति वास्तव में वही पाषाण-शिला थी, जो उद्यान में उपेक्षित पड़ी थी और पुष्प भी जिसे चिढ़ाता रहता था। अतः पुष्प ने आश्चर्यचकित होकर उस मूर्ति से पूछा कि तुम्हारी परिस्थिति पहले तो घृणित व निन्दनीय थी, आज पूज्य कैसे हो गई? तब वह शिला (मूर्ति) उत्तर देती है कि एक दिन एक शिल्पी ने मुझे उद्यान में पड़ा देखकर विचार किया कि इस शिला में मूर्ति बनने की योग्यता है, और उसने मुझे वहाँ से ले जाकर छैनी एवं हथौड़ी की सहायता से काट-छाँटकर मेरे अनावश्यक अंश को अलग करके यह मूर्ति बनायी। उसके बाद अनेक भक्तों एवं प्रतिष्ठाचार्यों ने मंत्रों से संस्कारित करके मुझे भगवतरूप में प्रतिष्ठित किया, पूज्य बनाया।

2. एक दिन एक सुन्दर नवयुवती मिट्टी के घड़े में पानी लेकर नदी से आ रही थी। उसी समय सुन्दरी के पैर के नीचे दबी पड़ी हुई मिट्टी अपमानित रुन्द स्वर से सुन्दरी के सिर पर स्थित घड़े की मिट्टी से पूछने लगी कि हे बहिन! मेरी और तेरी एक ही जाति है, फिर भी तेरा स्थान सुन्दरी के सिर पर है और मेरा स्थान सुन्दरी के पैरों के नीचे, ऐसा क्यों? तब घड़े की मिट्टी बोली— बहिन! मुझे सिर पर आने के लिये अनेक प्रकार के संस्काररूप कष्ट सहन करने पड़े हैं। मुझे पहले तो कुम्हार खोदकर लाया, फिर पैरों से खूब रौंदा, फिर चक्र में रखकर घुमाया, चीवर से काटा, लकड़ी के पलक से पीटा तथा आग की भट्टी में तपाया। इसप्रकार अनेक संस्कारों से सुसंस्कृत होने के कारण ही मैं सुन्दरी के सिर पर बैठ सकी हूँ।

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि संस्कार कब और कैसे दिये जा सकते हैं?

उत्तर— संस्कार एक सतत चलने वाली प्रक्रिया है और इसमें माता-पिता, गुरु, विद्यालय, शास्त्र आदि की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। मनुष्य में उत्तम संस्कारों का बीजारोपण वस्तुतः गर्भावस्था से ही हो जाता है। यहाँ तक कि उससे भी पूर्व ही प्रारंभ हो जाता है, क्योंकि जैसे भाव माता-पिता करते हैं, वैसे ही शिशु को सहज प्राप्त होते हैं।

एक दिन की बात, एक महिला गुरुजी के समीप जाकर पूछती है— “हे गुरुदेव! मेरे पुत्र की शिक्षा कब से किस मुहूर्त से प्रारंभ करनी चाहिए?”

गुरुजी ने पूछा— “पुत्र की आयु कितनी है?”

महिला बोली— “पुत्र की आयु पाँच वर्ष है।”

गुरुजी बोले— “शिक्षा देने के काल में लगभग 6 वर्ष का विलम्ब हो गया है।

बच्चे का संस्कार गर्भ से ही करना चाहिए।”

ठीक ही है, गर्भावस्था और उसके बाद बाल्यावस्था संस्कारों के लिए सर्वाधिक उपयुक्त समय होता है। इस समय का कोमल एवं एकाग्र मस्तिष्क इसके लिए सर्वाधिक उपयुक्त होता है।

तथा जिस प्रकार बाल्यावस्था में अच्छे संस्कार शीघ्र एवं सहजता से डाले जा सकते हैं, उसी प्रकार कुसंस्कारों का भी इस अवस्था में शीघ्र जन्म होता है, अतः उनसे बचाना भी अत्यन्त आवश्यक है।

बाल्यावस्था में शीघ्र एवं सुदृढ़ संस्कार पड़ने का कारण यह है कि बालक के मन में कोई प्रकार का विशेष विकार भाव, छल, कपट, तनाव, कषाय, दुराग्रह, हठग्राहिता आदि नहीं होती।

किन्तु बच्चों में संस्कार डालना कोई बच्चों का खेल नहीं है, उसमें बड़ी कुशलता की आवश्यकता होती है। एक तो सबसे पहले स्वयं को ही अनेक बुरी आदतों से बचाना होता है, अन्यथा कोरे उपदेश का बच्चों पर कोई असर नहीं होता, वे तो स्वभाव से अनुकरणप्रिय होते हैं— ‘अनुकरणप्रियाः बालाः’। दूसरे, लालन (लाड़-प्यार) और ताड़न (डॉट-फटकार) में समुचित सन्तुलन भी बैठाना आवश्यक होता है। अधिक लालन और अधिक ताड़न दोनों से ही बच्चे बिगड़ जाया करते हैं। अतः बड़ी सावधानी से बच्चों में संस्कार डालना चाहिए। यह माता-पिता का विशेष आवश्यक कर्तव्य है। कहा है कि—

लालनात् बहवः दोषा, ताडनात् बहवः गुणाः।

तस्मात् पुत्रं च शिष्यञ्च, ताडयेत् न तु लालयेत् ॥

अर्थ— पुत्र एवं शिष्य का लालन नहीं, ताड़न करना चाहिए, क्योंकि लालन से अनेक दोष उत्पन्न होते हैं और ताड़न से अनेक गुण उत्पन्न होते हैं।

गुरु कुम्हार सिख कुम्भ है, घटि-घटि काढ़े खोट।

अंदर हाथ पसारिके, बाहर मारे चोट ॥

केवल जन्म देने मात्र से कर्तव्य की इतिश्री नहीं हो जाती, जन्म तो कुत्ते-बिल्ली भी देते हैं, उसमें क्या? जो माता-पिता अपने बच्चों को उत्तम संस्कार देते हैं, उन्हीं का जीवन धन्य है। ❖❖

स्याद्वाद का चमत्कार

ज्ञानी जीव प्रतिकूलता को भी अनुकूलता समझते हैं और अनुकूलता को भी प्रतिकूलता समझते हैं, शत्रु को भी मित्र समझते हैं और मित्र को भी शत्रु समझते हैं, घर को भी धर्मशाला समझते हैं और धर्मशाला को भी घर समझते हैं। कैसे? यह सब स्याद्वाद का चमत्कार है, जो समझ जाए उसका बेड़ा पार है।

जैसी करनी वैसी भरनी

संसार में 84 लाख प्रकार के जीव हैं और वे भी अपने-अपने अंतरंग-बहिरंग भावों की अपेक्षा अनंतानंत प्रकार के हैं, किन्तु क्या आप जानते हैं कि इन सब की रचना कोई अन्य ईश्वर आदि नहीं करता, अपितु जीव स्वयं ही अपने भावों से इन सब की रचना करता है तथा इस सबके पीछे एक सीधा-सच्चा वैज्ञानिक नियम कार्य कर रहा है, जिसका नाम है— ‘जैसी करनी वैसी भरनी’ अर्थात् जो जैसा करता है, वह वैसा ही भरता है, वैसा ही बनता है। यह सब सहज स्वाभाविक व्यवस्था है। जैसे कि—

1. जो जीव आत्मप्रशंसा, परनिंदा, वाचालता, मिथ्याभाषण आदि करते हैं, वे भविष्य में गूंगे होते हैं।
2. जो जीव नेत्रों का दुरुपयोग करते हैं, उन्हें फोड़ते हैं, अश्लील अनुचित देखते हैं, अंधे का अपमान करते हैं, वे भविष्य में अंधे होते हैं।
3. जो जीव दूसरों को दुःख, शोक, संताप आदि देते हैं, वे भविष्य में स्वयं भी महादुखी होते हैं।
4. जो जीव सदा विकथा सुनते हैं, परनिन्दा-चुगली आदि सुनते हैं अथवा अन्य प्रकार से भी कानों का दुरुपयोग करते हैं, वे भविष्य में बहरे होते हैं।
5. जो जीव दूसरों को विकलांग बनाते हैं, विकलांग की हँसी उड़ाते हैं, वे भविष्य में विकलांग होते हैं।
6. जो जीव दूसरे मनुष्यों या पशु-पक्षियों के हाथ-पैर तोड़ते हैं अथवा अन्य प्रकार से भी अपने हाथ-पैरों का दुरुपयोग करते हैं, वे भविष्य में लंगड़े-लूले होते हैं।
7. जो जीव पराया धन चुराते हैं, लूटते हैं, उसे हड़पते हैं अथवा उसका दुरुपयोग करते हैं, वे भविष्य में दरिद्री होते हैं।
8. जो जीव पुराना बासा, सड़ा गला, दुर्गन्धित, मलिन अन्न-जल ग्रहण करते हैं, मांस-मदिरा सेवन करते हैं, वे अगले जन्म में मल-मूत्र में कीड़े बनते हैं।

9. जो जीव माता-पिता को दुखी करते हैं, किसी को उसके माता-पिता से दूर करते हैं, उन्हें भविष्य में जन्म होते ही माता-पिता का वियोग झेलना पड़ता है।
10. जो जीव दूसरे की संतान को देखकर दुःखी होते हैं, उसे दुःखी करते हैं, छीनते हैं, मारते हैं, वे भविष्य में निःसन्तान होते हैं।
11. जो जीव ज्ञान और ज्ञान के साधनों का अनादर अपमान करते हैं, उन्हें तोड़ते-फोड़ते हैं, वे भविष्य में अज्ञानी, मूर्ख होते हैं।
12. जो जीव ज्ञान और ज्ञान के साधनों का आदर करते हैं, विनय करते हैं, उनका प्रचार-प्रसार करते हैं, वे भविष्य में ज्ञानी, विद्वान् होते हैं।

इसी प्रकार की और भी अनेक बातें हैं, जो सब सिद्ध करती हैं कि ‘जैसी करनी वैसी भरनी’ अर्थात् जो जैसा करता है, वह वैसा ही भरता है, वैसा ही बनता है। यह सब सहज स्वाभाविक व्यवस्था है। ‘परमात्मप्रकाश’ दूहा 1/40 में मुनिराज योगीन्दु देव कहते हैं कि वास्तव में यह जीव स्वयं ही इस त्रस-स्थावर रूप बहुविध विशाल जगत् का कर्ता या रचयिता है, क्योंकि यही कर्मोदय से लिप्त होकर बहुविध भावों को करता है। अन्य कोई ईश्वरादि इस जगत् का कर्ता या रचयिता नहीं है। अतः हमें अपने भावों को सदा संभालना चाहिए, कभी भी उन्हें बिगड़ने नहीं देना चाहिए। यही जिनवाणी का मंगल सन्देश है।

उक्त सर्व विवरण यहाँ तत्त्वार्थसूत्र, महापुराण, पार्श्वपुराण, सुदृष्टितरंगिणी, भावत्रयफलप्रदर्शी आदि अनेक ग्रन्थों के आधार पर लिखा गया है।



जैसी करनी वैसी भरनी

इह खेत्ते जह मणुवा पेच्छते मेसमहिस जुद्धादि।

तह णिरये असुरसुरा णारय-कलहं पतुद्वमणा॥

—आचार्य यतिवृषभ, तिलोयपण्णत्ति 2/350

अर्थ— इस क्षेत्र में जिस प्रकार मनुष्य मेढ़े और भैंसे आदि के युद्ध को देखते हैं, उसी प्रकार असुर कुमार जाति के देव नारकियों के युद्ध को देखते हैं और मन में संतुष्ट होते हैं।

अभिप्राय— जो लोग यहाँ मुर्गा, भैंसा, बैल आदि को उत्तेजित कर-करके लड़ाते-देखते हैं, वे अगले जन्म में नरक में उत्पन्न होते हैं और लड़ने वाले पशु मरकर असुर कुमार जाति के देव बनते हैं जो उन नारकियों को उत्तेजित कर-करके लड़ाते और देखते हैं। जैसी करनी वैसी भरनी!

साधुओं में बढ़ता शिथिलाचार और हमारा कर्तव्य

दिगम्बर जैन साधु तो बहुत ही उच्च कोटि की अवस्था है, परन्तु खेद है कि आजकल उनमें भी शिथिलाचार आ रहा है और कभी-कभी तो ऐसे समाचार मिलते हैं कि चित्त अत्यधिक व्याकुल हो जाता है। समझ में नहीं आता कि क्या किया जाए। समाज के सभी लोग अत्यधिक चिंतित एवं दुःखी होते हैं। विचारणीय है कि ऐसी स्थिति में आखिर किया क्या जाए? क्या इसका कुछ समाधान है? बहुत लोग मुझसे पूछते हैं। यद्यपि मैं इस विषय में कुछ बोलता नहीं हूँ, किन्तु आज यहाँ मैं अपने कुछ सुझाव हृदय की पवित्रता से बहुत ही संक्षेप में प्रकट कर रहा हूँ। आशा है समाज के सभी लोग इन पर गम्भीरतापूर्वक चिन्तन करेंगे। मुझे विश्वास है कि इन पर ध्यान देने से साधु एवं श्रावक सबका परम हित होगा। यथा—

1. पहली बात तो हम बहुत अधिक दुःखी और चिन्ताग्रस्त न हों। दुःख, चिन्ता, विषाद आदि हर हालत में त्याज्य होते हैं, क्योंकि इनसे घोर असाता वेदनीय आदि कर्मों का आस्रव-बन्ध होता है। दुःखी होने से समस्या का समाधान भी नहीं होता और अपनी ऊर्जा बहुत बर्बाद होती है। अतः अपनी तरफ से हम प्रयास तो खूब करते रहें, परन्तु बहुत अधिक दुःखी और चिन्ताग्रस्त न हों। इसे कलिकाल का प्रभाव जानकर अपने अन्तरंग में शान्ति भी धारण किये रहें। यह दुर्लभ मनुष्य भव हमें अपने आत्मकल्याण के लिए मिला है। हम किसे सुधारेंगे? कौन किसे सुधार सकता है? सभी आचार्यों ने हमें आत्महित पर विशेष ध्यान देने की प्रेरणा दी है— ‘आदहिदं कादव्वं’....अथवा ये दो पंक्तियाँ भी बहुत अच्छी हैं— ‘अरे सुधारक जगत के चिन्ता मत कर यार, तेरा मन ही जगत है पहले इसे सुधार’। जीवन में आत्महित कैसे सर्वोपरि है— इसे जानने के लिए मेरा अन्य लेख ‘आदाहिदं कादव्वं’ पठनीय है।

2. शिथिलाचार को मिटाने के लिए जो उचित प्रयास हमें करने चाहिए, उनमें से एक तो सबसे महत्वपूर्ण यह है कि हमें स्वयं भी आगम के आलोक में मुनिदशा का स्वरूप भलीभांति समझना चाहिए और दूसरों को भी भलीभांति समझाना चाहिए। यह अत्यंत आवश्यक कार्य है, क्योंकि समस्या का मूल कारण अज्ञान है। अज्ञान दूर

किये बिना शिथिलाचार को समाप्त करने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। जितना भी शिथिलाचार समाप्त होगा, इसी से होगा। अतः हमें स्थान-स्थान पर मुनियों के स्वरूप पर गोष्ठियां करनी चाहिए। तथा इन गोष्ठियों में किसी व्यक्ति विशेष पर टिप्पणी किये बिना शास्त्रीय पद्धति से निष्पक्ष चर्चा करनी चाहिए। इनसे जन-जागरण का महान कार्य होगा और शिथिलाचार पर सहज ही अंकुश लग जाएगा। साधु के शिथिलाचार में आज श्रावक भी उन्हें अनुचित वस्तुएं प्रदान करके महा दोष के भागी बने हुए हैं, अतः जब उन्हें भी सम्यक् ज्ञान होगा तो सहज ही उसका परिणाम बहुत अच्छा आएगा।

3. हम सबको भलीभांति समझना चाहिए कि दिगम्बर साधु बनना आसान नहीं है, खासकर आज की विषम परिस्थितियों में; अतः इस विषय में जल्दबाजी करना उचित नहीं है। मन तो करेगा, लोग भी बहुत उकसाएंगे, परन्तु हमें अपनी योग्यता का गहराई से विचार करके ही निर्णय करना होगा, अन्यथा बहुत पश्चात्ताप हो सकता है। यदि हमारा कोई साधु भी इस विषय में जल्दबाजी कर रहा हो तो उसे भी सावधान करना चाहिए। यद्यपि यहाँ ऐसी बात कहते हुए मुझे बहुत संकोच हो रहा है, किन्तु वर्तमान परिस्थितियां अच्छी नहीं हैं और आगे आनेवाले दिनों में तो और भी खराब हो जाएंगी—ऐसा लगता है।

4. वर्तमान में बढ़ते हुए शिथिलाचार को देखते हुए अब एक नियम यह बना देना चाहिए कि किसी को भी सीधी मुनिदीक्षा नहीं दी जाएगी, उसे पहली-दूसरी-तीसरी आदि प्रतिमाओं के क्रम से अभ्यास करते हुए ही आगे बढ़ना होगा। हाँ, एक सल्लेखना-काल इसका अपवाद हो सकता है।

5. जो लोग दिगम्बर मुनिदीक्षा ले चुके हैं, उन्हें बहुत ही सावधानीपूर्वक इस परम धर्म का निर्वाह करना चाहिए। हो सके तो उन्हें किन्हीं उत्तम तीर्थस्थानों पर जाकर ज्ञान-ध्यानपूर्वक आत्मसाधना करनी चाहिए, महानगरों में कंचन-कामिनी के बीच नहीं रहना चाहिए। तथा एक बात और अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि यदि इस महान मुनिव्रत का निर्वाह स्वयं से कथमपि नहीं हो रहा हो तो इसे निःसंकोच छोड़ देना चाहिए। इसी में हित है। जबरदस्ती अपने परिणाम खराब करते रहना और इस ऊँचे मुनि पद में ही नीचा कार्य करना उचित नहीं है। बाद में जब परिणाम अच्छे हो जाएँ तो पुनः दीक्षा ली जा सकती है।

6. साधुओं को छोटे-छोटे शिथिलाचार न छूटें तब भी बड़े-बड़े शिथिलाचार तो अवश्य ही छोड़ देना चाहिए। जैसे— एकांत में स्त्री से वार्ता करना, उसे छूना, धनादि परिग्रह को रखना, उसका स्वयं लेन-देन करना, आदि। ये भयंकर अपराध हैं जो जन्म-जन्मान्तर खराब कर देंगे। साधुओं को सभी आगन्तुकों से भी सदा ज्ञान-ध्यान की ही बात करनी चाहिए, सांसारिक बातें नहीं करनी चाहिए।

7. कुछ लोग कहते हैं कि हमें शिथिलाचारी साधुओं को आहार, आवास आदि भी नहीं देना चाहिए, उनके पास ही नहीं जाना चाहिए और उनकी स्पष्ट शब्दों में खुले आम निंदा-आलोचना करनी चाहिए। यह बात एक अपेक्षा से ठीक हो सकती है, परन्तु मुझे सर्वथा उचित नहीं लगती। वे लोग हमारे साधर्मि भाई हैं। उनके प्रति वात्सल्य भाव रखकर स्थितीकरण का भाव रखना हमारा कर्तव्य है। समस्या सुलझेगी तो इसी से सुलझेगी, अन्यथा दूरी बढ़ाने से तो समस्या के सुलझने की सम्भावना ही समाप्त हो जाएगी। हाँ, जो मुनि बहुत ही कलुषित परिणाम के हैं, उनसे दूर रहना चाहिए। परन्तु मेरा अनुभव है कि आज भी अधिकांश मुनि अच्छे मन के हैं, मुमुक्षु हैं, जिज्ञासु भी हैं और स्वयं में परिष्कार के सच्चे अभिलाषी भी हैं, परन्तु उन्हें न तो कुछ स्वयं समझ में आ रहा है और न ही कोई अन्य व्यक्ति उन्हें अच्छी तरह समझाने वाला है, इसलिए वे जैसा समझ में आ रहा है, वैसा कर रहे हैं। उन्होंने घर-परिवार आदि छोड़ा तो आत्मकल्याण की विशुद्ध भावना से ही था, परन्तु ठोस तत्त्वज्ञान न होने से बात बनी नहीं। अतः हमें उनके पास अवश्य उठना-बैठना चाहिए और उनकी साधना में सहयोग देना चाहिए, उनसे गहरी तत्त्वचर्चा करनी चाहिए। उनके साथ बहुत अधिक स्वाध्याय करना चाहिए। परन्तु ध्यान रहे कि हमें उनके शिथिलाचार का किंचित् भी पोषण नहीं करना है, अपितु शालीनता से उनको उससे बचाने का विशुद्ध प्रयास करना है। यह भी समझना है कि आज भी इन साधुओं का जैन संस्कृति की रक्षा-सुरक्षा में बहुत बड़ा योगदान है।

अन्त में एक बार पुनः साधु और श्रावक सभी के परम हित की मंगल कामना करता हुआ मैं अपनी वाणी को विराम देता हूँ। जैनं जयतु शासनम्।



मूल कारण हमारा कर्म ही है

लोक में हमें कोई वस्तु अपने अनुकूल और कोई वस्तु प्रतिकूल परिणमन करती हुई लगती है, परन्तु देखा जाए तो वास्तव में कोई भी वस्तु अनुकूल-प्रतिकूल नहीं होती, अनुकूल-प्रतिकूल तो अपना कर्म होता है, वस्तु तो उसी के कारण अनुकूल-प्रतिकूल लगती है या कहो कि परिणमन करती है। उदाहरणार्थ— एक दिन एक सेठजी ने मुझे अपनी गाड़ी ड्राईवर सहित दिन-भर घूमने के लिए दे दी। ड्राईवर ने दिन-भर मेरी आज्ञा में रहकर मेरी पूरी सेवा की। मेरे कहने पर रुका, मेरे कहने पर चला, इत्यादि। यहाँ वास्तव में देखा जाए तो ड्राईवर ने मेरी आज्ञा नहीं मानी है, अपितु अपने सेठजी की आज्ञा ही मानी है। मुझे तो केवल भ्रम हुआ है कि वह मेरी आज्ञा में चल रहा है। अतः हमें सदैव ध्यान रखना चाहिए कि हमारा भला-बुरा करने वाला मूल में हमारा अपना कर्म ही है, कोई भी अन्य वस्तु या व्यक्ति नहीं।

दाम्पत्य जीवन का मंगल सूत्र : ताल से ताल मिला

संस्कृत-महाकवि आचार्य वादीभसिंहसूरि द्वारा रचित ‘क्षत्रचूडामणि’ में एक पंक्ति आती है— ‘संसारोऽपि हि सारः स्यात् दम्पत्योरेककंठयोः’ अर्थात् वैसे तो संसार असार ही है, परन्तु यदि पति-पत्नी एककंठ हैं तो उस असार संसार को भी कथंचित् सार कहा जा सकता है।

आचार्य वादीभसिंहसूरि के उक्त कथन पर यदि हम गंभीरतापूर्वक चिंतन करें तो प्रतीत होता है कि यह कोई साधारण उक्ति नहीं है, अपितु दाम्पत्य जीवन का एक ऐसा महान मंगल मंत्र/सूत्र है, जिसमें एक ही पंक्ति में सुखद दाम्पत्य जीवन का सारा रहस्य समाहित कर दिया गया है।

सामान्य प्राणी एकाकी नहीं जी पाता, उसे किसी उपयुक्त जीवन-साथी की आवश्यकता होती है, बिना साथी के उसे सुख-शान्ति नहीं मिलती— ‘अमित्रस्य कुतो सुखम्’। ऐसी स्थिति में समान रुचि के दो प्राणी अत्यंत प्रेमपूर्वक मिलकर रहना प्रारम्भ करते हैं— इसी का नाम विवाह है। यह विवाह आजीवन सुख-समृद्धि का हेतु बना रहे— इसके लिए आचार्यदेव ने उपर्युक्त पंक्ति में एक ही अचूक उपाय बताया है कि पति-पत्नी को सदा एककंठ (एकमत) रहना चाहिए, एक-दूसरे के साथ स्वर में स्वर मिलाना चाहिए, एक-दूसरे का कहना मानना चाहिए। सफल वैवाहिक जीवन के लिए पति-पत्नी का एककंठ रहना सबसे आवश्यक है, क्योंकि यदि बात-बात में मतभेद रहा, दोनों अलग-अलग स्वर अलापते रहे तो घर में सुख-समृद्धि कदापि नहीं हो सकती, अपितु कलह, कष्ट और पतन ही रहेंगे, घर नरक बन जाएगा। किसी अन्य कवि ने भी कहा है कि यदि पति-पत्नी एकमत रहें तो घर स्वर्ग बन जाता है, वहाँ सुख-समृद्धि-लक्ष्मी निवास करती है और यदि एकमत न रहें, विवाद करते रहें तो वहाँ अनेक विपत्तियाँ आती हैं—

“सुमिल तहाँ पर संपत्ति नाना, कुमिल तहाँ पर विपत्ति निदाना।”

प्रश्न है कि दो व्यक्ति दो ही रहेंगे, वे सदा एकमत कैसे हो सकते हैं?

समाधान— प्रथम तो विवाह उन्हीं का होता है जो समान रुचि के होते हैं, अतः उनका एकमत होना कठिन नहीं है। परन्तु अलग-अलग वातावरण में बचपन बिताने

के कारण उनमें कुछ भिन्नताएँ होना भी स्वाभाविक है। परन्तु इतनी समझदारी तो उनमें होनी ही चाहिए कि वे उन्हें समन्वय और सहिष्णुता के साथ सुलझा लें, जीवन की ताल न बिगड़ने दें, ताल से ताल मिली ही रहे— यही शिक्षा का सुफल है। तर्क, युक्ति, प्रमाणादि पूर्वक हुए संवाद से मतभेदों को मिटाना बहुत आसान होता है, और इस प्रकार दोनों एककंठ रहकर अपना वैवाहिक जीवन सुखी बना सकते हैं। तथा इसके बाद भी यदि कोई छोटा-मोटा मतभेद न मिट पाए तो इतना तो होना ही चाहिए कि वह हमारे मन-मुटाव (विवाद) का कारण न बने। जहाँ मतभेद होते हुए भी मनभेद न रहे, वही सफलतम वैवाहिक जीवन है।

लोक में भी कहते हैं— ‘रहन-सहन’। इसका अभिप्राय है कि इस दुनिया में वही रह सकता है जो सह सकता है; जो सह नहीं सकता, वह रह भी नहीं सकता। यह जीवन ऐसा ही है। इसमें कोई भी हो, कितना भी बड़ा हो, उसे कुछ-न-कुछ सहना ही पड़ता है। सभी इच्छाएँ कभी किसी की पूरी नहीं हुई और हो भी नहीं सकतीं, संभव ही नहीं है। अतः पति-पत्नी दोनों को पारस्परिक प्रेम और विश्वास की कीमत समझनी चाहिए। उसके आगे संसार की किसी भी वस्तु की कीमत नहीं होती है। यदि प्रेम खोकर कुछ पा भी लिया तो वह व्यर्थ है, सुखद नहीं हो सकता।

यदि पति-पत्नी में प्रेम और विश्वास है तो बड़ी से बड़ी समस्या को सरलता से सुलझाया जा सकता है और यदि वह चला गया तो फिर समझो कठिनाइयाँ ही कठिनाइयाँ हैं, बात-बात पर कलह ही कलह है। प्रेम के हाथों की सूखी रोटी भी मीठी लगती है और प्रेम गया तो हलवा-पूरी भी फीके लगते हैं। अतः प्रेम का महत्त्व समझकर पति-पत्नी दोनों को एकमत बने रहना चाहिए। कदाचित् कुछ मतभेद हो तो भी उसे बड़ा नहीं होने देना चाहिए। यदि एक बार जोर से मतभेद उजागर होकर घर में कलह कर गये तो समझ लो बड़ी समस्या खड़ी हो गई, क्योंकि—

‘रहिमन धागा प्रेम का, मत तोड़ो चटकाय।

टूटे से फिर न मिले, मिले गाँठ पड़ जाय ॥’

‘बिगड़ी बात बने नहीं, लाख करो किन कोय।

रहिमन फाटे दूध को, मथे न माखन होय ॥’

वैसे भी आजकल तो वर और वधू दोनों ही उच्च शिक्षा प्राप्त होते हैं, वे कोई बच्चे नहीं होते, अतः उन्हें बड़ी सावधानी से काम लेकर प्रेम का महत्त्व समझते हुए बड़े प्रेम के साथ रहना चाहिए तथा एक-दूसरे के स्वर में स्वर मिलाना चाहिए, किसी को भी एक-दूसरे की बात काटनी नहीं चाहिए। जैसी भी स्थिति है, उसी में त्याग, सहिष्णुता, क्षमा, मौन (‘मौनं सर्वार्थसाधकं’) आदि सदगुणों का सहारा लेकर अपना गृहस्थ जीवन स्वस्थ, समृद्ध और सुखमय बनाना चाहिए— यही सबसे ऊँची शिक्षा है। और भी कहा है कि—

‘पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय ।

ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय॥’

पति-पत्नी दोनों को प्रेम की कीमत समझनी चाहिए, जो संसार की सबसे मूल्यवान वस्तु है। चाहे सब कुछ चला जाए, पर प्रेम को कदापि कथमपि नहीं खोना चाहिए। यदि कदाचित् कुछ अनबन से उसमें विघ्न आये तो भी उसे पुनः शीघ्र जोड़ लेना चाहिए और ऐसा, जरूरत पड़े तो, सैकड़ों बार भी किया जा सकता है, पर प्रेम तो बरकरार रहना ही चाहिए—

‘रूठे सुजन मनाइए, जो रूठे सौ बार ।

रहिमन फिर फिर पोइए, टूटे मुक्ताहार ॥’

अर्थ— सुजन (सज्जन/स्वजन) यदि सौ बार भी रूठ जाएं तो उन्हें मना लेना चाहिए। मोतियों का हार अनेक बार टूटे तब भी उसे पुनः जोड़ना उचित होता है।

यदि पति-पत्नी में प्रेम नहीं, कलह है, तो तीन लोक का राज्य भी सुख नहीं दे सकता— यह बात सभी पति-पत्नियों को गाँठ बाँधकर अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए।

विवाह के समय पति-पत्नी के बीच प्रेम का अंकुर उत्पन्न होता है। परिजन-पुरजन उसे आशीर्वाद और शुभकामनाओं का खाद-पानी देकर चले जाते हैं। आगे यदि पति-पत्नी में सहमति चलती रही तो वह प्रेमांकुर दिन-प्रतिदिन फलता-फूलता हुआ एक सुखदायक वृक्ष बन जाता है और यदि विमति बढ़ती रही तो शीघ्र ही सूखकर टूट के समान बोझा बन जाता है। पहली स्थिति पति-पत्नी को ‘चतुर्भुज’ बनाती है, दूसरी ‘चौपाया’।

सुखमय दाम्पत्य जीवन के लिए इन सूत्रों पर भी ध्यान दिया जा सकता है—

1. एक गरम तो दूजा नरम, यही गृहस्थ का परम धरम।
2. जीवन चलता श्वास से, गृहस्थी चले विश्वास से।
3. अहंकार ममकार नहीं, णमोकार संस्कार सही।
4. कोई किसी की बात न काटो, सुख-दुःख दोनों मिलकर बाँटो। ❖❖

क्या दूध-दही अभक्ष्य हैं?

आजकल अनेक लोग दूध-दही आदि की भक्ष्यता पर बड़े प्रश्नचिह्न लगाने लगे हैं और वर्तमान युग में दूध-दही आदि की स्थिति को देखकर उनके तर्क उचित भी प्रतीत होते हैं। आजकल दूध-दही आदि की स्थिति व्यापारिक कारणों से भी हिंसात्मक हो रही है। सज्जनों को उनके सेवन की इच्छा अब प्रायः नहीं होती है। यह सब सत्य है। परन्तु दूध-दही आदि को सर्वथा ही अभक्ष्य पदार्थ समझ लेना उचित नहीं है। उन्हें रक्त-मांस आदि के समान कहना-मानना तो बिल्कुल भी उचित नहीं है। शास्त्रों में दूध-दही आदि को प्रशस्त, शुभ, मंगल आदि कहा गया है। यदि उन्हें उचित विधि से प्राप्त किया जाय तो वे अभक्ष्य नहीं हैं।

सुखी दाम्पत्य जीवन के लिए श्रावकाचार

वैसे तो सम्पूर्ण श्रावकाचार ही सुखी दाम्पत्य जीवन के लिए है, क्योंकि उसका नाम ही श्रावकाचार है, गृहस्थाचार है, सद्गृहस्थ का आचार है; किन्तु फिर भी आइए, देखते हैं कि सुखी दाम्पत्य जीवन के लिए जैनाचार्यों ने क्या विशेष श्रावकाचार कहा है।

यह विषय आज के समय में अत्यधिक उपयोगी भी है, क्योंकि आज लोगों का दाम्पत्य जीवन बहुत बिगड़ता जा रहा है, आज पति-पत्नी में आपस में ही नहीं बन रही है, उनमें बात-बात पर बहुत अधिक कलह होने लगी है। आज हमारी ‘परिवार’ नामक संस्था अत्यधिक खतरे में पड़ गयी है। समाज में नित नई संस्थाओं का जन्म हो रहा है, किन्तु जब ‘परिवार’ नामक संस्था ही नहीं बचेगी तो अन्य संस्थाओं का क्या करेंगे? सर्वप्रथम तो परिवार बचना चाहिए, उसी से आदर्श समाज, ग्राम, नगर, राष्ट्र आदि बनते हैं।

सुखी दाम्पत्य जीवन के लिए जैनाचार्यों ने जो विशेष निर्देश दिए हैं, वे संक्षेप में इस प्रकार हैं—

1. पति-पत्नी दोनों बचपन से ही उत्तम संस्कारों में पले हुए होने चाहिए। उनकी आयु, शिक्षा, रुचि, धन आदि भी सब समान स्तर के ही होना चाहिए। असंस्कारित और असमान स्तर के लोगों का विवाह आजीवन सन्ताप का कारण बनता है। यथा— “**वित्तं ययोरेव समं जगत्यां, कुलं ययोरेव समं प्रतीतम्। मैत्री तयोरेव तयोर्विवाहस्तयोर्विवादश्च निरूपितोस्ति॥**” —(शान्तिनाथचरित) अथवा— “**जं विसरस-धम्माणं होइ परिणाम सुंदरो णेहो। णेहं विणा विवाहो आजम्मं कुणइ परिदाहं॥**” —(णम्मयासुंदरीकहा, 39)

2. दाम्पत्य जीवन का मूल आधार विवाह है, अतः विवाह विधिपूर्वक ही सम्पन्न होना चाहिए। यदि विवाह ही दोषयुक्त होगा तो दाम्पत्य जीवन कैसे सुखमय होगा? महापुराण (पर्व 38, श्लोक 127 से 134 तक) आदि शास्त्रों में जिनसेन आदि आचार्यों ने विवाह की विधि का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है, उसका अवश्य पालन करना चाहिए। जैसे कि उन्होंने कहा है कि विवाह जिनप्रतिमा के समक्ष होना चाहिए, वर-वधू दोनों को सावधानीपूर्वक सोच-समझकर विवाह की प्रतिज्ञा करनी चाहिए। विवाह कोई मजाक नहीं है, एकदेश दीक्षा ही है।

3. पति-पत्नी दोनों को स्त्री-पुरुष-स्वभाव का भी भलीभांति ज्ञान होना चाहिए।

जैसे— स्त्रियों को पुरुष की निर्धनता, क्रूरता आदि से भी उतनी पीड़ा नहीं होती, जितनी कि उनकी अवज्ञा/उपेक्षा से होती है— ‘स्त्रीष्वज्ञा हि दुःसहा’, अतः पुरुषों को कभी भी स्त्री की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। (स्त्रीणां पत्युपेक्षैव परं वैरस्य कारणम्। तन्नोपक्षेत जातु स्त्रीं वाञ्छल्लोकद्वये हितम् ॥ —सागारधर्मामृत, 3/27) इसीप्रकार पुरुषों को अहंकार विशेष प्रिय होता है, वे उस पर चोट बर्दाश्त नहीं कर सकते, वह भी स्त्री के द्वारा, अतः स्त्रियों को पुरुष के अहंकार पर चोट नहीं मारना चाहिए।

4. स्त्री-पुरुष दोनों को एक-दूसरे के स्वभाव को पहचान कर येन-केन प्रकारेण एक-दूसरे को अनुकूल/प्रसन्न रखने का भी प्रयास करना चाहिए और एक-दूसरे को धर्ममार्ग पर भी लगाए रखना चाहिए, ताकि धर्ममय गृहस्थजीवन की गाड़ी ठीक से चलती रहे। यथा—

“व्युत्पादयेत्तरां धर्मं, पत्नीं प्रेमपरं नयन्।

सा हि मुग्धा विरुद्धा वा, धर्मादभ्रंश्यते तराम् ॥” —सागारधर्मामृत, 3/26

5. पति-पत्नी में कलह के मुख्य कारण प्रायः निम्नलिखित होते हैं— मद्यपान आदि का नशा, हाथ या हथियार से मारना-पीटना, झूठ बोलना, विश्वासघात करना, विवाहेतर सम्बन्ध रखना। यदि पति-पत्नी सप्त व्यसनों को त्याग कर अष्ट मूलगुणों (‘‘मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुवतपंचकम्’’—रत्नकरंड श्रावकाचार) को धारण कर लें तो उक्त सभी कारण उनके जीवन से बाहर हो जाएँगे और उनका दाम्पत्य जीवन सुखमय हो जाएगा।

6. दाम्पत्य जीवन को सुखमय बनाने के लिए आहार पर भी विशेष ध्यान देना चाहिए। आहार का हमारे तन, मन और जीवन पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। आज तो इस बात को वैज्ञानिक भी सिद्ध कर चुके हैं, अतः सुखी दाम्पत्य जीवन के अभिलाषियों को आहारशुद्धि पर भी विशेष ध्यान देना चाहिए। तथा यह आहारशुद्धि भी सर्वांग हो तो कहना ही क्या, उनका दाम्पत्य जीवन तो अवश्य ही सुखमय होगा। सर्वांग शुद्ध आहार का आशय यहाँ यह समझना चाहिए कि— जो न्यायपूर्वक कमाया गया हो, यत्नाचारपूर्वक बनाया गया हो, वात्सल्यपूर्वक खिलाया गया हो और अनासक्तिपूर्वक खाया गया हो, उसे सर्वांग शुद्ध आहार कहते हैं।

7. वैसे तो पति-पत्नी समान रुचि के होते हैं अतः उनमें मतभेद ही नहीं होते, परन्तु कदाचित् कुछ हो तो भी उन्हें एकमत होने का पूरा प्रयास करना चाहिए। इसी से उन्हें सुख मिल सकता है, अन्यथा नहीं। जैसा कि आचार्य वादीभसिंहसूरि ने कहा है— “संसारोऽपि हि सारः स्यात् दम्पत्योरेककण्ठयोः।” —क्षत्रचूड़ामणि, 9/35

8. दम्पति (पति-पत्नी दोनों) को ‘गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्’ (—रत्नकरंड, 33) का पाठ अच्छी तरह पढ़ना-समझना चाहिए। अनासक्ति ही सुख का और आसक्ति ही दुःख का कारण होती है।

9. षट् आवश्यकों (देवपूजा, गुरुपासना, स्वाध्याय, संयम, तप, दान) के पालन पर भी विशेष ध्यान देना चाहिए। सुखी दाम्पत्य जीवन में इनकी भी बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका होती है, जिसे सरलता से समझना कठिन है। इनमें से एक आवश्यक भी पालकर देखो तो पता चलता है। जैसे एक दान भी शुरू करो तो जीवन सुखमय हो जाता है। जैन श्रावकाचार दान की बहुत गहरी प्रेरणा देते हैं। पद्मनंदी पंचविंशति में कहा है कि जो श्रावक पुण्योदय से प्राप्त लक्ष्मी को दान में नहीं देता वह कौए से भी गया बीता है, क्योंकि कौआ भी प्राप्त खुरचन को बाँटकर ही खाता है।

10. ऋषभदेव की पाँच बातें सदा ध्यान में रखनी चाहिए— स्वतन्त्रता, अस्वच्छन्दता, स्वावलंबन, स्वयं को बदलो दूसरे को नहीं, सदा प्रसन्न रहो।

11. ध्यान, सामायिक, प्रतिक्रमण, आलोचना आदि क्रियाओं का भी नित्य अभ्यास करना चाहिए। सुखी दाम्पत्य जीवन में इनकी बड़ी भूमिका होती है। इसी प्रकार बारह भावना का भी नित्य चिन्तन करना चाहिए। इससे कहीं आसक्ति नहीं होती, जो कि कलह का मूल कारण होती है। (सांप-नेवला-लड़ाई)

12. बच्चों को भी धर्म के मार्ग पर लगाना चाहिए। इस विषय में मेरा अन्य लेख द्रष्टव्य है— ‘परिवार को भी धर्म के मार्ग पर लगाओ’।

13. महापुराण पर्व 38, श्लोक 136 से 141 तक में वर्णित वर्णलाभक्रिया का भी सबको पालन करना चाहिए। वह बहुत आवश्यक है, उसके बिना भी दम्पति को स्वातंत्र्यसुख नहीं मिल सकता। वर्णलाभ क्रिया के अनुसार विवाह के बाद पति-पत्नी को उनका हिस्सा देकर अलग कर दिया जाता है, स्वतंत्र कर दिया जाता है, स्वावलम्बी बना दिया जाता है।

14. साधारण जीवों को जिन्हें अभी सकल संयम नहीं धारण करना है उन्हें विवाह कर ही लेना चाहिए, क्योंकि इससे धर्मसन्तति को आगे बढ़ाया जा सकता है और श्रावकाचार-निरूपित गृहस्थजीवन का भलीभांति पालन किया जा सकता है। यह कामविजय का भी उत्कृष्ट साधन है। यथा— “**धर्मसन्ततिमक्लिष्टां रतिं वृत्तकुलोन्नतिम् । देवादिसत्तिं चैच्छन् सत्कन्यां यत्नतो वहेत् ॥**” —सागारधर्मामृत, 10 अथवा —मूलाचार, 10/96 में भी कहा है कि गण में प्रवेश करने की अपेक्षा विवाह करना अच्छा है—

“वरं गणपवेसादो विवाहस्स पवेसणं । विवाहे राग उप्पत्ति गणो दोसाणमागरो ॥”

इसप्रकार हमने यहाँ सुखी दाम्पत्य जीवन के लिए निरूपित श्रावकाचार के कुछ बिन्दुओं का संक्षेप में संकेत किया। विस्तार से जानने के लिए मूल शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिए। सबका दाम्पत्य जीवन सुखमय हो, परम्परा मुक्ति का कारण बने— इसी मंगल भावना के साथ मैं यहाँ विराम लेता हूँ। ❖❖

जिनप्रतिमा के समक्ष हो विवाह

विवाह गृहस्थ जीवन का मूलाधार है। यदि वह शुभ होगा तो हमारा गृहस्थ जीवन भी शुभ होगा और यदि वह अशुभ होगा तो हमारा गृहस्थ जीवन भी अशुभ होगा। अतः इस पर विशेष ध्यान देना चाहिए। शास्त्रों में भी इस पर बहुत विशेष ध्यान दिया गया है। इसे जीवन के सोलह संस्कारों में एक महत्त्वपूर्ण संस्कार के रूप में परिगणित किया है और इसके सम्पादन की पूरी विस्तृत विधि भी समझाई गई है। अतः हमें इसे यँ ही हल्का-फुल्का नहीं समझना चाहिए, बल्कि बहुत ही गम्भीरता से लेना चाहिए। आजकल लोग इस पर विशेष ध्यान नहीं देते हैं, जैसे-तैसे सम्पन्न कर लेते हैं, इसीलिए आज लोगों का वैवाहिक जीवन बहुत समस्याग्रस्त होता जा रहा है, बड़ी संख्या में तलाक तक हो रहे हैं।

शास्त्रों के अनुसार विवाह की यह क्रिया बड़ी ही पवित्रता के साथ जिनप्रतिमा के समक्ष होनी चाहिए। आचार्य जिनसेन स्वामी ने आदिपुराण, सर्ग 38 में श्लोकसंख्या 127 से 134 तक इसका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है, जो मूलतः पठनीय है। इसके अतिरिक्त भी कुछ अन्य प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

किन्तु आजकल कुछ लोग सोचते हैं कि मन्दिर में जिनप्रतिमा के समक्ष विवाह जैसी सांसारिक क्रिया कैसे हो सकती है? अभी हाल ही में एक जोड़े ने कालकाजी नई दिल्ली के जैन मन्दिर में विवाह किया तो अनेक लोगों ने उसकी आलोचना की कि उसने बहुत गलत किया, मन्दिर की पवित्रता भंग की, इत्यादि। किन्तु ऐसा सोचना सिर्फ अज्ञानता ही है। इसमें मन्दिर की कोई पवित्रता भंग नहीं होती। मन्दिर की पवित्रता तो वहां अनुचित आचरण से होती है, किन्तु उस समय वहाँ कोई अनुचित आचरण नहीं किया जाता, कोई खाना-पीना हँसना-सोना आदि नहीं किया जाता, मात्र संयमपूर्वक सदगृहस्थ बनने की सच्ची प्रतिज्ञा की जाती है और इसमें कुछ भी अनुचित नहीं है। अपितु यह तो अत्यंत उचित ही जान पड़ता है। इससे तो रिश्ते में ईमानदारी, दृढ़ता और पवित्रता उत्पन्न होगी।

वैसे भी कोई भी व्रत या प्रतिज्ञा मन्दिर में जाकर जिनप्रतिमा के समक्ष लेने की परम्परा है, उसे ही अधिक उचित माना जाता है। विवाह भी एक ऐसी ही प्रतिज्ञा है, जिसे मन्दिर में जाकर जिनप्रतिमा के समक्ष लिया जाए तो अधिक उचित है।

आज भी हम लोग भगवान का चित्र लगाते हैं, मन्दिर से यंत्र और शास्त्र लाते हैं और उन्हें सिंहासन पर विराजमान कर उनके समक्ष ही विवाह करते हैं। सो यह भी मन्दिर ही तो हुआ। अतः यदि कोई जोड़ा साक्षात् ही मन्दिर में जाकर जिनप्रतिमा के समक्ष विवाह-प्रतिज्ञा ग्रहण करता है तो इसमें क्या आपत्ति है? यह तो प्रशंसनीय ही हुआ। आपत्ति तो केवल इस बात पर हो सकती है कि वहाँ कोई किसी प्रकार का अनुचित आचरण करे, जो कि वहाँ बिलकुल नहीं होना चाहिए। वह सब तो बाद में वहाँ से बाहर आकर अपने घर या अन्य कहीं धर्मशाला आदि में होना चाहिए। मन्दिर में तो केवल पूजा और संकल्प ग्रहण की करना चाहिए। तथा यह संकल्प वास्तव में देश संयम का संकल्प है, एकदेश दीक्षा ही है।

जिनप्रतिमा के समक्ष विवाह हो— इसके प्रमाणस्वरूप आचार्य जिनसेन द्वारा रचित आदिपुराण, सर्ग 38 के श्लोक 127 से 134 पठनीय हैं—

ततोऽस्या गुर्वनुज्ञानादिष्टा वैवाहिकी क्रिया ।
 वैवाहिके कुले कन्यामुचितां परिणेष्यतः॥
 सिद्धार्चनविधिं सम्यक् निर्वर्त्य द्विजसत्तमाः ।
 कुलाग्नित्रयसंपूजाः कुर्युस्तत्साक्षितां क्रियाम् ॥
 पुण्याश्रमं क्वचित् सिद्धप्रतिमाभिमुखं तयोः ।
 दम्पत्योः परया भूत्या कार्यः पाणिग्रहोत्सवः॥
 वेद्यां प्रणीतमग्नीनां त्रयं द्वयमथैककम् ।
 ततः प्रदक्षिणीकृत्य प्रसज्य विनिवेशनम् ॥
 पाणिग्रहणदीक्षायां नियुक्तं तद्वधूवरम् ।
 आसप्ताह चरेद् ब्रह्मव्रतं देवाग्निसाक्षिकम् ॥
 क्रान्त्वा स्वस्योचितां भूमिं तीर्थभूमिर्विहृत्य च ।
 स्वगृहं प्रविशेद् भूत्या पत्या तद्वधूवरम् ॥
 विमुक्तकंकणं पश्चात् स्वगृहं शयनीयकम् ।
 अधिशय्य यथाकालं भोगोद्गैरुपलालितम् ॥
 सन्तानार्थमृतावेव कामसेवां मिथो भजेत् ।
 शक्तिकालव्यपेक्षोऽयं क्रमोऽशक्तेष्वतोऽन्यथा ॥

उक्त श्लोकों में आचार्य जिनसेन स्वामी ने स्पष्ट शब्दों में सिद्ध भगवान की प्रतिमा के सम्मुख विवाह क्रिया सम्पन्न करने का निर्देश दिया है।

दरअसल, विवाह कोई पापक्रिया नहीं है, अपितु धर्मक्रिया ही है। विवाह तो वास्तव में एकदेश दीक्षा ही है, जिसमें अपने अनन्त पापों को सीमित किया जाता है और धर्म में आगे बढ़ने का संकल्प किया जाता है। ❖❖

क्या गृहस्थ अवस्था में धर्म होता है?

आजकल कुछ लोग, कोई-कोई तो साधु भी ऐसा कह रहे हैं कि गृहस्थ अवस्था में बिलकुल धर्म नहीं होता, हो ही नहीं सकता, कथमपि नहीं हो सकता।

उनकी यह बात कथंचित् सत्य भी है, परन्तु वे इस बात को जिस तरह से बढ़ा-चढ़ा कर बार-बार कह रहे हैं, उससे ज्ञात होता है कि वे इस पक्ष को गौण नहीं कर रहे हैं अपितु उसका अभाव ही कर रहे हैं और उनकी यही बात शास्त्रविरुद्ध है। शास्त्रों में स्पष्ट रूप से धर्म के दो भेद कहे हैं— गृहस्थ धर्म और मुनि धर्म। जिस प्रकार मुनि अवस्था एक दीक्षा है, उसी प्रकार गृहस्थ अवस्था भी एकदेश दीक्षा ही है। आचार्यो ने धर्मात्मा गृहस्थ को ‘श्रावक’ जैसा उत्तम विशेषण दिया है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने तो धर्मध्यान में मग्न गृहस्थ को ‘वस्त्रों से ढंका हुआ मुनि’ ही कह दिया है। उनकी वह मूल पंक्ति पढ़ने योग्य है—

‘चेलोपसृष्टमुनिरिव गृही तदा याति यतिभावम्।’

—रत्नकरंड श्रावकाचार, 102

अर्थ— सामायिक के काल में गृहस्थ भी वस्त्र से आच्छादित मुनि की तरह यतिभाव को प्राप्त हो जाता है।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने इसके अलावा और भी अनेक ऐसे महत्त्वपूर्ण वाक्य लिखे हैं जिनसे गृहस्थ अवस्था में धर्म की सिद्धि होती है। जरा निम्नलिखित एक वाक्य और देखिए जिसमें वे कहते हैं कि निर्मोही गृहस्थ तो मोही मुनि से भी अधिक श्रेष्ठ है। यथा—

‘गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।

अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः॥’

—रत्नकरंड श्रावकाचार, 33

न केवल समन्तभद्र स्वामी ने अपितु अन्य भी अनेक आचार्यो ने नाना प्रकार से गृहस्थ अवस्था में धर्म को बतलाया है और उसकी मुक्त कंठ से प्रशंसा भी की है। ‘उपासकाध्ययन’ (वसुनंदी श्रावकाचार, गाथा 539) में कहा गया है कि धर्मात्मा गृहस्थ तीन से पाँच भव में अवश्य मोक्ष प्राप्त करता है।

इसीप्रकार के और भी अनेक उद्धरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं, अतः हमें सर्वथा ऐसा नहीं समझना चाहिए कि गृहस्थ अवस्था में बिलकुल धर्म नहीं होता। वैसे भी भारत एक धर्मप्रधान देश है। यहाँ की गृहस्थ अवस्था सर्वथा धर्मरहित नहीं हो सकती। यहाँ अर्थ और काम पर भी धर्म का नियन्त्रण बताया गया है, क्योंकि चार पुरुषार्थों में सबसे प्रथम पुरुषार्थ का नाम है धर्म।

अरे, वास्तव में देखा जाए तो धर्म की शुरुआत तो गृहस्थ अवस्था में ही होती है और वही बाद में परिपक्व होकर मुनि अवस्था को जन्म देती है। धर्मरूपी प्रासाद की नींव/आधारशिला तो गृहस्थ अवस्था ही है। धर्म का मूल कार्य, अधिकांश कार्य तो गृहस्थ दशा में ही सम्पन्न होता है, परन्तु यह बात अलग है कि वह लोगों को दिखाई नहीं देता। देखो आश्चर्य की बात कि जो गृहस्थ अनंत स्त्रियों का त्याग करता है, मात्र एक रखता है, उसका त्याग तो लोगों को नहीं दिखता और जो बाद में उस एक स्त्री का त्याग करता है, वह सबको त्यागी दिखाई देता है। इसीप्रकार अन्य सब व्रतों में समझना चाहिए। गृहस्थ अवस्था भी एकदेश दीक्षा ही है।

आजकल जो लोग कहते हैं कि गृहस्थ अवस्था में बिलकुल धर्म नहीं होता, वे गृहस्थ धर्म के स्वरूप एवं महत्त्व से नितांत अनभिज्ञ हैं। यही कारण है कि वे अपनी बात को बहुत लम्बा करते हुए यहाँ तक कह जाते हैं कि क्षुल्लक, ऐलक, आर्यिका आदि सब गृहस्थ होने से पूज्य नहीं हैं और सभी गृहस्थ विद्वानों द्वारा रचित ग्रंथ भी पढ़ने योग्य नहीं हैं। यह जिनेन्द्र देव और जिनवाणी का अवर्णवाद है। जिनवाणी में सभी जिनेंद्रों ने स्पष्टतया दो धर्म कहे हैं। जिनशासन का रथ अनादि काल से आज तक श्रावक और श्रमण अथवा गृहस्थ और मुनि के दो पहियों (चक्रों) पर प्रवाहित होकर हम तक पहुँचा है और भविष्य में भी इन्हीं दो पहियों पर आगे बढ़नेवाला है। चारित्रचक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागरजी महाराज तो इसीलिए बारम्बार बोलते रहते थे कि— श्रमणसंघोस्तु मंगलम्, श्रावकसंघोस्तु मंगलम्।

अतः हमें इस विषय को सावधानी से समझना चाहिए और केवल एक ही पक्ष पकड़कर नहीं बैठना चाहिए कि गृहस्थ अवस्था में बिलकुल धर्म नहीं होता। हाँ, उसमें बिलकुल संतुष्ट नहीं होना चाहिए, अपितु अपने गृहवास की निरंतर निंदा करते हुए मुनि होने की गहरी भावना भानी चाहिए कि— ‘संत साधु बनके विचरूँ वह घड़ी कब आएगी’। ❖❖

परिणामों में इतनी विशुद्धि तो अवश्य होनी ही चाहिए कि व्यक्ति स्वयं भले ही कोई-सा भी धर्मध्यान (दान, पूजा, स्वाध्याय, संयम आदि) किंचित् भी न करता हो, पर यदि कोई दूसरा व्यक्ति कर रहा हो तो उसे तो विघ्न न करे, बाधा उत्पन्न न करे। इसे ही शास्त्रों में इस प्रकार कहा है कि कम से कम अन्तराय तो मत करो। यदि कोई व्यक्ति स्वयं धर्मध्यान न करे, केवल दूसरों को ही सहयोग करे तो भी वह धर्मात्मा है।

सांसारिक कार्यों को करते हुए भी पुण्यार्जन !

प्रायः लोग मानते हैं कि धार्मिक क्रियाएँ करते समय पुण्यबन्ध होता है और सांसारिक क्रियाएँ करते समय पापबन्ध होता है और एक अपेक्षा से ऐसा है भी, किन्तु वास्तव में देखा जाए तो कर्मबन्ध का सही सम्बन्ध आत्मा के अन्तरंग भावों से है। यदि कोई जीव मन्दिर में पूजा-पाठ करते हुए भी विषय-कषायादि का चिन्तन कर रहा है तो उसे पुण्यबन्ध नहीं हो सकता, पापबन्ध ही होगा। तथा यदि कोई जीव घर-गृहस्थी के सांसारिक कार्यों को करते हुए भी अहिंसा-करुणा-सत्यादि के शुभ भाव कर रहा है तो उसे पुण्यबन्ध भी अवश्य होता है।

इससे हमें यह महत्वपूर्ण शिक्षा मिलती है कि हम अपने सांसारिक कार्यों को करते समय कुछ इस तरह के शुभभाव अपने अन्दर में रखें कि घोर पाप से बच सकें; न केवल घोर पाप से बच सकें, बल्कि कुछ पुण्योपार्जन भी कर सकें। यथा—

1. भोजन बनाते समय हमारे ऐसे भाव हों कि लोग भूखे न रहें, स्वस्थ रहें, तृप्त होकर अपने विद्याध्ययनादि कार्यों में भली प्रकार प्रवृत्त हों तथा दूसरों के सेवाकार्य भी अच्छी तरह सम्पन्न करें।
2. भोजन करते समय भी स्वाद-लोलुपता, शरीर-पोषण आदि की भावनाएँ गौण करके धर्मसाधन एवं परोपकार हेतु शरीर-रक्षा ही हमारा मुख्य उद्देश्य होना चाहिए।
3. दुकान पर व्यापार करते समय भी केवल धनार्जन का भाव ही न रखें, अपितु जनसेवा का भाव अधिक रखें।
4. चिकित्सालय में सेवा करते समय भी धनार्जन को गौण रखें और अत्यन्त करुणाबुद्धि से दीन-दुःखी रोगी जनों की सेवा का भाव ही अधिक रखें।
5. विद्यालय में सेवा करते समय भी धनार्जन को अत्यन्त गौण करके (अपनी मजबूरी समझकर) बड़े ही पवित्र भाव से, विश्वकल्याण की भावना भाते हुए ज्ञानदान का उत्कृष्ट कार्य सम्पादन करना चाहिए।
6. इसीप्रकार खेती करते समय या मकान बनाते समय भी हृदय में जीवदया और परोपकार की पवित्र भावना को मुख्य किया जा सकता है।

इसीप्रकार अन्य भी सभी कार्यों में घटित कर लेना चाहिए। वहाँ जितना हिंसा,

आरम्भ-परिग्रह का भाव होगा उतना तो पापबन्ध होगा, पर जितनी जीवदया एवं परोपकार आदि की भावना होगी उतना पुण्यबन्ध भी अवश्य होगा। सांसारिक कार्य करना हमारी मजबूरी है, किन्तु यदि हम अपने भावों को सँभालें, उन्हें धर्मयुक्त रखें, धर्मपूर्वक ही अर्थ एवं काम का सेवन करें तो अकेला पापबन्ध नहीं होगा, कुछ पुण्य-बन्ध भी अवश्य होगा, अतः अपने भावों को सँभालना चाहिए। ❖❖

जीवदया ही धर्म है

जीववहो अप्पवहो जीवदया होदि अप्पणो हुदया।

विसकंठो व्व हिंसा परिहरिदव्वा तदो होदि॥ —भगवती आराधना 775

भावार्थ— जीववध आत्मवध है और जीवदया आत्मदया है, अतः हिंसा त्याज्य है।

जह तेण पियं दुक्खं तहेव तेसिं पि जाण जीवाणं।

एवं णच्चा अप्पोवमिवो जीवेसु होदि सदा॥ —भगवती आराधना 776

भावार्थ— जैसे तुम्हें दुःख प्रिय नहीं है, वैसे ही अन्य जीवों को भी प्रिय नहीं है, अतः उनसे आत्मवत् व्यवहार करो।

दयामूलो भवेद् धर्मो दया प्राप्यनुकम्पनम्।

दयायाः परिरक्षार्थं गुणाः शेषाः प्रकीर्तिताः॥ —आदिपुराण 5/21

भावार्थ— धर्म दयामूलक है। दया की रक्षा के लिए ही सारा धर्म है।

एका जीवदयैकत्र परत्र सकलाः क्रियाः।

परं फलं तु पूर्वत्र कृषेच्चिन्तामणेरिव॥ —यशस्तिलक, 7/92

भावार्थ— एक ओर जीवदया है और दूसरी ओर शेष सारी धर्म क्रियायें हैं। इनमें से जीवदया ही सकल धर्म क्रियाओं का फल है।

यावन्ति पशुरोमाणि पशुगात्रेषु भारत।

तावद्वर्षसहस्राणि पच्यते पशुघातकः॥ —विष्णुपुराण

भावार्थ— हे अर्जुन ! पशु की हत्या करनेवाला व्यक्ति उस पशु के शरीर में जितने रोम हैं, उतने ही हजार वर्षों तक नरक में भट्टी में पकाया जाता है।

कोई काहू जीव की, करै आतमा घात।

साँच कहुँ संसा नही, सो प्राणी दोजख जात॥ —दादूवाणी 1/125

दयाधर्म हिरदै बसै, बोलै अमृत बैन।

तेई ऊँचे जानिये, जिनके नीचे नैन॥

सब पानी की पूपरी, एक दया जग सार।

जिन पर आतम चीन्हिया, तेइ उतरे पार॥

—मलूकदास बानी, 57-58

उत्तम शौच या उत्तम सत्य ?

दशलक्षण महापर्व में प्रतिदिन एक-एक धर्म की आराधना की परम्परा प्रचलित है, किन्तु उसमें चौथे-पाँचवें दिन एक मतभेद सामने आता है कि कहीं तो उत्तम शौच की आराधना पहले होती है और कहीं उत्तम सत्य की? इससे समाज में उलझन एवं अव्यवस्था उत्पन्न होती है। यहाँ हम इसी समस्या पर कुछ विचार शास्त्राधार से करना चाहते हैं।

सर्वप्रथम तो इस संबंध में मैंने स्वयं अनेक शास्त्रों का अवलोकन किया और पाया कि अधिकांश शास्त्रों में शौच पहले आता है और सत्य बाद में, अतः क्रम तो शौच का ही पहले आना चाहिए; किन्तु कविवर पं. दानतराय कृत दशलक्षण धर्म की पूजा के अर्घ्यों में पहले सत्य छपा है, बाद में शौच और वही पूजा समाज में सबसे ज्यादा लोकप्रिय है; अतः कुछ लोग सत्य की पूजा पहले करने लगे और शौच की बाद में।

प्रश्न है कि यदि अधिकांश शास्त्रों में शौच पहले था तो कविवर दानतरायजी ने सत्य का अर्घ्य पहले और शौच का बाद में क्यों लिखा?

उत्तर— मुझे लगता है कि उन्होंने भी शौच का ही अर्घ्य पहले लिखा है, सत्य का बाद में, किन्तु बाद में किसी पाण्डुलिपिकार से यह क्रम भंग हो गया है और फिर उसी की परम्परा चल पड़ी है।

प्रश्न— आपको कैसे लगता है? क्या आधार है इसका?

उत्तर— देखिए, यदि दानतरायजी सत्य को पहले और शौच को बाद में मानते होते तो उन्होंने उसी पूजा में स्थापना एवं जयमाला में शौच को पहले और सत्य को बाद में कैसे लिखा है? इससे स्पष्ट होता है कि दानतरायजी को भी पूर्ववर्ती समस्त आचार्यों की भांति शौच का ही क्रम पहले मान्य है, सत्य का नहीं।

पुनश्च, जैन शास्त्रों में सर्वाधिक प्रमाणभूत ग्रन्थ 'तत्त्वार्थसूत्र' है। उसमें नौवें अध्याय के छठे सूत्र में भी शौच को पहले और सत्य को बाद में लिखा है। न केवल तत्त्वार्थसूत्र में, उसकी आचार्य पूज्यपाद कृत सर्वार्थसिद्धि, आचार्य अकलंक कृत तत्त्वार्थराजवार्तिक, आचार्य विद्यानन्दि कृत तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि टीकाओं में

भी शौच की ही पहले व्याख्या लिखी गई है, सत्य की बाद में।

इसके अतिरिक्त कार्तिकेयानुप्रेक्षा (गाथा 397), भगवती आराधना (गाथा 46), तत्त्वार्थसार (6/16) में भी उत्तम शौच का ही क्रम पहले बताया है, उत्तम सत्य का नहीं।

इनके अतिरिक्त एक 'दशलक्षण विधान' भी बहुत सुंदर पाया जाता है जिसे पं. टेकचंदजी ने लिखा है। उसमें भी उत्तम शौच की पूजा पहले आती है और उत्तम सत्य की बाद में।

इससे ज्ञात होता है कि उमास्वामी, पूज्यपाद, अकलंक, विद्यानन्दि, कार्तिकेय, शिवकोटि, अमृतचन्द्र आदि सभी महान आचार्यों और दानतराय, टेकचंद आदि लगभग सभी विद्वान् कवियों को भी पहले शौच का ही क्रम मान्य है और वही सब शास्त्रों की मूलभूत परम्परा है। यद्यपि शास्त्रों में ही क्वचित्-क्वचित् सत्य पहले लिखा हुआ मिलता है, परन्तु उसकी मुख्यता नहीं है। उससे तो हमें यह शिक्षा लेनी चाहिए कि यदि कदाचित् कोई व्यक्ति किसी धर्मांग की पहले-पीछे आराधना करता है तो कोई बात नहीं, किसी एक का ही आग्रह रखना उचित नहीं है। विवाद करना भी उचित नहीं है। यहाँ तो हम एक सामान्य-सी बात सामाजिक दृष्टि से रख रहे हैं।

वैसे भी यदि हम इनको कषायों के अभाव की अपेक्षा समझना चाहें तो भी शौच का ही क्रम वैज्ञानिक प्रतीत होता है। चतुर्थ कषाय लोभ है, अतः उसके अभावस्वरूप प्रकट होनेवाला चतुर्थ धर्म भी शौच ही उचित सिद्ध होता है।

अतः हम सबको एकमत से शौच को पहले और सत्य को बाद में मनाने का निर्णय कर लेना चाहिए, ताकि समाज में उलझन एवं अव्यवस्था समाप्त होकर एकरूपता की स्थापना हो।

किन्तु खेद है कि लोग आजकल अपने को सुधारने की बजाय पुस्तकों में परिवर्तन करने लगे हैं। 'पूजन-पाठ-प्रदीप' की नई पुस्तकों में भी दशलक्षण पूजा की स्थापना एवं जयमाला में क्रम बदलकर छपाया जा रहा है। 'तत्त्वार्थसूत्र' के संबंधित सूत्र (अध्याय 9, सूत्र 6) में भी क्रम-परिवर्तन करके छपाया जा रहा है। अभी-अभी अमर ग्रंथालय उदासीन आश्रम इन्दौर से पं. टेकचंदजी का 'दशलक्षण विधान' छपकर आया है, उसमें भी यह क्रम अपनी मर्जी से बदलने का अक्षम्य अपराध किया गया है। यह विकृत परम्परा शीघ्र रुकनी चाहिए। जहाँ जिस ग्रन्थ में जो क्रम है, उसे वैसा ही रहने देना चाहिए। ❖❖

जैन जीवन शैली

यदि सभी लोग जैन जीवनशैली का प्रयोग करें तो देश में एक पुलिस चौकी की भी आवश्यकता न पड़े।

—ज्ञानी जैलसिंह

जैन-साहित्य में जिनेन्द्रार्चना एवं जिनाभिषेक

भारतीय साहित्य के भंडार में जिनेन्द्रदेव की अर्चना एवं अभिषेक से सम्बन्धित विशाल साहित्य उपलब्ध होता है, जिसके परिमाण एवं गुण को देखकर कोई भी सहृदय पाठक आश्चर्यचकित हो सकता है। किन्तु इस बात का दुःख भी अत्यधिक होता है कि उसे अभी तक कोई उच्चस्तरीय संपादक-प्रकाशक नहीं मिला। वह ऐसी ही स्थिति में पड़ा हुआ है। उसमें भी अधिकांशतः तो अप्रकाशित ही है। यदि कभी कहीं से कुछ प्रकाशित भी हुआ है तो वह प्रकाशन के मानदंडों के अनुकूल नहीं है। उसमें ग्रन्थ-ग्रन्थकार की अनुसन्धानपरक प्रस्तावना आदि तो दूर, प्रकाशक का पूर्ण पता और प्रकाशन-वर्ष तक छपा नहीं मिलता। मूल अंश में भी वर्तनी आदि की अशुद्धियाँ भयंकर पाई जाती हैं। तथा अशुद्ध पुस्तकें कितनी खतरनाक होती हैं —यह जानना हो तो मेरा अन्य लेख ‘अशुद्ध पुस्तकं शत्रुः’ पढ़ने योग्य है, यहाँ उसे विस्तारभय से नहीं लिखा जाता है।

अतः सर्वप्रथम तो इस बात की अत्यधिक आवश्यकता है कि जैन धर्म के पूजन-साहित्य को भी दार्शनिक ग्रन्थों की तरह पं. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, जुगलकिशोर मुख्तार जैसे विद्वान् संपादक और भारतीय ज्ञानपीठ, वीर सेवा मंदिर जैसे श्रेष्ठ प्रकाशक मिलें; तभी उसका प्रामाणिक एवं सुव्यवस्थित अध्ययन-अध्यापन प्रस्तुत किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। क्योंकि जबतक शोधार्थी को यही स्पष्ट नहीं होगा कि अमुक रचना प्रामाणिक रूप से कब किस आचार्य ने लिखी है, तबतक वह उसे आधार के रूप में कैसे प्रस्तुत करेगा? दुःख का विषय है कि आज स्थिति ऐसी ही अधिक है। अभिषेक पाठ, शांतिपाठ, विसर्जनपाठ आदि के रचनाकार, रचनाकाल आदि प्रायः अज्ञात हैं या विवादास्पद हैं। एक कहता है पूज्यपाद हैं, दूसरा कहता है कि नहीं यह पूज्यपाद का नहीं है। ऐसी स्थिति में कैसे कोई शोधकार्य किया जा सकता है —यह सहज समझा जा सकता है।

पूजन-साहित्य के प्रकाशन-संपादन की दिशा में यद्यपि एक-दो प्रयोग हुये हैं— ‘ज्ञानपीठ पूजांजलि’ आदि के रूप में, पर विशाल पूजन-साहित्य के समक्ष ये नगण्य हैं और इस दिशा में अभी अनुसन्धानपरक विपुल प्रकाशनों की महती आवश्यकता है।

अस्तु, यदि अभी हम इस बात को छोड़ दें और उपलब्ध सभी साहित्य को स्वीकार कर लें तो जिनार्चना एवं जिनाभिषेक से सम्बन्धित कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दु हमारे समक्ष निम्नानुसार उपस्थित होते हैं—

प्रत्येक श्रावक-श्राविका को प्रतिदिन आवश्यक रूप से जिनेन्द्रदेव का अभिषेक-पूजन बड़े ही उत्साहपूर्वक करना चाहिए, इसमें किंचित् भी प्रमाद नहीं करना चाहिए, यह मोह-क्षय का उत्कृष्ट निमित्त है, इससे जीव का उभय लोक मंगलकारी होता है, यह कामधेनु, चिन्तामणि, कल्पवृक्ष से भी बढ़कर कल्याणकारी है।¹ श्रावक के षट् आवश्यकों में से यह एक है, एक ही नहीं है, बल्कि एक नम्बर का है, सबसे पहला है। प्रतिदिन प्रातःकाल उठने के बाद सर्वप्रथम जिनेन्द्रदेव के दर्शन-पूजन का ही उद्यम करना चाहिए। राजा भोज तो इस सम्बन्ध में ऐसा लिखते हैं कि—

“सुप्तोत्थितेन सुमुखेन सुमंगलाय,
द्रष्टव्यमस्ति यदि मंगलमेव वस्तु।
अन्येन किं तदिह नाथ तवैव वक्त्रं,
त्रैलोक्यमंगलनिकेतनमीक्षणीयम्॥”

— भूपालजिनचतुर्विंशतिका, 19

अर्थ— हे जिनेन्द्र ! यदि कोई व्यक्ति अपने सुमंगल के लिए प्रातः उठते ही कोई मंगल वस्तु देखना चाहता है तो उसे सर्वप्रथम आपका ही मुख देखना चाहिए, क्योंकि वही तीन लोक में सर्वाधिक मंगलकारी है, सभी मंगलों का निकेतन है।

उक्त श्लोक का बहुत सुंदर हिन्दी-पद्यानुवाद महाकवि भूधरदास ने इस प्रकार किया है—

“सोकर जागे जो श्रीमान्, पंडित सुधी सुमुख गुणवान्।
आपन मंगल हेत प्रशस्त, अवलोकन चाहे कछु वस्त ॥
और वस्तु देखे किस काज, जो तुम मुख राजे जिनराज।
तीन लोक को मंगलथान, प्रेक्षणीय तिहुँ जग कल्याण ॥”

इसी प्रकार ‘पद्मनन्दि-पंचविंशतिका’ में लिखा है कि—

“प्रपश्यन्ति जिनं भक्त्या, पूजयन्ति स्तुवन्ति ये।
ते च दृश्याश्च पूज्याश्च, स्तुत्याश्च भुवनत्रये ॥
ये जिनेन्द्रं न पश्यन्ति, पूजयन्ति स्तुवन्ति न।
निष्फलं जीवितं तेषां, तेषां धिक् च गृहाश्रमम् ॥
प्रातरुत्थाय कर्त्तव्यं, देवतागुरुदर्शनम्।
भक्त्या तद्बन्धना कार्या, धर्मश्रुतिरुपासकैः॥
पश्चादन्यानि कार्याणि, कर्त्तव्यानि यतो बुधैः।
धर्मार्थकाममोक्षाणामादौ धर्मः प्रकीर्तितः॥”

—(410से413)

जो पुरुष जिनेन्द्रदेव को भक्तिपूर्वक देखते हैं, पूजते हैं और उनकी स्तुति करते हैं, वे स्वयं भी तीन लोक के दृश्य, पूज्य और स्तुत्य बन जाते हैं। जो पुरुष जिनेन्द्रदेव के दर्शन, पूजन, स्तवन नहीं करते हैं, उनका जीवन निष्फल है और उनके गृहस्थाश्रम को धिक्कार है। अतः धर्म-श्रुति के उपासकों को प्रातःकाल उठकर देव-गुरु के दर्शन करने चाहिए और भक्तिपूर्वक उनकी वंदना करनी चाहिए। उसके बाद ही बुद्धिमानों को अन्य कोई काम करना चाहिए, क्योंकि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष— इन चार पुरुषार्थों में सबसे पहले धर्म को गिनाया गया है।

किन्तु यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जैन साहित्य में ‘जिनपूजा’ का अर्थ अत्यन्त व्यापक किया गया है।²

आचार्य जिनसेन कृत महापुराण, श्लोक 38/28 के अनुसार अर्हन्त प्रतिमा और उसके मन्दिर का निर्माण करना-कराना भी जिनपूजा है। श्लोक 38/29 के अनुसार दान देना भी जिनपूजा है और श्लोक 38/33 के अनुसार संध्याकाल में सामायिक करना भी जिनपूजा है। इतना ही नहीं, ‘पद्मनन्दि-पचविंशतिका’ और ‘सागार धर्माभूत’ श्लोक 2/44 के अनुसार जिनवाणी का अध्ययन-मनन करना भी जिनपूजा का ही एक प्रकार है।

‘भगवती आराधना’ (47/159) के अनुसार जिनेन्द्र देव का नामोच्चारण करना और उनके प्रति मन-वचन-काय से नमस्कारादि क्रिया प्रकट करना भी जिनपूजा ही है।

समाधितन्त्र (31) के अनुसार तो ‘जो परमात्मा है वही मैं हूँ और जो मैं हूँ वही परमात्मा है’— ऐसा ध्यान करना ही निश्चय से जिनपूजा ही है, अन्य कुछ नहीं। यथा—

“यः परात्मा स एवाहं, योहं स परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्यः, नान्यः कश्चिदिति स्थितिः॥”

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन-साहित्य में जिनेन्द्रपूजा का अर्थ अत्यन्त व्यापक है। उसमें आत्मा-परमात्मा के ध्यान से लेकर स्तुति, वन्दना, एक-दो द्रव्यों से पूजन करना, अभिषेक करना, अभिषेकपूर्वक पूजा करना, दान देना, तीर्थयात्रा करना, मन्दिर-निर्माण करना आदि तक भी समाहित होता है। वहाँ ऐसा आग्रह नहीं है कि ऐसा ही होना चाहिए, अन्यथा पाप लगेगा। यदि कहीं-कहीं ऐसा आग्रह मिलता भी है तो उसका अभिप्राय मात्र एक सुव्यवस्था/अनुशासन/सौन्दर्य का निर्माण करते हुए पूजक के भावों को अधिकाधिक विशुद्ध करना ही है, अन्य कुछ नहीं। आजकल कुछ लोग इस विषय में बड़ी कट्टरता दिखाते हैं, अल्प क्रिया वाले को तुम्हारी हानि होगी—ऐसा कहकर डराते हैं। यह ठीक नहीं है। कहा गया है कि—

“ण य एसो एयंतागहो कायव्वो दुण्णयत्तपसंगादो।”

—जयधवला, 1/1/1

अर्थ— किसी भी क्रिया को ऐसा ही है —ऐसा एकान्त आग्रह नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे दुर्नय (मिथ्यात्व) का प्रसंग उपस्थित होता है।

अतः यदि उचित हो तो कहीं कुछ उसका परिष्कार तो किया जा सकता है, पर बहिष्कार की भावना अत्यन्त उदारवादी जैनधर्म के सर्वथा प्रतिकूल है। अनादिकाल से लेकर आजतक भिन्न-भिन्न भूभागों में भिन्न-भिन्न भूमिका के जीवों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से जिनेन्द्र देव के प्रति गुणानुराग धारण करते हुए देवपूजा नामक दैनिक षडावश्यक को पूरा किया है।

यदि ‘देवपूजा’ मोक्षमार्ग में आनेवाली एक अनिवार्य क्रिया है तो हमें उस सबको देवपूजा मानना पड़ेगा जो आजतक मुक्त हुये सभी जीवों में पाई जाती थी, अन्यथा अतिव्याप्ति, अव्याप्ति आदि दोष उपस्थित होंगे।

आज हम बाहरी क्रियाकाण्ड में भी नहीं, बल्कि उसकी थोथी कट्टरता में अधिकाधिक उलझते जा रहे हैं, जबकि पूजा में तो तत्त्वज्ञान और भावशुद्धि पर अधिक जोर दिया जाना चाहिए। वही उपेक्षित होता जा रहा है, यह बड़ी चिन्ता का विषय है। आज जिनेन्द्रदेव की पूजा करने वाले लोग नाना प्रकार की अज्ञानताओं में फंसे नजर आ रहे हैं। कोई-कोई तो कुदेवों के पास भी जाता है। बहुत से लोग अरिहंत और उनके गुणों के स्वरूप को समझकर भी आत्मदर्शन का उद्यम जरा भी नहीं करते, जो कि पूजा का मूल प्रयोजन था।^१ आज शनैः शनैः पूजा में कर्तावाद और आडम्बर बहुत अधिक बढ़ता जा रहा है। इससे भी लोगों को बचाना चाहिए। यह बहुत आवश्यक है।

इसी प्रकार कुछ लोग समझ रहे हैं कि अमुक स्थान विशेष के अमुक भगवान ही हमारा भला करेंगे। वे उनकी चालीसा पढ़कर उससे धनसंपत्ति अपार प्राप्त करने की अभिलाषा कर रहे हैं। यह भी अज्ञानता ही है। उन्हें इससे ऊपर उठाना चाहिए।

आज हमें क्रियाकाण्ड की कट्टरता में उलझने-उलझाने की बजाय समाज को इन अज्ञानताओं से मुक्त करने में अपनी ऊर्जा लगानी चाहिए।

आजकल पूजा के सम्बन्ध में एक अज्ञानता यह भी चलती है कि पुजारियों को एक देव-शास्त्र-गुरु की पूजा से संतुष्टि ही नहीं होती है, वे सभी की पूजा इसमें हो गई —ऐसा नहीं समझ पाते हैं और अंधाधुंध जल्दी-जल्दी और-और पूजाएँ करते रहते हैं, भावशुद्धि पर ध्यान नहीं देते हैं। वे चौबीस तीर्थंकर की भी पूजा करेंगे और फिर चन्द्रप्रभ, पार्श्वनाथ की भी अलग-अलग पूजा करते जाएंगे। जबकि जैनाचार्यों ने व्यक्तिवाद को कभी भी बढ़ावा नहीं दिया। उनके अनुसार तो पूजा सामान्यतः ही होना श्रेष्ठ है, क्योंकि उससे एक का पक्ष नहीं होता। ‘कषायपाहुड’ टीका में

वीरसेनाचार्य ने युक्तिपूर्वक विस्तार से समझाया है कि एक जिन की वन्दना से सबकी वन्दना हो जाती है—

“अणंतणणदंसणवीरियसुहादिदुवारेण एयमावण्णेषु अणंतेसु जिणेषु एयवंदणाए सव्वेसिं पि वंदणुववत्तीदो ।”

—कसायपाहुडटीका, जयधवला, 1/1,1/ 86-87

समग्र जैन-साहित्य के अवलोकन से ज्ञात होता है कि यह व्यक्तिवाद धीरे-धीरे बढ़ता चला गया है और अब तो बहुत ही अधिक बढ़ गया है और इससे समाज की एकता और अखण्डता को भी बड़ा खतरा पैदा हो गया है, अतः इसे कुछ हतोत्साहित करने की जरूरत है, अन्यथा बड़ा अनर्थ हो जाएगा।

दरअसल जिस प्रकार धर्म और धर्मान्धता में बड़ा अंतर होता है, उसी प्रकार अंधभक्ति और विवेकपूर्ण भक्ति में बड़ा अंतर होता है। जैनधर्म में भक्ति-पूजा ज्ञानियों के ही सम्यक् कही गई है, अतः वह अत्यन्त विवेकपूर्ण होती है, अंधभक्ति नहीं। विवेकपूर्ण भक्ति के लिए सर्वप्रथम तो आप्त का स्वरूप समझना अत्यन्त आवश्यक है, वह भी भलीभाँति परीक्षापूर्वक। जैन साहित्य में इस विषय पर बड़ा जोर दिया गया है। आद्य स्तुतिकार आचार्य समन्तभद्र और उनके टीकाकारों ने तो इस विषय में आप्तमीमांसा, आप्तपरीक्षा, अष्टशती, अष्टसहस्री आदि लिखकर अद्भुत क्रान्तिकारी कार्य किया है।⁴ हम सबको उस पर ध्यान देना चाहिए, तभी स्तुति-पूजा-विषयक यह संगोष्ठी सफल-सार्थक होगी।

विवेकपूर्ण भक्ति के लिए पूजा का प्रयोजन (उद्देश्य) समझना भी अत्यन्त आवश्यक है, जो परमार्थतः आध्यात्मिक है। यद्यपि पूजा का फल सांसारिक लाभ भी होता है, पर प्रयोजन तो आत्मदर्शन-ज्ञान-चारित्र ही है, इसे भी भलीभाँति समझना अत्यन्त आवश्यक है। जैसे किसान खेती तो चावल के लिए करता है, भूसे के लिए नहीं, परन्तु चावल के साथ भूसा भी स्वयमेव मिलता ही है, उसी प्रकार ज्ञानीजन तो पारमार्थिक लाभ के लिए जिनपूजा करते हैं, लौकिक लाभ के लिए नहीं, परन्तु उससे उन्हें लौकिक लाभ भी स्वयमेव होता ही है।

किन्तु यदि कोई किसान केवल भूसे के लिए खेती करे तो उसे भूसा भी वैसा और उतना अधिक नहीं मिल पाएगा, जितना कि चावल के लिए खेती करने पर मिलता है, उसी प्रकार जो लौकिक लाभ के लिए ही पूजा-भक्ति करते हैं, उन्हें लौकिक लाभ भी उत्तम नहीं हो पाता। इसलिए लौकिक लाभ के लिए भक्ति-पूजा का निषेध किया गया है। आचार्यकल्प पं. टोडरमलजी लिखते हैं— ‘बहुरि इस प्रयोजन (लौकिक) के अर्थ अरहंतादिक की भक्ति किए तीव्र कषाय होने से पापबन्ध ही हो है, तातैं आपको इस प्रयोजन का अर्थी होना योग्य नहीं।’ —मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ 11

इस प्रकार हमें भक्ति-पूजा का वास्तविक प्रयोजन भी अवश्य समझना चाहिए।

अंत में, हम सभी जिनेन्द्र पूजा का समीचीन स्वरूप समझकर जिनेन्द्र के सच्चे पुजारी बनें— इसी मंगल भावना के साथ मैं अपनी बात पूरी करता हूँ।

पाद-सन्दर्भ-

1. “देखे श्री जिनराज आज सब विघन विलाये।
देखे श्री जिनराज आज सब मंगल छाये।।
देखे श्री जिनराज काज कछु करना नांही।
देखे श्री जिनराज होंस पूरी मन मांही।।
तुम देखे जिनराज अब, भौजल अंजुलि सम भया।
चिंतामणि पारस कल्पतरु, मोह सबनिसौं उठ गया।।”
—कविवर दानतराय, दर्शन-दशक, 1
2. “कबहूँ सुमति है कुमति को विनास करै, कबहूँ विमल ज्योति अंतर जगति है।
कबहूँ दया हवै चित्त करत दयाल रूप, कबहूँ सुलालसा है लोचन लगति है।।
कबहूँ आरती ह्वै कै प्रभुसन्मुख आवै, कबहूँ सुरभारती हवै बाहरि भगति है।
धरे दसा जैसी तब करे रीति तैसी ऐसी, हिरदै हमारे भगवंत की भगति है।।”
—बनारसीदास, समयसार नाटक, प्रथम द्वार, 14
3. “निरखत जिन चन्द्र वदन स्वपद सुरुचि आई।” —दौलत-विलास, 28
4. “देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान्।।” —आप्तमीमांसा, 1



देवपूजा का विस्तार

ऐसा लगता है कि मूल में एक देवपूजा ही थी, बाद में उसमें उपचार से शास्त्र और फिर गुरु भी जुड़े। उसके बाद नव देवता तक विस्तार हुआ, फिर पृथक्-पृथक् देवों, तीर्थों, गुरुओं की पूजाएँ बनने लगीं। बात फैलती ही चली गई। बाद में तो एक चन्द्रप्रभ भी तिजारा आदि अलग-अलग स्थानों वाले बढ़ते चले गये। देवपूजा में भी मुख्यतः सिद्धपूजा ही रही। तभी तो पूजा के सारे मन्त्र सिद्धों पर ही घटित होते हैं। यथा— जन्मजरामृत्युविनाशनाय, अष्टकर्मदहनाय, मोक्षफलप्राप्तये आदि। अरिहंत की पूजा मुख्य होती तो चतुःकर्मदहनाय आदि लिखा होता। पूजा की पद्धति भी फिक्स हो गई, क्रम से अष्टद्रव्य चढ़ा देना ही पूजा समझा जाने लगा। पूजा के अन्य सब रूप जो बड़े महत्त्वपूर्ण थे, प्रचलन से बाहर होने लगे। जैसे शास्त्र की पूजा तो वास्तव में उसका अध्ययन-मनन करना ही है, उसके कोई स्नान, नैवेद्य, चरणस्पर्श, आदि नहीं हो सकते, पर रूढ़ि बन गई। जैसे बच्चा हर वस्तु को खाता है, वैसा ही यह हुआ। पूजा के पाठ या वचन भी फिक्स हो गये। दूसरे की कविता ही जरूरी लगने लगी, हम स्वयं भी अपने गद्यात्मक वचनों से पूजा कर सकते हैं— यह लोगों को नहीं समझ में आ रहा।

जैनदर्शन में देवपूजा का उद्भव और विकास

जैनेतर धर्म-दर्शनों में तो ईश्वर या भगवान की स्थिति कुछ ऐसी है कि वहाँ देवपूजा-अर्चना का विधान होना समझ में आ जाता है, किन्तु जैनदर्शन तो परम वीतरागी दर्शन है, पूर्ण वीतरागता को ही अपना साध्य बताता है, किसी भी परद्रव्य की ओर लक्ष्य जाने को स्पष्ट शब्दों में दुर्गति का कारण कहता है— ‘परदव्वादो दुर्गई’ (—मोक्षपाहुड, गाथा 16) अतः वहाँ किसी भी देव की, चाहे वह कोई भी हो, पूजा-अर्चना का विधान कुछ समझ में नहीं आता। जैनदर्शन के अनुसार तो बस इतना ही मोक्षमार्ग है कि आत्मा को जानो, मानो और उसी में लीन हो जाओ। इसके अलावा कुछ भी मत करो। सभी जैनाचार्यों ने स्पष्ट शब्दों में बार-बार बल देकर यही कहा है कि जीव के सर्व दुःखों का मूल कारण एक आत्मभ्रान्ति ही है, अतः येन-केन प्रकारेण एक आत्मा का ज्ञान-श्रद्धान-आचरण करना चाहिए। यही दुःखनिवृत्ति और सुखप्राप्ति का समीचीन उपाय है। ऐसी स्थिति में वास्तव में हमें बड़ी गम्भीरता से चिन्तन करना चाहिए कि आखिर जैन धर्म में जिनपूजा का उद्भव कब, क्यों और कैसे हुआ?

दरअसल, यह बात एकदम सत्य है कि जैनदर्शन पूर्ण वीतरागी दर्शन है, पूर्ण वीतरागता को ही वह अपना साध्य बताता है, किसी भी परद्रव्य की ओर लक्ष्य जाने को दुर्गति का कारण कहता है और एक आत्मा को जानने, मानने और उसी में लीन हो जाने को ही जीव का परम कर्तव्य बताता है; किन्तु समस्या यह है कि आत्मा को जाना कैसे जाए? यही तो आसान कार्य नहीं है।

जैनाचार्यों ने इसी जटिल समस्या को सुलझाने के लिए जिनपूजा का विधान किया है।

विचारणीय है कि कैसे?

जिसप्रकार हमारा प्रयोजन तो अपना मुख देखना ही होता है, किन्तु हम आलम्बन दर्पण का लेते हैं, तभी अपना मुख देख पाते हैं, उसके बिना यह कार्य कथमपि सम्भव नहीं है; उसीप्रकार प्रयोजन तो एक निजदर्शन ही है, किन्तु वह निजदर्शन जिनदर्शन से ही सम्भव होता है, उसके बिना नहीं होता। यही कारण है

कि जैनदर्शन में जिनदर्शन या जिनपूजन की अवधारणा का उद्भव हुआ। जिनदर्शन या जिनपूजा वास्तव में मजबूरी है, कर्तव्य नहीं; साधन है, साध्य नहीं।

किन्तु बाद में इसे साधन होने के कारण उपचार से कर्तव्य ही कहा जाने लगा, जिससे बात बहुत बढ़ती चली गई। नाना प्रकार की अप्रयोजनभूत बातें भी इसमें जुड़ती चली गई। कुछ बातें तो कोरे आडम्बर के रूप में ही बन गई, उनका कोई औचित्य नहीं रहा। अथवा धीरे-धीरे लोगों ने उनको उनका कोई सामाजिक या मनोवैज्ञानिक महत्त्व मानकर ही स्वीकार कर लिया।

किन्तु हमें उस सबमें विशेष न उलझकर इस विषय को शांतिपूर्वक वैज्ञानिक रीति से समझने का प्रयास करना चाहिए और जिस विशेष प्रयोजन के लिए जिनपूजा का आलम्बन बताया गया है, उसी की सिद्धि करनी चाहिए। दर्पण देखने के लिए दर्पण नहीं देखना है, हमें तो अपना मुख देखने के लिए ही दर्पण देखना है। दर्पण का दृष्टान्त बहुत महत्वपूर्ण है, गम्भीरतापूर्वक चिंतनीय है।



भक्ति-पूजा आदि के सम्बन्ध में जैन दृष्टिकोण

बहुत-से लोग भगवान की भक्ति, पूजा आदि इसलिए करते हैं कि भगवान ने हमें जन्म दिया है और वे हमारा पालन भी करते हैं, इसलिए उनकी भक्ति-पूजा करना हमारा नैतिक कर्तव्य बनता है। यदि नहीं करेंगे तो यह कृतघ्नता कहलाएगी, शिष्टाचार के विरुद्ध कहलाएगी। तथा यदि हम उनकी भक्ति-पूजा करेंगे तो वे हमें और बहुत सुख देंगे, हमें सदा अपनी शरण में रखेंगे और यदि अभी हमारे पास दुःख हैं तो भी चिन्ता मत करो, वे देर-सवेर हमारी पुकार अवश्य सुनेंगे, हमारा बड़ा भला करेंगे अथवा हमें इस संसार-सागर से ही तार देंगे, अतः हमें अवश्य ही उनकी भक्ति-पूजा करनी चाहिए। अथवा यदि हम उनकी भक्ति-पूजा नहीं करेंगे तो वे हमसे नाराज हो जायेंगे और हमें नाना प्रकार से कष्ट देंगे, हमारे शरीर, परिवार, व्यापार आदि सबको खराब कर देंगे, इत्यादि, अतः हमें अवश्य ही उनकी भक्ति-पूजा करनी चाहिए।

किन्तु भक्ति-पूजा आदि के सम्बन्ध में जैन दृष्टिकोण इससे एकदम भिन्न है। यहाँ भगवान की भक्ति-पूजा किसी भय या आशा से नहीं की जाती है। अथवा उन्होंने हमें बनाया है, वे हमें पालते हैं, उनकी भक्ति करेंगे तो वे हमसे प्रसन्न रहेंगे, सुख देंगे, अन्यथा नाराज हो जाएँगे, दुःख देंगे—इत्यादि अभिप्राय से भी उनकी भक्ति-पूजा नहीं की जाती है। जैन दर्शन में तो भगवान की भक्ति-पूजा का उद्देश्य केवल यह है कि हम उनके महान गुणों को समझें और उन्हें अपने जीवन में भी प्रकट करें। जैन दर्शन के अनुसार भक्ति-पूजा के विषयभूत भगवान पूर्ण वीतराग होते हैं। वे भक्ति-पूजा से प्रसन्न और निंदा-आलोचना से कृपित नहीं होते हैं। जैन दर्शन के भक्ति सिद्धांत को ठीक से समझने के लिए आचार्य समन्तभद्र की कृति 'स्वयंभू-स्तोत्र' को पढ़ना चाहिए।

नित्य देवदर्शन की प्रतिज्ञा : एक समसामयिक शंका-समाधान

शंका— रयणसार, पद्मनन्दी-पंचविंशतिका आदि अनेक ग्रन्थों में नित्य देवदर्शन को श्रावक का अनिवार्य कर्तव्य कहा है। चर्चासागर में तो यहाँ तक कहा है कि जो देवदर्शन के बिना भोजन करता है वह मिथ्यादृष्टि है। यही सब सुन-समझकर हमने नित्य देवदर्शन की प्रतिज्ञा ले रखी है। किन्तु अब सरकार ने मन्दिर ही बन्द कर दिए हैं। ऐसी स्थिति में हम क्या करें?

समाधान— परिस्थिति बहुत ही विषम है, विश्वव्यापी संक्रामक महामारी फैल गई है, अतः सबकी सुरक्षा के लिए सरकार ने मन्दिर बन्द किये हैं। कुछ दिन की ही बात है। अतः आपने प्रतिज्ञा लेते समय विषम परिस्थितियों के लिए जो विकल्प या छूट रखी हो, वैसा कर लो।

शंका— नहीं, हमने तो कोई छूट नहीं रखी थी।

समाधान— क्यों नहीं रखी थी? रखनी चाहिए थी। प्रतिज्ञा लेते समय सभी विकल्पों पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए, किया ही जाता है। सोचो, कभी रोगादि के कारण मन्दिर न जा सकें तो क्या होगा? कभी कोई दुर्घटना से पैर टूट जाए तो क्या होगा? अरे, कभी हम अंधे ही हो जाएँ तो क्या होगा?

शंका— हमने तो यह सब नहीं सोचा और आज तक कभी भी एक दिन भी देवदर्शन के बिना नहीं रहे। किन्तु अब क्या करें? प्रतिज्ञा भंग कर दें क्या?

समाधान— नहीं, प्रतिज्ञा भंग करना उचित नहीं है। शास्त्रों में प्रतिज्ञा भंग करने का महादोष कहा है।

शंका— वही तो समस्या हो रही है कि अब क्या करें?

समाधान— एक तो यह शिक्षा ग्रहण करो कि भविष्य में कोई भी प्रतिज्ञा आगे-पीछे सब सोचकर ही ज्ञानियों के सान्निध्य में शास्त्रसम्मत तरीके से लेनी चाहिए, यँ ही नहीं।

शंका— वह तो भविष्य की बात है, परन्तु अब वर्तमान में क्या करें?

समाधान— वर्तमान में अब टेलीविजन आदि के माध्यम से परोक्ष रूप में देवदर्शन करके और घर पर ही पवित्र स्थान पर शांति से बैठकर पूजा, पाठ, स्वाध्याय, सामायिक आदि करके अपनी प्रतिज्ञा का कुछ निर्वाह किया जा सकता है।

शंका— किन्तु हमने तो नित्य मन्दिर जाकर जिनेन्द्रदेव के दर्शन-पूजन आदि की प्रतिज्ञा की है, क्योंकि साक्षात् चैत्य-चैत्यालय की वन्दना में जो बात है, वह टेलीविजन आदि से करने में बिलकुल नहीं आती।

समाधान— सत्य कहा, वह बात तो नहीं आ सकती, तुम्हारी प्रतिज्ञा में भी कुछ दोष लगेगा ही, लेकिन अब वर्तमान में ऐसी विषम परिस्थिति में अन्य कुछ किया ही क्या जा सकता है? अतः अब जबतक परिस्थिति ठीक न हो, लॉकडाउन का शासनादेश समाप्त न हो, तबतक इसी प्रकार अपने भाव विशुद्ध करना चाहिए। मन्दिर जाकर राजाज्ञा का उल्लंघन करना उचित नहीं।

शंका— क्या सभी राजाज्ञा मानना अनिवार्य होता है, चाहे वह गलत ही हो?

समाधान— राजाज्ञा तो माननी ही पड़ती है, उसमें कोई कुछ कर ही क्या सकता है? उसका तो कोई विकल्प ही नहीं है। किन्तु हाँ, दो प्रकार की राजाज्ञा धर्मात्मा जीव नहीं मान पाते हैं। एक, जिससे सम्यक्त्व में दोष लगे वह और दूसरी, जिससे अपना व्रत भंग होता हो वह। इसके अतिरिक्त वे पूरी तरह से सभी राजाज्ञाओं का सहर्ष पालन करते हैं, कभी भी किंचित् भी उनका उल्लंघन नहीं करते। सरकार का हर प्रकार से, अपना सर्वस्व समर्पण करके भी पूर्ण सहयोग करते हैं। सरकार हमारा बहुत उपकार करती है, अतः उसके प्रति अत्यंत कृतज्ञ रहते हैं। (देखो मेरा अन्य लेख— ‘जैनाचार्यों की राष्ट्रिय भावना’)

शंका— यदि कदाचित् कोई ऐसी ही राजाज्ञा हो जाए जिससे सम्यक्त्व में दोष लगता हो अथवा अपना व्रत भंग होता हो तो हमें क्या करना चाहिए?

समाधान— अच्छा राजा या शासन ऐसी आज्ञा कभी नहीं देता, जिससे किसी व्यक्ति का ऐसा धर्म भ्रष्ट होता हो। वह तो बल्कि उस धर्म की रक्षा करता है, वह होता ही धर्म की रक्षा के लिए है।

शंका— फिर भी मान लो कि यदि कदाचित् अज्ञानतावश ऐसी राजाज्ञा हो जाए कि जिससे सम्यक्त्व में दोष लगे अथवा अपना व्रत भंग होता हो तो हमें क्या करना चाहिए?

समाधान— अपने गुरुजी से मार्गदर्शन लेना चाहिए, परन्तु सम्यक्त्व एवं व्रत का त्याग करना उचित नहीं है।

शंका— कुछ लोग कहते हैं कि राष्ट्र, धर्म से भी पहले है, अतः राष्ट्र के लिए धर्म को भी छोड़ना पड़े तो बेझिझक छोड़ देना चाहिए।

समाधान— धर्म छोड़ देना चाहिए— ऐसा कहना बहुत उचित नहीं है, क्योंकि धर्म के लिए ही तो सब कुछ है। असली साध्य तो धर्म ही है। धर्म को तो सर्वत्र ही प्रथम स्थान पर रखा गया है। धर्मरक्षा के लिए ही तो हम शरीर, समाज, राष्ट्र आदि सब की रक्षा करते हैं। जब धर्म ही नष्ट हो जाएगा तो इनकी रक्षा का क्या फायदा? (नष्टे मूले कुतो शाखा) किन्तु राष्ट्र सुरक्षित रहेगा तो हम धर्म की रक्षा कर पाएंगे, इसलिए कभी-कभी ऐसा कह देते हैं कि राष्ट्र के लिए धर्म को भी छोड़ देना चाहिए, पर वास्तव में धर्म छोड़ने योग्य नहीं होता।

शंका— तो फिर क्या करना चाहिए?

समाधान— ऐसी स्थिति में हमें अपनी बात को निवेदन-प्रतिवेदन की भाषा में विधिसम्मत तरीके से अवश्य ही शासन/राजा तक पहुँचाना चाहिए और उसमें उचित संशोधन कराना चाहिए।

शंका— किन्तु यदि वह संशोधन न हो सके अथवा जबतक न हो सके तबतक क्या करना चाहिए?

समाधान— ऐसे में देश-काल-परिस्थिति देखकर बहुत कुशलता से काम चलाना चाहिए। अभी कैसे क्या बताया जा सकता है? यह तो परिस्थिति पर ही निर्भर करता है।

शंका— क्या राष्ट्र ही छोड़कर नहीं चला जाना चाहिए?

समाधान— राष्ट्र को छोड़ने के लिए भी तो राजा/शासन की अनुमति होनी चाहिए। यदि वह हमें वहाँ से जाने भी न दे तो क्या करेंगे?

शंका— तो फिर यदि व्रत ही भंग कर दिया जाए तो क्या दोष है? राष्ट्र के लिए ऐसा करना उचित ही रहेगा।

समाधान— नहीं, व्रत भंग करने की सलाह हम नहीं दे सकते हैं, क्योंकि यह शास्त्रसम्मत नहीं है। व्रत भंग करना समाधान भी नहीं है। ऐसी परिस्थितियाँ तो आती ही रहेंगी, कहाँ तक व्रत भंग करोगे?

शंका— क्या कभी भी कोई भी व्रत/प्रतिज्ञा भंग नहीं करना चाहिए? मान लो किसी ने किसी को जान से मारने की प्रतिज्ञा कर ली है तो क्या अब उसे इसका भी भंग नहीं करना चाहिए।

समाधान— दरअसल, हमें व्रत की परिभाषा तक भी नहीं पता है और कुछ भी व्रत लेते रहते हैं, इसीलिए ऐसे प्रश्न उत्पन्न होते हैं। व्रत ज्ञानपूर्वक ही होते हैं। अज्ञान दशा में सच्चे व्रत नहीं होते। अरे भाई, व्रत की परिभाषा ही यह है कि हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह —इन पाँच पापों के त्याग का नाम व्रत है (तत्त्वार्थसूत्र, 7/1)। इन पाँच पापों में लगने की प्रतिज्ञा/संकल्प का नाम व्रत नहीं है। इसप्रकार

किसी को मारने की प्रतिज्ञा जब प्रतिज्ञा/व्रत ही नहीं है तो उसे भंग करने की बात ही कहाँ शेष रहती है? उसे तो जितनी जल्दी हो सके, छोड़ देना चाहिए। किन्तु जो पाँच पापों के त्यागरूप प्रतिज्ञा ग्रहण की हो उसे कभी भंग नहीं करना चाहिए।

शंका— शास्त्रों में तो ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जब अनेक लोगों ने अवसर पड़ने पर प्रतिज्ञा भंग कर दी है। जैसेकि विष्णुकुमार मुनि, समन्तभद्र आचार्य आदि।

समाधान— शास्त्रों में तो ऐसे उदाहरण भी बहुत हैं, जिन्होंने प्राण त्याग दिए, पर अपना व्रत नहीं भंग किया। तुम उनको क्यों नहीं देखते हो? जैसे कि खदिरसार भील, यमपाल चांडाल आदि। खदिरसार भील ने मरना स्वीकार किया, पर औषध के रूप में भी कौए का मांस नहीं खाया, जबकि वह अन्य मांस तो खाता ही था, यह सोचकर कौए का मांस भी खा सकता था कि जान बच जाएगी। यमपाल चांडाल को तो राजाज्ञा भी थी कि तुम इसे फांसी पर चढ़ाओ, किन्तु उसने मरना स्वीकार किया, पर अपनी प्रतिज्ञा भंग नहीं की। इसी प्रकार के अन्य बहुत उदाहरण हैं। देखो, अकलंक-निकलंक ने तो यूँ ही ब्रह्मचर्य व्रत लिया था, किन्तु उन्होंने उसे भी भंग करने से इनकार कर दिया। अतः शास्त्राज्ञा तो यही है कि भले ही प्राण चले जाएँ, पर अपने व्रत का त्याग करना उचित नहीं।

रही बात विष्णुकुमार, समन्तभद्र आदि मुनियों की, सो उन्होंने ऐसा किया अवश्य था, परन्तु इससे यह नहीं सिद्ध होता है कि ऐसा करना चाहिए अथवा ऐसा करना उचित है, क्योंकि यदि उचित होता तो उन्होंने बाद में इसका प्रायश्चित्त क्यों लिया?

शंका— हम भी बाद में प्रायश्चित्त ले लेंगे, अभी फ़िलहाल तो प्रतिज्ञा भंग करके जीवन चला लेते हैं?

समाधान— प्रायश्चित्तशास्त्र तो उनके लिए है जिनसे कारणवशात् प्रतिज्ञा भंग हो जाती है। उनके लिए नहीं है जो जान-बूझकर प्रतिज्ञा भंग करते हैं।

शंका— समन्तभद्र एवं विष्णुकुमार मुनिराज ने तो जान-बूझकर ही प्रतिज्ञा भंग की थी?

समाधान— नहीं, उन्होंने जान-बूझकर प्रतिज्ञा भंग नहीं की थी, उनसे प्रतिज्ञा भंग हो गई थी। समन्तभद्र आचार्य को तो उनके गुरु ने आज्ञा दी थी, जबकि वे स्वयं प्रतिज्ञा भंग करना नहीं चाहते थे। विष्णुकुमार मुनिराज ने भी जान-बूझकर प्रतिज्ञा भंग नहीं की थी, धर्मानुराग की तीव्रता के कारण उनसे ऐसा हो गया था। वे स्वयं उसे उत्तम नहीं मानते थे।

शंका— शास्त्रों में लिखा है कि अमुक-अमुक कारणों से व्रतों को छोड़ा जा सकता है। जैसे कि चारित्रसार में लिखा है कि अपने परिणामों की दुर्बलता और राष्ट्र व माता-पिता आदि की रक्षा के कारण मुनिव्रत का त्याग किया जा सकता है। वह

क्या है?

समाधान— उसका भी आशय हमें इसी प्रकार समझना चाहिए कि अमुक-अमुक कारणों से व्रत छूट सकते हैं या छूट जाते हैं, परन्तु ऐसा आशय नहीं समझना चाहिए कि इन कारणों से व्रतों को छोड़ देना चाहिए। यह वस्तुस्थिति है, आज्ञा या प्रेरणा नहीं है। यदि छोड़ देने की आज्ञा या प्रेरणा होती तो इन कारणों के आने पर सभी साधक अपने व्रतों को छोड़ देते, और फिर बाद में उसका प्रायश्चित्त भी नहीं लेते। परन्तु सब नहीं छोड़ते हैं, कोई-कोई ही छोड़ता है। तथा जो छोड़ता है वह भी बाद में प्रायश्चित्त लेता है। प्रायश्चित्त का अर्थ है— दंड। विचार करो कि जिस क्रिया को वे स्वयं और शास्त्र दंडयोग्य मानते हों उसे उपादेय कैसे मान सकते हैं।

इस प्रकार यह भलीभांति स्पष्ट होता है कि प्रतिज्ञा/व्रत बहुत ही महत्त्वपूर्ण होता है, उसे हमें अत्यंत विवेकपूर्वक ग्रहण करना चाहिए और एक बार ग्रहण कर लेने के बाद उसे कथमपि भंग नहीं करना चाहिए।

शंका— तो फिर बताइए कि प्रतिज्ञा लेते समय क्या-क्या सावधानी रखनी चाहिए?

समाधान— सर्वप्रथम तो प्रतिज्ञा किसे कहते हैं, वह क्यों की जाती है, कैसे की जाती है, इत्यादि सम्पूर्ण विषय को भलीभांति समझना चाहिए अर्थात् समीचीन तत्त्वज्ञान प्राप्त करना चाहिए। इसके पश्चात् अपनी भूमिका का विचार करना चाहिए, अपनी शक्ति का विचार करना चाहिए, अपने परिणामों का विचार करना चाहिए, परिणामों में भी केवल वर्तमान परिणामों के भरोसे ही कोई प्रतिज्ञा नहीं ले लेनी चाहिए। इसके पश्चात् देश-काल-परिस्थिति का भी विचार करना चाहिए और यदि ये परिस्थितियाँ बदल जाएँ तो क्या करूँगा —इसका भी विचार करना चाहिए, विकल्प बनाकर रखना चाहिए, क्योंकि कई बार ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिसकी किसी ने कल्पना भी न की हो। तथा अनुभवी ज्ञानी जनों से भी परामर्श करना चाहिए और इस सबके बाद भी व्रत अपनी शक्ति से कुछ अल्प ही लेना चाहिए, क्योंकि व्रतों में अल्पता तो चल सकती है, पर शिथिलता नहीं। तथा व्रत के दो भेद कहे हैं— यम और नियम। इनमें से अभी सब व्रतों को यमरूप नहीं लेना चाहिए, नियमरूप लेना चाहिए। जो व्रत आजीवन पाला जाता है उसे यम कहते हैं और जो सीमित समय के लिए धारण किया जाता है उसे नियम कहते हैं। इस प्रकार यदि ठीक से प्रतिज्ञा ग्रहण की जाए तो उसे भंग करने की स्थिति ही उत्पन्न न हो।

शंका— खदिरसार भील आदि ने तो इतना विचार करके प्रतिज्ञा नहीं की थी?

समाधान— फिर भी उन्होंने दृढ़तापूर्वक प्रतिज्ञा पालन किया था, हमारी-सी तरह अनेक शंकाएँ नहीं उत्पन्न की थी। हमें तो बहुत अधिक शंकाएँ-आशंकाएँ उत्पन्न होती हैं, अतः हमें प्रतिज्ञा लेने से पूर्व उक्त प्रकार से तैयार होने का उपदेश

दिया है। दूसरी खास बात— उन्होंने जो किया वह अपवाद मार्ग है, राजमार्ग नहीं; राजमार्ग तो उक्त प्रकार से ही प्रतिज्ञा धारण करने का है। सच्ची प्रतिज्ञा तो इसी विधि से लेना सम्भव है, अन्यथा नहीं।

शंका— यदि प्राणांत होने तक भी कभी कोई प्रतिज्ञा भंग ही न की जा सके तो फिर जब हम मुनि बनेंगे तब तो नित्य मंदिर जाने की यह प्रतिज्ञा भंग होगी ही न? तब भी दोष तो लगेगा ही?

समाधान— नीचे गिरने का नाम प्रतिज्ञा भंग होना है, ऊपर उठने का नाम नहीं। दरअसल, मुझे बात ऐसी लग रही है कि लोग प्रतिज्ञा तो खूब लेते रहते हैं, परन्तु उसका सैद्धांतिक स्वरूप भलीभांति नहीं पहिचानते हैं, इसीलिए उन्हें अनेक अज्ञानतापूर्ण प्रश्न उत्पन्न होते हैं तथा और भी अनेक प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, अतः सर्वप्रथम समाज को कतिपय ऐसे व्याख्यान/संगोष्ठी/कार्यशाला आदि कार्यक्रम आयोजित करने चाहिए, जिनसे लोगों को प्रतिज्ञा का सर्वांगीण स्वरूप भलीभांति समझ में आये।

शंका— मान लो यदि कदाचित् अपने परिणाम ही बहुत खराब रहने लग जाँ तब तो प्रतिज्ञा भंग कर देना चाहिए न? या फिर तब भी उसे जबरदस्ती ढोते रहना चाहिए?

समाधान— सारा खेल तो परिणामों का ही है। यदि परिणाम ही नहीं संभलेंगे तो प्रतिज्ञा तो स्वतः भंग हो जाएगी। हम उसे कैसे रोक सकेंगे? यदि बहुत जबरदस्ती रोकेंगे तो वह भी तीव्र कषाय से ही हो सकेगा। अतः ऐसी स्थिति में प्रथम में तो अपने परिणामों को संभालने की पूरी कोशिश करनी चाहिए और यदि वे नहीं ही संभल रहे हों तो प्रतिज्ञा भंग होगी ही, किन्तु बाद में सब ठीक होने के बाद उसे पुनः ग्रहण करने का प्रयत्न करना चाहिए। इसी को शास्त्रों में छेदोपस्थापना कहते हैं।

शंका— यहाँ जिस प्रकार अपने परिणाम अधिक खराब रहें तो प्रतिज्ञा भंग होती है, उसी प्रकार यदि अपनी शारीरिक, राजनीतिक आदि स्थितियाँ प्रतिकूल हो जाँ तो भी तो प्रतिज्ञा भंग होती होगी न?

समाधान— हाँ, होती है, अन्य कुछ किया ही क्या जा सकता है?

शंका— आपने तो ऊपर मना किया था कि प्रतिज्ञा भंग नहीं करना चाहिए?

समाधान— हाँ, करना तो नहीं ही चाहिए, पर करनी पड़ जाती है। करना चाहिए और करनी पड़ती है —इन दोनों में बहुत अंतर है। अभिप्राय है कि प्रतिज्ञा भंग करने की अनुमति नहीं है, पर वह साधक की अपनी मजबूरी हो सकती है। उसे येन-केन प्रकारेण अपने परिणामों को सम्भालना है। परिणामों की विशुद्धि का नाम ही धर्म है।



भगवान बाहुबली से वार्तालाप

मैं अभी श्रवणबेलगोला गया था। वहाँ विन्ध्यगिरि पर विराजमान भगवान बाहुबली की विश्वविख्यात प्रतिमा के दर्शन कर मैं अत्यन्त मग्न हो गया। मेरे परिणामों में गहन से गहनतर मग्नता होती चली गई। बहुत समय व्यतीत हो जाने पर भी मेरा वहाँ से लौटने का मन नहीं कर रहा था। अतः मैं वहीं बैठकर मेरे पास ‘समयसार’ था, उसका स्वाध्याय करने लग गया। पहली गाथा से आरम्भ कर जैसे ही मैं गाथा क्रमांक 29, 30 पर पहुँचा कि अचानक साक्षात् बाहुबली भगवान् प्रकट हो गये और बड़े हर्ष की बात कि मेरी उनसे बातचीत भी हो गई। यहाँ मैं उसी बातचीत को सभी के लाभार्थ यथावत् लिखने की कोशिश करता हूँ।

सर्वप्रथम मैंने ही बाहुबली भगवान् को प्रणाम कर निवेदन किया— ‘हे भगवन्! आजकल आपके लाखों-करोड़ों भक्त आपकी जय-जयकार कर रहे हैं, आप सभी का ध्यान रखकर कल्याण कीजिएगा।’

भगवान् बोले— ‘क्या कहते हो? लाखों-करोड़ों भक्त? कहाँ हैं मेरे लाखों-करोड़ों भक्त?’

मैं बोला— ‘भगवन्! आपका महामस्तकाभिषेक हो रहा है, और इस निमित्त प्रतिदिन लाखों की संख्या में भक्तगण आ रहे हैं। आपकी जय-जयकार करते हुए वे सब विन्ध्यगिरि पर चढ़ते हैं, आपके दर्शन करते हैं, आपका मस्तकाभिषेक करते हैं और आपकी पूजा भी करते हैं।’

भगवान् बोले— ‘लेकिन इन सबमें मेरे भक्त कहाँ हैं? कितने हैं?’

मैं साश्चर्य बोला— ‘भगवन्! ये सब आपके ही तो भक्त हैं। यदि नहीं तो इतनी दूर-दूर से धनादि खर्च कर यहाँ क्यों आते?’

भगवान् बोले— ‘देखो, तुम समयसार का स्वाध्याय कर रहे हो, क्या तुमको भी ये समझाना पड़ेगा कि ये सब लाखों-करोड़ों लोग किसके भक्त हैं? मेरे भक्त हैं या फिर किसी अन्य के भक्त हैं? मेरी स्तुति कर रहे हैं या किसी अन्य की स्तुति कर रहे हैं?’

मैंने विनम्रतापूर्वक निवेदन किया— ‘भगवन्! मैं कुछ समझा नहीं, जरा स्पष्ट

करके समझाइये।’

वे बोले— ‘पढ़ो समयसार की इन 28, 29, 30वीं गाथाओं को, क्या लिखा है इनमें?’

मैंने पढ़कर सुनाया उक्त गाथाओं को—

“इणमण्णं जीवादो देहं पोंणलमयं थुणित्तु मुणी।
मण्णदि ह्नु संथुदो वंदिदो मए केवली भगवं॥
तं णिच्छये ण जुज्जदि ण सरीरगुणा हि होति केवल्लिणो।
केवल्लिगुणा थुणदि जो सो तच्चं केवल्लिं थुणदि॥
णयरम्मि वण्णिदे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि।
देहगुणे थुव्वंते ण केवल्लिगुणा थुदा होति॥”

अर्थ— जीव से भिन्न इस पुद्गलमय देह की स्तुति करके कोई ऐसा मानता है कि मैंने केवली भगवान् की स्तुति की और वन्दना की। परन्तु यह निश्चय से उचित नहीं है, क्योंकि शरीर के गुण केवली भगवान् के गुण नहीं होते। अतः जो केवली भगवान् के गुणों की स्तुति करता है, वही परमार्थ से केवली भगवान् की स्तुति करता है। जैसे नगर का वर्णन करने पर राजा का वर्णन नहीं होता, उसी प्रकार देह के गुणों की स्तुति करने पर केवली भगवान् के गुणों की स्तुति नहीं होती।

यहाँ मुझे रोककर भगवान् बोले— ‘अब तुम्हारी समझ में आया कुछ कि ये लाखों-करोड़ों लोग किसके भक्त हैं? किसकी स्तुति करते हैं, मेरी अथवा शरीर की?’

मैं दंग रह गया। मुख से निकला— ‘अहो भगवन्!’

अब उन्होंने ही बात आगे बढ़ाई— ‘देखो! इनमें से अधिकांश लोग तो सिर्फ मूर्ति और उसकी कारीगरी के गीत गाकर ही रह जाते हैं, जबकि मेरा उसमें कुछ भी नहीं है। यदि आगे चलें तो भी बहुत लोग मुझे ‘बाहुबली’-‘बाहुबली’ कहते हैं। जबकि ‘बाहु’ तो शरीर की हैं, पुद्गल की हैं। मैं शरीर ही नहीं हूँ तो ‘बाहुबली’ कैसे हो सकता हूँ? मैं तो आत्मबली हूँ। पर्याय से भी देखो तो ज्ञानबली हूँ। परन्तु बाहुबली तो मैं कदापि नहीं हूँ।’

मैं क्या बोलता? इस अमृतवर्षा में स्नान करता हुआ मैं स्वयं को धन्य-धन्य मान रहा था। उनकी ऐसी बातें सुनकर मेरे मुँह से बार-बार यही निकल रहा था— ‘वाह भगवन्! वाह वाह!’ और वे करुणा-विगलित हो मुझे समझाए चले जा रहे थे—

“अब तुम ही बताओ मेरे भक्त कितने हैं? कितने हैं जो मुझ ‘आत्मबली’ को सही से जानते भी हैं? मेरी भक्ति और स्तुति की बात तो दूर गई। अरे, बहुत से लोग तो

मुझे युद्धों से जानते हैं, जो कि कषायों का खेल था और जो एकदम निन्द्य और हेय था। मैं उसे अपनी शान नहीं समझता, दोष ही समझता हूँ। मैंने उसे ही त्यागने के लिए संयम-तप और साधना अंगीकार की थी, परन्तु लोग हैं कि आज भी मुझे युद्धों से ही महान् मान रहे हैं।

अतः मेरा भक्त तो वस्तुतः वही है जो मुझे सही रूप में जानता हो; मुझे बाहुबली नहीं, आत्मबली मानता हो; मेरे अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य आदि गुणों को पहचानता हो; मेरी वीतराग निर्मल अवस्था की जय-जयकार करता हो। पाषाण और शरीरादि की स्तुति मेरी स्तुति कदापि नहीं हो सकती।”

उक्त वार्ता से यह भलीभाँति स्पष्ट है कि यदि हमें वास्तव में बाहुबली भगवान् के भक्त बनना है, उनका वास्तविक स्तुति-गान करना है तो हमें उनके शरीरादि समस्त बाह्य संयोगों से ऊपर उठकर उनके असली आन्तरिक स्वरूप को समझना होगा। बहिर्मुखी दृष्टि जो अनादि काल से है, उसे छोड़कर अन्तरात्मा बनना होगा। जो मूर्ति या शरीरादि के गुणों की स्तुति करते हैं वे बहिरात्मा हैं और जो उनके निर्मल आत्मिक गुणों की स्तुति करते हैं, वे अन्तरात्मा हैं।

महाकवि धनंजय ने भी ‘विषापहार-स्तोत्र’ में इसी प्रकार की एक महत्त्वपूर्ण बात कही है—

“तस्यात्मजस्तस्य पितेति देव, त्वां येऽवगायन्ति कुलं प्रकाश्य।

तेद्यापि नन्वाश्मनमित्यवश्यं, पाणौ कृतं हेम पुनस्त्यजन्ति ॥ 23 ॥”

अर्थात् हे जिनेन्द्रदेव! जो लोग ‘आप उसके पुत्र हो’ या ‘उसके पिता हो’ इत्यादि प्रकार से आपके कुलादि की स्तुति करते हैं, वे वस्तुतः आपका अपमान करते हैं, और हाथ में आए हुए स्वर्ण को भी पत्थर समझकर त्याग देते हैं।

सारांश रूप में हम कह सकते हैं कि देव-दर्शन को जैन दर्शन में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण क्रिया माना गया है और उसका जीव के मुक्तिमार्ग में महान योगदान होता है। वैसे तो प्रायः सभी लोग प्रतिदिन जिनेन्द्र-दर्शन करते हैं, पर वास्तव में सच्चा जिनेन्द्र-दर्शन वही करता है जो प्रतिमा में परमात्मा के और परमात्मा में निजात्मा के दर्शन करता है। ❖❖

नाहं रामो न मे वांछा, भावेषु च न मे मनः।

शांतमास्थातुमिच्छामि, स्वात्मन्येव जिनो यथा॥ —योगवाशिष्ठ, 15

अर्थ— रामचन्द्रजी वशिष्ठजी से अपना अन्तरंग भाव कहते हैं— हे गुरुदेव! मैं वस्तुतः राम नहीं हूँ और मेरी किसी वस्तु में कोई अभिलाषा नहीं है, मैं तो केवल अपनी आत्मा में ही शांति से स्थिर रहना चाहता हूँ, जैसे कि जिन रहते हैं।

उत्तम तीर्थयात्रा कैसे हो ?

मुझसे बहुत लोग पूछते हैं कि हम तीर्थयात्रा करने जा रहे हैं, आप हमें बताओ कि अच्छी तीर्थयात्रा कैसे हो, हमें तीर्थयात्रा पर क्या करना चाहिए, कैसे करना चाहिए, इत्यादि। तब मैं उन्हें अनेक बातें बताता हूँ और साथ में यह भी समझाने की कोशिश करता हूँ कि देखो, जैन धर्म एक उच्च कोटि का आध्यात्मिक धर्म है, वह हमको धर्म की प्रत्येक क्रिया में आत्महित की प्रेरणा देता है, अतः आप तीर्थयात्रा पर निम्नलिखित प्रकार से आध्यात्मिक चिन्तन-मनन अवश्य करना, तभी आपकी तीर्थयात्रा उत्तम होगी, सफल होगी, सार्थक होगी। तब वे तीर्थयात्रा से लौटकर बहुत आनन्दित होते हुए मुझे अपना अनुभव बताते हैं, इसलिए आज मैं उस आध्यात्मिक चिन्तन-मनन को आपको भी बताना चाहता हूँ।

यह आध्यात्मिक चिन्तन-मनन मैंने समयसार, नियमसार, इष्टोपदेश, समाधितन्त्र आदि अनेक आध्यात्मिक ग्रन्थों के आधार से तैयार किया है और मेरा मानना है कि इससे तीर्थयात्रा में ही नहीं, हमारी सभी धर्मक्रियाओं में विशेष गुणवत्ता आ जाएगी, अतः हमको सदा ही ऐसा आध्यात्मिक चिन्तन-मनन करते रहना चाहिए। सम्यग्दृष्टि जीव सदैव ऐसा चिन्तन-मनन करता रहता है और इसी से वह अपने कर्मों की निर्जरा करता हुआ एक दिन सर्व दुःखों से मुक्त हो जाता है। इसी का नाम सच्चा धर्मध्यान है। यथा—

1. मैं एक स्वतंत्र ज्ञान-दर्शनमय अमूर्तिक चैतन्य वस्तु हूँ।
2. शरीरादि कोई भी अन्य द्रव्य (स्त्री-पुत्र-दुकान-मकान-धन-दौलत आदि) परमाणु-मात्र भी मेरा नहीं है।
3. वे सब परमार्थ से मेरा किंचित् भी भला/बुरा नहीं करते हैं, नहीं कर सकते हैं। मैं भी उनका या किसी भी अन्य द्रव्य का परमार्थ से कुछ भी भला-बुरा नहीं कर सकता।
4. जगत के किसी भी अन्य द्रव्य का कुछ भी परिणमन मेरे कारण से (मेरे चाहने/करने से) नहीं होता। मेरा अपना परिणमन भी किसी अन्य द्रव्य के कारण से नहीं होता।

5. स्त्री-पुत्र-शरीरादि सभी अन्य द्रव्य हैं, अपने-अपने हिसाब से परिणमते हैं। मेरा और उनका परस्पर कोई भी एकत्व-ममत्व-कर्तृत्व-भोक्तृत्व का संबंध नहीं है।
6. संसार एक नाटक के समान है। इसमें होने वाली, कहने-बोलनेवाली, सारी बातें नाटक की तरह ऊपरी-ऊपरी हैं, परमार्थ सत्य नहीं हैं।
7. जगत के सभी प्राणी, परिजन-पुरजन भी इस नाटक के पात्र जैसे ही हैं।
8. यहाँ धूप-छाया की भाँति पाप-पुण्य का उदय चलता ही रहता है। यह वास्तविक दुःख-सुख नहीं है। वास्तविक दुःख-सुख तो आकुलता-अनाकुलता का नाम है।
9. जगत का कोई भी पदार्थ वस्तुतः इष्ट या अनिष्ट नहीं है। वह मेरे सुख या दुःख का कारण भी नहीं है। जगत के किसी भी पदार्थ का संयोग-वियोग भी मेरे सुख/दुःख का कारण नहीं है।
10. मैं स्वयं अपने मोह-राग-द्वेषादि दोषों के कारण ही दुःखी हूँ और अपने उन दोषों को छोड़कर सुखी हो सकता हूँ।

इसप्रकार हमें आत्मचिंतन करके अपनी तीर्थयात्रा को सफल-सार्थक बनाना चाहिए। तथा आत्मचिंतन के साथ-साथ परमात्म-चिंतन भी गहराई के साथ करना चाहिए। यथा— परमात्मा पूर्ण वीतराग ही हैं, वे कभी भी किंचित् भी राग-द्वेष नहीं करते हैं, वे सृष्टि के कर्ता-धर्ता-हर्ता भी नहीं हैं, वे सर्वज्ञ हैं, समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायों को प्रत्यक्ष युगपत् जानते हैं, इत्यादि। आत्मा एवं परमात्मा के स्वरूप का गहराई से चिंतन-मनन करने से ही हमारी तीर्थयात्रा मंगलमय होती है। तीर्थों पर हमें विषय-कषायों से बचकर दैनिक षट् आवश्यक कर्मों का पालन करना चाहिए।

तीर्थयात्रा में ‘तीर्थ’ के सच्चे स्वरूप पर भी गंभीरतापूर्वक चिन्तन करना चाहिए। यथा—

रयणत्तय-संजुत्तो, जीवो वि हवेइ उत्तमं तित्थं ।

संसारं तरइ जदो, रयणत्तय-दिब्ब-णावाए ॥

—कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 191

अर्थ— रत्नत्रय से सहित जीव (आत्मा) ही वास्तव में उत्तम तीर्थ है, क्योंकि वही अपनी रत्नत्रयरूपी नौका से संसार पार करता है।

इसीप्रकार का भाव अन्य भी अनेक ग्रन्थों में व्यक्त किया है। योगसार, दूहा 41, 42 आदि में तो यहाँ तक कहा है कि देव तीर्थों में नहीं है, वहाँ क्यों भटक रहे हो। देव तो अपने देहरूपी देवालय में हैं, उसे जानो। तीर्थयात्रा की सफलता-सार्थकता आत्मा के ज्ञान-ध्यान से ही है। ❖❖

आनन्द स्रोत बह रहा, मन क्यों उदास है। पानी में रहकर भी अरे, मछली को प्यास है॥
--

भक्ति की शक्ति

जिनेन्द्रदेव की भक्ति में बड़ी शक्ति है, क्योंकि वह उभयलोक सुखकारी है, उससे लौकिक और पारमार्थिक दोनों प्रकार के सर्व प्रयोजन सिद्ध होते हैं। यद्यपि जिनेन्द्र-भक्ति का उत्तम प्रयोजन पारमार्थिक या आध्यात्मिक लाभ ही है, परन्तु यह भी सत्य है कि उससे केवल पारमार्थिक लाभ ही नहीं होता, अपितु लौकिक लाभ भी अवश्य होता ही है, इसमें कोई संदेह नहीं है। सभी आचार्यों ने इस बात को अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में लिखा है। आचार्य वीरसेन स्वामी 'धवला' में लिखते हैं—

“विघ्नाः प्रणश्यन्ति भयं न जातु, न दुष्टदेवाः परिलंघयन्ति ।
अर्थान् यथेष्टांश्च सदा लभन्ते, जिनोत्तमानां परिकीर्तनेन ॥”

—(धवला, 1/1/1/21)

अर्थात् जिनेन्द्रदेव के परिकीर्तन से सर्व विघ्न नष्ट हो जाते हैं, किसी प्रकार का भय नहीं सताता, दुष्टदेव पीड़ित नहीं करते और सदा यथेष्ट अर्थों की प्राप्ति होती है।

आचार्य विद्यानन्द स्वामी 'आप्तपरीक्षा' में लिखते हैं—

‘श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः प्रसादात् परमेष्ठिनः।’ —(आप्तपरीक्षा, 2)

अर्थात् पंचपरमेष्ठी के प्रसाद से जो पर और अपर के भेद से दो प्रकार का है—ऐसे श्रेयोमार्ग की सम्यक् सिद्धि होती है। परनिश्रेयस का अर्थ है मोक्ष और अपरनिश्रेयस का अर्थ है स्वर्ग (लौकिक अभ्युदय)।

ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ 'मोक्षमार्ग' की बजाय 'श्रेयोमार्ग' शब्द का प्रयोग ही इसलिए किया है कि उसके द्वारा आचार्यदेव जिनेन्द्रभक्ति की उभयलोक-हितकारिता को दिखाना चाहते हैं।

मंगलाचरण के रूप में पढ़े जाने वाले इस प्रसिद्ध श्लोक में भी यही कहा है—

‘ओंकारं बिंदुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं देवमोंकाराय नमो नमः॥’

—(आचार्य दुर्गसिंह, कातंत्र टीका, पृष्ठ 9)

अर्थात् ओंकार के ध्यान से काम और मोक्ष दोनों की सिद्धि होती है।

हिन्दी कवियों ने भी इस बात को सैंकड़ों बार कहा है। यथा—

‘भुक्ति मुक्ति दातार, चौबीसों जिनराज वर।’

अथवा—

‘धर्म करत संसार सुख, धर्म करत निर्वाण।’

कविवर दानतरायजी ने ‘दर्शन-दशक’ के प्रथम छन्द में कहा है—

देखे श्रीजिनराज आज सब विघ्न विलाये,

देखे श्रीजिनराज आज सब मंगल छाये।

देखे श्रीजिनराज काज कछु करना नांहि,

देखे श्रीजिनराज होंस पूरी मन मांहि।

तुम देखे जिनराज अब, भवजल अंजुलि सम भया।

चिंतामणि पारस कल्पतरु, मोह सबनि सों उठि गया॥

अर्थात् जिनेन्द्रदेव की भक्ति से सर्वविघ्नों का नाश होता है और सर्वमंगलों की प्राप्ति होती है। भक्त के सर्वकार्य सम्पन्न हो जाते हैं, उसकी सर्व इच्छा पूर्ण हो जाती है, वह कृतकृत्य हो जाता है, उसे चिंतामणि, पारस, कल्पवृक्ष की भी आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि भक्ति से सर्व लाभ प्राप्त होता है, संसार-सागर ही छोटा-सा रह जाता है।

यहाँ कवि ने बड़ी कुशलता से पारमार्थिक और लौकिक दोनों प्रकार के लाभ का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया है।

इसीप्रकार के और भी अनेकानेक उद्धरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि जिनेन्द्रदेव की भक्ति में महान शक्ति है और उससे दोनों प्रकार के प्रयोजनों की सिद्धि होती है।

यही कारण है कि पहले कोई भी प्राणी किसी भी प्रकार के दुःख से कितना ही अधिक दुःखी होकर मुनिराजों/आचार्यों के पास आता था तो वे उसे वैद्य, वकील, पुलिस आदि के पास न भेजकर केवल एक जिनेन्द्रदेव की भक्ति करने का उपदेश देते थे और उसी से उसके सर्व दुःख दूर हो जाते थे।

कैसे हो जाते थे— यह एक अलग विषय है, क्योंकि जिनेन्द्रदेव तो पूर्ण वीतराग हैं, परन्तु होते अवश्य थे— इसमें सन्देह नहीं, क्योंकि इसके हजारों प्रमाण शास्त्रों में भरे पड़े हैं। यह एक बहुत बड़ा विज्ञान था जिसे हम आज भूल चुके हैं। आवश्यकता है उसे सावधानीपूर्वक समझने की।

आचार्यकल्प पं. टोडरमलजी ने इस प्रश्न का उत्तर स्वयं ही प्रश्न उठाकर इस प्रकार दिया है—

“इहाँ कोऊ कहै कि इनिकरि ऐसे (वीतराग-विज्ञानरूप) प्रयोजन की तौ सिद्धि ऐसैं होहै, परन्तु जाकरि इंद्रियजनित सुख उपजै दुःख विनशै ऐसे भी प्रयोजन की सिद्धि इनिकरि होहै कि नाहीं।

ताका समाधान—जो अरहंतादिविषै स्तवनादिरूप विशुद्ध परिणाम होहै ताकरि अघातिया कर्मनि की साता आदि पुण्यप्रकृतिनि का बंध होहै। बहुरि जो वह परिणाम तीव्र होय तौ पूर्वे असाता आदि पापप्रकृति बँधी थीं तिनिकों भी मंद करै है अथवा नष्टकरि पुण्यप्रकृतिरूप परिणमावै है। बहुरि तिस पुण्य का उदय होतैं स्वयमेव इन्द्रियसुखकों कारणभूत सामग्री मिलै है। अर पाप का उदय दूर होतैं स्वयमेव दुःखकों कारणभूत सामग्री दूर होहै। ऐसैं इस प्रयोजन की भी सिद्धि तिनिकरि होहै। अथवा जिनशासन के भक्तदेवादिक हैं ते तिस भक्तपुरुष कै अनेक इन्द्रिय-सुखकों कारणभूत सामग्रीनि का संयोग करावै हैं, दुःखकों कारणभूत सामग्रीनिकों दूर करै हैं। ऐसैं भी इस प्रयोजन की सिद्धि तिन अरहंतादिकनिकरि होहै।”

—(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 10)

इसप्रकार पं. टोडरमलजी ने अरिहन्तादि की भक्ति-स्तुति से लौकिक प्रयोजन की सिद्धि होने के तीन कारण बताए हैं—

1. पुण्य प्रकृतियों का बन्ध-उदय। 2. पूर्वबद्ध पाप प्रकृतियों का पुण्यप्रकृति रूप परिणमन। 3. जिनशासन के भक्त देवादि द्वारा सहायता।

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य कारण भी हो सकते हैं। जैसे एक कारण कुछ ऐसा भी होता है कि—

जिसप्रकार अधिक मिर्च डल जाने से दाल बहुत तीखी हो जाए, खाई ना जा सके तो अब मिर्च तो उसमें से अलग की नहीं जा सकती है, किन्तु यदि उसमें थोड़ा गुड़ मिला दिया जाए तो वह तीखी लगना बन्द हो जाती है और आसानी से खाने योग्य बन जाती है। उसी प्रकार जिनेन्द्रदेव की भक्तिरूप धर्मध्यान से असह्य दुःख-संकट भी आसानी से सहन करने योग्य बन जाते हैं।

इसी प्रकार के और भी अनेक कारण हो सकते हैं, जो अत्यन्त सूक्ष्म होने से हमारी समझ में नहीं आ सकते, परन्तु आगमाधार से इतना सुस्पष्ट है कि जिनेन्द्रदेव की भक्ति से लौकिक और पारमार्थिक दोनों प्रकार के लाभ प्राप्त होते ही हैं।

जिनेन्द्र-भक्ति की उभयलोक-हितकारिता को जिनवाणी में किसान आदि के उदाहरणों द्वारा भलीभाँति स्पष्ट किया गया है। यथा—

किसान तो धान के लिए खेती करता है, भूसे के लिए नहीं, परन्तु धान के साथ भूसा भी स्वयमेव उसे मिलता ही है, उसी प्रकार ज्ञानीजन तो जिनेन्द्रदेव की भक्ति पारमार्थिक लाभ के लिए करते हैं, लौकिक लाभ के लिए नहीं, किन्तु उससे उन्हें

पारमार्थिक लाभ के साथ लौकिक लाभ भी स्वयमेव होते ही हैं।

तथा जैसे कोई अज्ञानी किसान केवल भूसे के लिए ही खेती करे तो उसे धान तो मिलेगा ही नहीं, भूसा भी उतना अधिक और वैसा उत्तम नहीं मिल पाएगा, उसी प्रकार लौकिक लाभ के लिए ही जिनेन्द्र-भक्ति करने वाले को लौकिक लाभ भी वैसा नहीं होता, जैसा पारमार्थिक लाभ के लिए भक्ति करने वाले को होता है। इसीलिए पं. टोडरमलजी ने लौकिक लाभ के लिए भक्ति करने का निषेध किया है। यथा—

“बहुरि इस (लौकिक) प्रयोजन के अर्थि अरहंतादिक की भक्ति किए तीव्र कषाय होनेकरि पापबन्ध ही हो है, तातैं आपको इस प्रयोजन का अर्थी होना योग्य नाही। जातैं अरहंतादिक की भक्ति करतैं ऐसे प्रयोजन तौ स्वयमेव ही सधैं हैं।”

—(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 11)

आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने इस बात को इस प्रकार कहा है—

इतश्चिन्तामणिर्दिव्यः इतः पिण्याकखण्डकम्।

ध्यानेन चेदुभे लभ्ये क्वाद्वियन्तां विवेकिनः॥ —(इष्टोपदेश, 20)

अर्थात् एक तरफ दिव्य चिन्तामणि है और दूसरी तरफ खली का टुकड़ा। धर्मध्यान से जब ये दोनों ही प्राप्त हो सकते हैं, तो बताओ ज्ञानी किसे चाहेगा?

अर्थात् पारमार्थिक लाभ ही दिव्य चिन्तामणि के समान है और विवेकी जीव उसी को चाहते हैं; किन्तु लौकिक लाभ भी, तुच्छ होते हुए भी, भक्तों को प्राप्त होते ही हैं और जब तक मोक्ष प्राप्त न हो तब तक वे प्राप्त होते ही रहेंगे। अनादिकाल से आज तक प्राणी जिनेन्द्रदेव की भक्ति के सहारे ही अपने दुःख-संतापों को शान्त करते आये हैं। धर्म उन्हें तत्काल फल देता है इसीलिए प्रिय है। उधार वाला धर्म किसी को प्रिय नहीं हो सकता। जिनेन्द्रभक्ति जैसे महत्त्वपूर्ण विषय पर हमें एक बार पुनः गहराई से चिन्तन करना चाहिए।



गृहं तपोवनम्

वनेऽपि दोषा प्रभवन्ति रागिणः, गृहेऽपि पंचेन्द्रियनिग्रहस्य तपः।

तस्मात् कषायाः खलु कर्षणीयाः, निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम्॥

अर्थ— रागी जीवों के वन में भी दोष होते रहते हैं और जितेन्द्रियों के घर में भी तप होता रहता है; अतः वास्तव में हमें कषायों को नष्ट करना चाहिए, क्योंकि कषायरहित व्यक्ति का घर ही तपोवन है।

घर में ममता, मन्दिर में समता

जिनेन्द्र-दर्शन-पूजन को शास्त्रों में प्रत्येक श्रावक का दैनिक आवश्यक कर्म कहा गया है, किन्तु आधुनिक महानगरों में बहुत-से जैन-बन्धु ऐसी परिस्थिति में रहते हैं कि वे और उनके बच्चे प्रतिदिन मन्दिर नहीं जा सकते, क्योंकि—

1. मन्दिर घर से कई किलोमीटर दूर है।
2. सुबह सात बजे बच्चों को स्कूल जाना होता है।
3. स्वयं को भी साढ़े आठ-नौ बजे ऑफिस जाना होता है।

इत्यादि; अतः यदि व्यावहारिक दृष्टि से विचार करें तो उनकी समस्या कुछ उचित जान पड़ती है, किन्तु ऐसी स्थिति में यदि वे ‘प्रतिदिन’ के स्थान पर ‘प्रतिसप्ताह’ का भी नियम ले लें तो मैं समझता हूँ कि यह भी एक प्रकार की नियमितता ही होगी। जिस प्रकार कलियुग में एक वर्ष की तपस्या सतयुग के 100 वर्ष की तपस्या के समान फलदाई कही गई है, उसी प्रकार महानगरों की ऐसी विषम परिस्थिति में जीने वालों के लिए ‘प्रतिसप्ताह’ मन्दिर जाने का नियम पाल लेना भी, मुझे लगता है कि, ‘प्रतिदिन’ मन्दिर जाने जैसा ही फलदाई कहा जा सकता है।

परन्तु इसमें एक विशेष बात ध्यान रखने की यह है कि यह मन्दिर जाना कोरी खानापूर्ति न हो, अपितु थोड़ी शान्ति के साथ सब कुछ सम्पन्न होना चाहिए। मन्दिर में जाकर भक्ति, पूजा, स्वाध्याय, सामायिक आदि को थोड़ा बहुत समय अवश्य देना चाहिए। मन्दिर जाने का लाभ तभी है जब वहाँ हम कुछ देर के लिए धर्मध्यान में पूर्णतः मग्न हो जाएँ। मन्दिर जाने का अर्थ है— उतनी देर सर्व सांसारिक विषयों को त्यागकर मुनि-जैसा बन जाना। यही मन्दिर जाने की सही विधि है। यदि ऐसा हम ‘प्रतिसप्ताह’ भी नियमित कर सकें तो यह बहुत बड़ी बात होगी।

पुनश्च, हम अपनी परिस्थिति-मनःस्थिति वश कैसा भी कुछ भी कितना-सा भी करें, परन्तु नित्य मन्दिर जाने का निषेध कदापि न करें। यह एक बड़ा अपराध है। आजकल कुछ लोग ऐसा कहते सुने जाते हैं कि मन्दिर जाने की जरूरत ही क्या है, घर में ही धर्मध्यान किया जा सकता है, हम तो रोज घर पर ही कोई स्तुति बोलकर णमोकार मन्त्र की माला कर लेते हैं, क्या रखा है मन्दिर जाने में?

ऐसे लोगों से निवेदन है कि वे मन्दिर जाने के महत्त्व को भलीभाँति समझें, उसे अस्वीकार न करें, उसकी अपनी एक अलग ही अद्भुत उपयोगिता है। जो काम मन्दिर में संभव है, वह घर में कदापि वैसा संभव नहीं है। मन्दिर समता का प्रतीक होता है, जबकि घर ममता का। वे अपनी परिस्थिति के वश प्रतिदिन मन्दिर जाकर देवदर्शन न कर पाते हों तो यह अलग बात है, पर मन्दिर का निषेध कर घर में ही मन्दिर का कार्य कर लेने की बात कहना अपने दोष को गुण रूप में प्रस्तुत करना है, जो बहुत बड़ी गलती है। जिस प्रकार ऑपरेशन तो ऑपरेशन थिएटर में ही होता है, कहीं सड़क पर ही नहीं, उसी प्रकार गृहस्थों की धर्मसाधना मन्दिर में ही भलीभाँति संभव है, घर में नहीं।

ध्यान रहे यहाँ प्रति सप्ताह मन्दिर जाने की बात कह कर प्रतिदिन मन्दिर जाने का निषेध नहीं किया जा रहा है, अपितु जो बिल्कुल नहीं जा पा रहे हैं, उन्हें प्रति सप्ताह ही सही, नियमित रूप से मन्दिर जाने की प्रेरणा दी जा रही है। तथा उसमें भी कोरी खानापूर्ति करने की बजाय गुणवत्ता (Quality) बढ़ाने की प्रेरणा दी जा रही है।

जिनमन्दिर का महत्त्व

जैन संस्कृति में मन्दिर का अद्भुत महत्त्व है, जिसे अनेक दृष्टियों से समझा जा सकता है। यथा—

1. आध्यात्मिक दृष्टि से मन्दिर का महत्त्व— मन्दिर में विराजमान जिनबिम्ब आत्मदर्शन/सम्यग्दर्शन का उत्कृष्ट निमित्त है। उससे जीवों को मुक्तिमार्ग की प्राप्ति होती है।
2. सांस्कृतिक दृष्टि से मन्दिर का महत्त्व— मन्दिर शिक्षा/ज्ञान-विज्ञान के अद्भुत केंद्र होते हैं। मन्दिरों के निमित्त से यहाँ बहुत अधिक ज्ञान-विज्ञान और विविध कलाओं का विकास हुआ है।
3. सामाजिक दृष्टि से मन्दिर का महत्त्व— मन्दिर की सामाजिक एकता में बड़ी भूमिका होती है। वे गुड़ की भेली के समान होते हैं। जिसप्रकार जहाँ गुड़ रखा जाता है वहाँ आसपास की सारी चींटियाँ एकत्रित हो जाती हैं, उसी प्रकार जहाँ जिनमन्दिर होता है वहाँ सारी समाज एकत्रित हो जाती है।
4. साहित्यिक दृष्टि से मन्दिर का महत्त्व— मन्दिरों में विशाल साहित्य की रचना हुई है और उसका विशेष संरक्षण भी हुआ है। यदि मन्दिर नहीं होते तो साहित्य एवं संस्कृति नष्ट हो जाती।
5. ऐतिहासिक दृष्टि से मन्दिर का महत्त्व— मन्दिर (चैत्य-चैत्यालय) जैन धर्म की मौलिक विशेषता है, अन्य किसी धर्म में मूल में मन्दिर एवं मूर्ति को नहीं माना गया है। जैन पुराणों के अनुसार सर्वप्रथम भरत चक्रवर्ती ने कैलाश पर्वत पर

तीन चौबीसी के 72 चैत्यालय बनवाये थे।

6. स्वास्थ्य-विज्ञान की दृष्टि से मन्दिर का महत्त्व— मन्दिर जाने से स्वास्थ्य भी अच्छा रहता है। एक दिन मैं अपने एक परिचित डॉक्टर से मिलने सफदरजंग अस्पताल गया। वहाँ बहुत अधिक भीड़ थी, बड़ी मुश्किल से उन तक पहुँचना हो सका। पहुँचते ही मैंने पूछा— क्या बात है डॉक्टर साहब, सुबह-सुबह इतनी अधिक भीड़ हो रही है ? वे बोले— अरे, जैन साहब! पहले लोग सुबह उठकर मंदिर जाया करते थे, वहाँ बहुत भीड़ हुआ करती थी। जब से वहाँ भीड़ कम होने लगी है तब से यहाँ भीड़ बढ़ गई है।
7. जैन परम्परा में मन्दिर को नव देवताओं में गिना जाता है। उसकी पूजा-वन्दना श्रावक का दैनिक आवश्यक कर्म है। एक आचार्य ने कहा है— जो व्यक्ति मंदिर जाए बिना भोजन करता है, वह मिथ्यादृष्टि है। पहले लोग मर जाते थे, पर जिनदर्शन के बिना अन्न-जल ग्रहण नहीं करते थे। बहुत लोगों ने जेल में बंद होकर भी इस नियम का निर्वाह किया है।
8. राजा भोज ने अपनी भूपाल-जिनचतुर्विंशतिका में लिखा है कि प्रातःकाल सर्वप्रथम जिनप्रतिमा के दर्शन करने से सर्वोत्कृष्ट मंगल होता है। यथा—

सुप्तोत्थितेन सुमुखेन सुमंगलाय,
द्रष्टव्यमस्ति यदि मंगलमेव वस्तु।
अन्येन किं तदिह नाथ तवैव वक्त्रं,
त्रैलोक्यमंगलनिकेतनमीक्षणीयम्॥

— भूपालजिनचतुर्विंशतिका, 19

अर्थ— हे जिनेन्द्र ! यदि कोई व्यक्ति अपने सुमंगल के लिए प्रातः उठते ही कोई मंगल वस्तु देखना चाहता है तो उसे सर्वप्रथम आपका ही मुख देखना चाहिए, क्योंकि वही तीन लोक में सर्वाधिक मंगलकारी है, सभी मंगलों का निकेतन है।

9. मंदिर तीर्थ हैं, उनके निमित्त से ही आज सम्पूर्ण धर्म की प्रवृत्ति हो रही है। मन्दिर साधुओं के संपोषक भी हैं। चैत्यालय जो करे धन्य सो धर्मी कहिए।.....

मनुष्य ने अपने सुखद जीवन के लिए अनेक व्यवस्थाएं बनाई हैं। जैसे कि— न्यायालय बनाया, ताकि उसे न्याय मिल सके, औषधालय बनाया, ताकि उसे स्वास्थ्य मिल सके, विद्यालय बनाया, ताकि उसे ज्ञान मिल सके, इत्यादि। किन्तु यदि उन सबको मिलाकर कोई एक ही वस्तु बनाई जाए तो वह है— जिनालय। हमें जिनालय का महत्त्व भलीभांति समझना चाहिए। जिनालय जाने पर व्यक्ति को न्यायालय, औषधालय, विद्यालय आदि सबके लाभ एकसाथ मिलते हैं और वह भी अत्यंत सहजता से मिलते हैं। न्यायालय में जाने पर तो कदाचित् न्याय मिले भी या न भी मिले, परन्तु जिनालय जाने पर अवश्य मिलता है। ❖❖

मन्दिरों को शिक्षा का केन्द्र बनाइए !

प्रत्येक जैनमन्दिर में जैन-ग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था अवश्य होना चाहिए। प्राचीन परम्परा भी हमारी ऐसी ही रही है और आधुनिक युग की सख्त आवश्यकता भी ऐसी ही प्रतीत होती है। मुगलकाल में जब लगभग पूरे भारत में शिक्षा का भयंकर विनाश हो गया था, तब भी उत्तरभारत में आगरा, आमेर, सांगानेर आदि अनेक स्थानों पर जैनमन्दिर ही शिक्षा के केन्द्र बने हुये थे और उनमें नित्य विद्वानों द्वारा धर्म, दर्शन, अध्यात्म आदि की महत्त्वपूर्ण शिक्षा प्रदान की जाती थी। वर्तमान में उत्तरभारत में जीवित आगम-ज्ञान का श्रेय वस्तुतः इन्हीं जैनमन्दिरों के शिक्षाकेन्द्रों को जाता है। इन शिक्षाकेन्द्रों को उस समय 'सैली' या 'अध्यात्म सैली' के नाम से जाना जाता था।

जैनधर्म एक ज्ञान-ध्यान-प्रधान धर्म है। उसका दर्शनशास्त्र भी एकदम युक्तिसंगत और वैज्ञानिक है। जैन धर्म के अनुयायियों को तो उसका ज्ञान अवश्य ही होना चाहिए। तथा कार्य तभी संभव है जब मन्दिर में जैनशास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन की सुन्दर व्यवस्था हो, वहाँ कोई एक नियमित शास्त्रसभा एवं पाठशाला आदि चलती हो।

अतः जैनमन्दिर के प्रबन्धकों या व्यवस्थापकों से मेरा विनम्र अनुरोध है कि यदि जैनधर्म को जीवित रखना है तो मन्दिर में एक स्वाध्याय-कक्ष की स्थापना अनिवार्यरूप से करनी चाहिए तथा इसमें कोई भी उपलब्ध विद्वान् नियमित रूप से जैनशास्त्रों का अध्यापन कराता रहे— ऐसी भी व्यवस्था अवश्य करनी चाहिए। इसी से हमारा आध्यात्मिक एवं सामाजिक दोनों प्रकार का संरक्षण-संवर्धन संभव होगा, अन्यथा हमारी सर्वप्रकार से महाहानि हो जाएगी।

महाकवि राजा भोज ने 'भूपाल-जिनचतुर्विंशतिका' में जिनमन्दिर को 'वाग्देवी-रति-केतनं' कहा है, जिसका अर्थ है कि मन्दिर में नित्य ही माँ सरस्वती को क्रीड़ा करते रहना चाहिए। जिस मन्दिर में माँ सरस्वती क्रीड़ा न करे अर्थात् जिसमें जिनवाणी के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था न हो, वह मन्दिर वस्तुतः पूर्ण मन्दिर नहीं माना जा सकता, अपूर्ण मन्दिर ही माना जाएगा। मन्दिर में अनिवार्य रूप से पाई जाने वाली वस्तुओं में जिनप्रतिमा के बाद दूसरे नंबर पर गिनी जानेवाली यदि कोई

वस्तु है तो वह शास्त्रसभा ही है ।

इसी प्रकार, शास्त्र-सभा के अतिरिक्त यदि सम्भव हो तो एक बालकक्षा / पाठशाला भी मन्दिर में अवश्य चलनी चाहिए। आजकल के बच्चे बड़े ही वैज्ञानिक दृष्टिकोण के होते हैं, उनको किसी अन्धविश्वास में नहीं रखा जा सकता। जैनधर्म बड़ा ही वैज्ञानिक धर्म है, उसका आचार व विचार —दोनों ही आज विज्ञान द्वारा पुष्ट हो रहे हैं। ऐसे में यदि हमारे बच्चे इनको समझ जाएँ तो उनका स्वयं का भी कल्याण होगा और आगे चलकर जब वे समाज व राष्ट्र के कर्णधार बनेंगे तो अन्य भी हजारों-लाखों लोगों का कल्याण करेंगे।

यदि यह कक्षा दैनिक रूप से सम्भव नहीं हो तो साप्ताहिक रूप में ही सही, परन्तु चलनी अवश्य चाहिए। यदि अंग्रेजी माध्यम (English Medium) वाले पब्लिक स्कूलों के बच्चे हों तो उस बाल कक्षा का नाम भी कुछ ऐसा ही रखा जा सकता है। जैसे— Sunday School for Jain Studies. इससे उनमें विशेष आकर्षण उत्पन्न होगा।

जैन बच्चों को तो जैन संस्कृति का ज्ञान अवश्य ही होना चाहिए। अन्यथा आजकल टेलिविजन पर अनेक कार्यक्रमों में ईश्वर को कर्त्ता-धर्त्ता-हर्त्ता बताया जाता है और रामायण-महाभारत की कथा को विपरीत प्रकार से दिखाया जाता है, उसी पर हमारे ये बच्चे विश्वास कर लेंगे और बाद में इन्हें सत्य का ज्ञान प्रदान करना बहुत कठिन हो जाएगा।

बच्चों में स्मरण करने की भी अद्भुत क्षमता होता है। वे अपनी मानसिक एकाग्रता के कारण किसी भी पाठ, स्तुति या ग्रन्थ को शीघ्र कंठस्थ कर सकते हैं, जो उनके जीवन की एक बड़ी उपलब्धि सिद्ध हो सकती है। उसके माध्यम से वे जगत् में व्याप्त दुर्व्यसनों, अन्धविश्वासों और व्यर्थ के तनावों (Tensions) से अपने को बचाकर रख सकते हैं। अन्यथा आजकल लोगों का तन और मन —दोनों ही उनकी गलत जीवनशैली के कारण एकदम बरबाद हो रहा है। उनका पारिवारिक और सामाजिक जीवन भी बिखरता चला जा रहा है। वातावरण बड़ा विषाक्त है। ऐसे में यदि एक भी बच्चे को हम इन पाठशालाओं के माध्यम से विवेकी और सच्चरित्र बना सकें तो यह केवल उस एक बच्चे का ही महान् उपकार नहीं होगा, अपितु अपने समाज और राष्ट्र की भी महान् सेवा होगी।

इसी प्रकार अन्य भी कुछ उपाय सोचकर हमें जैन मन्दिरों को शिक्षा का केन्द्र बनाना चाहिए, उन्हें केवल पूजा-पाठ आदि का ही स्थान नहीं रहने देना चाहिए। यह बहुत ही आवश्यक कार्य है, समय की प्रबल माँग है। प्राचीन काल में भी जैन मन्दिर शिक्षा के केन्द्र होते थे और उसी से जैन धर्म की रक्षा-सुरक्षा एवं प्रचार-प्रसार आदि महान कार्य हुए हैं। ❖❖

वर्तमान को वर्द्धमान की आवश्यकता है

महात्मा गांधी ने एक स्थान पर लिखा है कि— “भारतवर्ष की महानता केवल इसलिए नहीं है कि यहाँ हिमालय जैसा ऊँचा पर्वत और गंगा जैसी पवित्र नदियाँ हैं, बल्कि इसलिए है कि यहाँ हिमालय से भी ऊँचे और गंगा से भी पवित्र चरित्र के धारक पुरुष उत्पन्न हुये हैं और वह भी एक-दो नहीं, अनगिनत।”

तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर उन्हीं अनगिनत महापुरुषों में से एक हैं। विचारणीय है कि आज हजारों वर्षों के बाद भी महावीर भगवान का स्मरण और अनुसरण क्यों उपादेय है, उसकी क्या प्रासंगिकता है?

दरअसल, भगवान महावीर के जीवन और सिद्धान्त —दोनों से आज बड़ी महत्वपूर्ण शिक्षा ग्रहण की जा सकती है, इसीलिए आज हजारों वर्षों के बाद भी उनका स्मरण किया जा रहा है, यथा—

भगवान महावीर वैशाली के राजा सिद्धार्थ के इकलौते राजकुमार थे, जो अपार धन-वैभव के बीच रहते थे परन्तु जल में कमल की तरह निर्लिप्त। इससे हमें अनासक्त भाव से जीवन-यापन की महान् आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त होती है। आज इसी के अभाव में चारों ओर तनाव (Tension) और अवसाद (Depression) ने मनुष्य को घेर रखा है।

दूसरी बात— वर्द्धमान महावीर ने राजकुमार होते हुए भी राजा बनकर अथवा अन्य राज्यों एवं राजाओं को जीतकर और भी बड़ा राजा बनने का सपना नहीं देखा। दूसरों को जीतना, वह भी हथियार के बल पर —यह उन्हें कभी भी वीरता का कार्य नहीं लगा। उनका मानना था कि हथियारों से आप किसी को हरा तो सकते हो, पर जीत नहीं सकते, जीतने के लिए तो प्रेम और अहिंसा ही चाहिए, अन्य कोई मार्ग नहीं है।

भगवान महावीर के अनुसार सच्ची वीरता तो वास्तव में अपने आत्मविकारों को जीतने का नाम है। यही कारण है कि वे बाहर की सब बातों से अपना ध्यान हटाकर अन्तर्मुखी हो गये और उन्होंने अपनी पूरी शक्ति अपने अंतरंग के क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारों को जीतने (नष्ट करने) में लगा दी। 12 वर्ष की ऐसी साधना के उपरान्त वे पूर्ण वीतराग एवं सर्वज्ञ बन गये।

वीतराग-सर्वज्ञ बनने के बाद उन्होंने प्राणीमात्र के हित का सार्वभौमिक उपदेश दिया। प्रतीत होता है कि वह उपदेश वर्तमान में और भी अधिक प्रासंगिक हो गया है। यथा—

उन्होंने पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति —इन पाँच को भी जीव बताकर इनकी हिंसा का निषेध किया और इनकी रक्षा का सभी को उपदेश दिया। यदि हम सब उसका पालन करते तो आज पर्यावरण-प्रदूषण और ग्लोबल वार्मिंग की भयंकर समस्या उत्पन्न नहीं होती तथा यदि अब भी पालन किया जाये तो इन समस्याओं का सहज समाधान हो सकता है, अभी भी बहुत देर नहीं हुई है।

भगवान महावीर ने एक अत्यन्त वैज्ञानिक आहार-पद्धति भी सिखाई थी, जिसमें रात्रिभोजन एवं मांसाहार आदि का निषेध था। आज हम देख रहे हैं कि उस आहार-पद्धति को न पालने के कारण अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं, लोग बड़ी संख्या में रोगग्रस्त हो रहे हैं, गली-गली में हॉस्पिटल खुल गये हैं और फिर भी किसी में बैड खाली नहीं है।

भगवान महावीर ने अनेकान्तवाद या स्याद्वाद का भी महत्वपूर्ण सिद्धान्त समझाया था जिसे अपनाकर पूरा विश्व शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व का स्वप्न साकार कर सकता है। अनेकान्तवाद के द्वारा हठाग्रह, कट्टरता आदि ऐसे अनेक दुर्गुणों को दूर किया जा सकता है, जिनसे आतंकवाद और हिंसा का जन्म होता है। स्याद्वाद सभी को एक छत के नीचे मिलजुल कर रहने की कला सिखाता है, क्योंकि इसके अनुसार मतभेद होते हुए भी मनभेद नहीं रहता है। आतंकवाद कहता है— मारो और मरो, जबकि अनेकान्तवाद कहता है— जीयो और जीने दो।

इसप्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान युग में तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर और उनके सिद्धान्तों की अत्यंत आवश्यकता है और उन्हीं से आज की विविध समस्याओं का समाधान हो सकता है।



प्राण लेने से भी बड़ा पाप

‘यो भ्राषते दोषमविद्यमानं सतां गुणानां ग्रहणे च मूकः।
सपापभाक् स्यात्स विनिन्दकश्च यशोवधः प्राणिवधादगरीयान्॥’

—सोमदेवसूरि, यशस्तिलकचम्पू, 4/135

अर्थ— जो व्यक्ति किसी के अविद्यमान दोषों को ही कहता है और उसके गुणों को नहीं कहता है, वह बड़ा पापी और निन्दक है, क्योंकि किसी के यश, सम्मान, प्रतिष्ठा का वध करना उसके प्राणों के वध से बड़ा पाप है।

जैन दर्शन में दान का वैशिष्ट्य

दान का उपदेश लगभग सभी धर्म-दर्शनों में पाया जाता है, लेकिन जैन दर्शन के दानोपदेश की अपनी कुछ खास विशेषताएँ हैं, जो अवश्य ही ज्ञातव्य हैं। उसके बिना जैनदर्शन में दान की अवधारणा को भलीभाँति नहीं समझा जा सकेगा और पद-पद पर बड़ी भ्रान्ति होती रहेगी। जैन दर्शन में दानोपदेश की कुछ मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

1. जैन दर्शन में किसी को भी, कभी भी, कैसे भी, कुछ भी देने का नाम दान नहीं है; अपितु उन सबका एक व्यवस्थित संविधान है। जैन दर्शन में दाता, पात्र, विधि और देय द्रव्य का सम्यक् विवेक अनिवार्य है।
2. दान परोपकार की भावना से दिया जाता है, परन्तु उसमें स्वोपकार भी अवश्य होना चाहिए; होता ही है, क्योंकि जैन दर्शन में दान का भी मुख्य प्रयोजन स्वोपकार ही है, मात्र परोपकार नहीं। (पढ़ें मेरा अन्य लेख— आदहिदं कादब्बं...)
3. जैन दर्शन में दान मुख्यतः अपनी आसक्ति कम करने के लिए, अपनी त्याग भावना बढ़ाने के लिए होता है। जैन दर्शन के अनुसार ‘दान करुंगा’ — यह सोचकर कमाना, ‘नहारुंगा’ — यह सोचकर कीचड़ लपेटना है।
4. जैन दर्शन में दान का मुख्य उद्देश्य स्व-पर को मोक्षमार्ग में सहायता पहुँचाना ही है, सांसारिक कार्य बढ़ाना नहीं। यही कारण है कि जैन दर्शन में गोदान, अस्थिदान, मांसदान, रक्तदान आदि का उपदेश नहीं है। नेत्रदान, अंगदान, देहदान आदि का भी विधान नहीं है।
5. जैन शास्त्रों में दानोपदेश की दो विवक्षाएँ मिलती हैं— एक मोक्षमार्ग की दूसरी लोकसामंजस्य की। अतः किसी एक का ही आग्रह उचित नहीं है। इसे भी भलीभाँति समझना अनिवार्य है।
6. जैन दर्शन में चार दान कहे हैं— आहारदान, औषधदान, अभयदान और ज्ञानदान। इनमें से वस्तुतः कोई भी छोटा या बड़ा नहीं है। मुख्य-गौण-विवक्षावश ही किसी को छोटा या बड़ा कहा जाता है। मुख्य-गौण वस्तु में नहीं हुआ करते, वाणी में होते हैं। यह बात बहुत महत्वपूर्ण है और सर्वत्र समझने योग्य है। (‘सर्वातवत्तद्गुण-

मुख्यकल्पम् —आचार्य समन्तभद्र, युक्त्यनुशासन, 61)

7. चार प्रकार के दानों में धनदान या रुपयादान नाम का कोई दान नहीं है, अतः जितना हो सके उतना वस्तु का ही दान करना चाहिए, सीधे धन/रुपया का नहीं; तथापि विश्वसनीय स्थिति में धन का भी दान किया जा सकता है। धन का दान दान ही नहीं है— ऐसा सर्वथा नहीं कह सकते।
8. जैनदर्शन के अनुसार दान कभी-कभी नहीं, नित्य करना चाहिए। दान श्रावकों का दैनिक आवश्यक कर्म है।
9. जैन दर्शन में दान को 'वैय्यावृत्य' कहा है जो एक विशेष महत्त्वपूर्ण शब्द है। दान 'दया' नहीं है। अक्सर लोग दया करते हैं, दान नहीं करते। दान के लिए दया, सेवा जैसे शब्द भी बहुत अधिक उपयुक्त नहीं लगते हैं।
10. पुनश्च, दान को भी स्याद्वाद शैली से ही समझना चाहिए। यथा— दान सर्वथा उपादेय ही नहीं है, कथंचित् हेय भी है, उससे पुण्य ही नहीं होता, कथंचित् पाप भी होता है, वह एक अपेक्षा से संवर-निर्जरा का कारण है तो अन्य अपेक्षा से आस्रव-बंध का भी कारण है।
11. दान के सम्बन्ध में उपलब्ध आध्यात्मिक दृष्टिकोण भी उपेक्षणीय नहीं है। यथा— पं. दीपचंद कासलीवाल 'आत्मावलोकन' में 'दान का लक्षण' शीर्षक में पृष्ठ 138 पर लिखते हैं— **“जीवद्रव्यं निजस्वभावभावशक्तिरूपम्, अव्यक्तत्वात् निजस्वभावभावव्यक्तत्वेन यदा स्वपरिणामेभ्यः ददाति तद्दानम्।”**
अर्थ— निज स्वभाव भाव शक्तिरूप जीव द्रव्य है। अव्यक्त जो निज स्वभाव उसके अभिव्यक्त हो जाने पर जिस समय अपने रूप परिणमन करता है, वही दान है।



उदय पर नहीं, बन्ध पर ध्यान दो

आचार्य समन्तभद्र स्वामी के किसी ग्रंथ में एक स्थान पर लिखा है कि उपसर्ग के समय पार्श्वनाथ के तो पाप का उदय चल रहा था और कमठ के पुण्य का, किन्तु इससे क्या? महत्त्व तो इसका है कि उस समय पार्श्वनाथ के तो कर्म की निर्जरा हो रही थी और कमठ के कर्म का घोर बंध हो रहा था। तात्पर्य यह है कि हमें कर्म के उदय पर नहीं, कर्म के बंध या निर्जरा पर ध्यान देना चाहिए। हम सब प्रायः उदय पर ही अधिक ध्यान देते हैं कि हमारे सदा पुण्य का उदय हो, कभी पाप का उदय न हो, आदि; परन्तु वास्तव में ध्यान इस बात पर देना चाहिए कि हमें कभी कर्म का बन्ध न हो, सदा कर्म की निर्जरा हो। यदि हम इस बात का ध्यान रखेंगे तो हमारे जीवन में बहुत परिवर्तन आ जाएगा, हम कमठ के मठ से निकलकर पारसनाथ के पास पहुँच जाएँगे।

जैन समाज के धार्मिक आयोजनों की समीक्षा

आजकल हमारी जैन समाज में ऐसे अनेक धार्मिक आयोजन होते दिखाई दे रहे हैं कि उनको 'धार्मिक' विशेषण से कहना किसी भी तरह उचित नहीं जान पड़ता, अपितु पापरूप ही कहना उचित जान पड़ता है। यह घोर चिंता का विषय है। समाज को सावधान होना चाहिए। कार्यक्रमों के आयोजक, संयोजक और दातार आदि तो समझ रहे होंगे कि हम धर्म कमा रहे हैं, किन्तु उन्हें ज्ञात नहीं कि ऐसे आयोजनों को करके वे धर्म नहीं, अपितु पापबंध ही कर रहे होते हैं।

जैन धर्म बहुत महान दर्शन है, किन्तु आज इसके भी अधिकांश कार्यक्रम बहुत घटिया होने लग गये हैं। दिगम्बर साधुओं के दीक्षा-दिवस जैसे वीतरागता-पोषक कार्यक्रमों तक में भी बहुत अधिक हल्कापन दिखाई देता है। लगता है कि आयोजन के प्रयोजन का किसी को कोई होश नहीं है। कहीं कोई अनुशासन और गरिमा नहीं दिखाई देती। पता नहीं क्या हो रहा है हमारी समाज को? हम अपने धर्म की बढाई तो खूब करते हैं, किन्तु कार्यक्रम इतने घटिया प्रस्तुत करते हैं कि नई पीढ़ी के बच्चे एक बार आ जाएँ तो दुबारा कभी नहीं आते, हमेशा के लिए दूर हो जाते हैं। नई पीढ़ी के धर्म से दूर होने का कारण हमारे ये घटिया कार्यक्रम ही हैं।

ऐसे कार्यक्रमों में पाप बंध कैसे होता है —आइये जरा इसे भी संक्षेप में समझने का प्रयास करते हैं।

पहली बात तो ऐसे कार्यक्रमों में समय का बिलकुल ध्यान नहीं रखा जाता, आठ-नौ बजे लिखकर दस-ग्यारह बजे तक शुरू किया जाता है, लोगों का बहुत अधिक अमूल्य समय खराब किया जाता है और यह बहुत बड़ा पाप है। किसी का धन चुराना तो हमें पाप लगता है, परन्तु यह नहीं पता कि किसी के मनुष्य भव का अमूल्य समय खराब करना उससे भी बड़ा पाप है, हिंसा है। धन तो दुबारा भी कमाया जा सकता है, किन्तु बीता समय फिर से प्राप्त नहीं किया जा सकता।

तथा ऐसे कार्यक्रमों में अमुक विद्वान् या अतिथि आएंगे और उनका उद्बोधन होगा —ऐसा भी छपा जाता है, जो कि वास्तव में झूठ होता है। आयोजकों ने उस विद्वान् या अतिथि से स्वीकृति लेना तो दूर, अनेक बार तो उन्हें बताया तक भी नहीं होता है। इससे आयोजकों को झूठ और मायाचार का महापाप लगता है, जो तिर्यच आयु के आस्रव-बंध का कारण कहा गया है।

ऐसे कार्यक्रमों में बहुत अशुद्ध पोस्टर, बैनर आदि लगाए जाते हैं; जबकि अशुद्ध लिखना-लिखाना, पढ़ना-पढ़ाना आदि ज्ञानावरण कर्म के आस्रव-बंध के कारण कहे हैं। ऐसे कार्यक्रमों में अनेक भजन अन्य धर्मों की तर्ज पर कुगुरु-कुदेव की भक्ति के या जैन सिद्धांत के विरुद्ध गाये-सुनाये जाते हैं। इससे घोर मिथ्यात्व (दर्शनमोहनीय) कर्म का बंध होता है।

ऐसे कार्यक्रमों में भोजनव्यवस्था बड़ी खराब होती है। कभी-कभी तो अभक्ष्य-भक्षण आदि भी किया-कराया जाता है। इससे असातावेदनीय कर्म का बंध होता है।

एक-दूसरे की निंदा-प्रशंसा भी होती है, मानपोषण के अनेक कार्यक्रम होते हैं। इससे नीच गोत्र कर्म का आस्रव-बंध होता है। दूसरों को नाना प्रकार से बाधित किया जाता है। इससे अन्तराय कर्म का आस्रव-बंध होता है।

कभी-कभी कोई कार्यक्रम तो मन्दिर के अंदर ही और वह भी जिनेन्द्र-पूजा के रूप में ही आयोजित किया जाता है, परन्तु उसमें पूजा के बीच-बीच में ही, पूजा को रोककर किसी नेता या सेठ आदि का अभिनन्दन किया जाता है, जो बहुत ही अनुचित होता है, आयोजक भगवान की ओर पीठ कर लेते हैं, फोटो खींचते हैं, लोगों को पूजा में बड़ा व्यवधान होता है, जिनेन्द्रदेव की अविनय होती है, इत्यादि। इससे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय, नीच गोत्र आदि अनेक अशुभ कर्मों का एक साथ आस्रव-बंध होता है।

इसीप्रकार की और भी बहुत-सी बातें हैं, जिन्हें हमें स्वयं समझना चाहिए और ऐसे कार्यक्रमों की कृत-कारित-अनुमोदना से बचना चाहिए। जिसप्रकार भोजन न मिले तो भूखा रहना ठीक है, पर विष-भक्षण करना ठीक नहीं है (—ईर्यापथ भक्ति, 14), उसीप्रकार कार्यक्रम न करना ठीक है, किन्तु यदि करो तो उसके 'धार्मिक' विशेषण की रक्षा सावधानीपूर्वक करनी चाहिए। इसी में अपना और समाज का हित है। समाज के कर्णधारों को कभी शांति से बैठकर इस विषय पर विचार-विमर्श करना चाहिए। जैनं जयतु शासनम्। ❖❖

“तृणस्यापि न वांछामि पीडां जिनमताश्रितः।”

—आचार्य रविषेण, पद्मपुराण, 23/304

अर्थ— जैन वही है जो अपने निमित्त से किसी तृण को भी पीड़ित नहीं करना चाहता।

भावार्थ— हमारे निमित्त से कोई पापकर्म का बंध करे— ऐसा नहीं होना चाहिए। जिससे स्व-पर दोनों का कर्मक्षय हो, वही कार्यक्रम उपादेय है।

“हे भव्य ! तू धर्म न कर सके तो मत कर, पर पाप मत कर —बस यही धर्म है।”

—आचार्य गुणभद्र, आत्मानुशासन, 20, 24, 27

परिवार के सदस्यों को भी धर्म के मार्ग में लगाओ

जम्बूस्वामी इस युग के अन्तिम अनुबद्ध केवली हैं। उनका जीवन-चरित्र बड़ा ही हृदयस्पर्शी एवं प्रेरणाप्रद है। यही कारण है कि जैन-साहित्य के भण्डार में उनके जीवन-चरित्र से सम्बन्धित सैकड़ों रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। जम्बूस्वामी के जीवन-चरित्र को पढ़कर हम अनेक महत्त्वपूर्ण शिक्षाएँ ग्रहण कर सकते हैं, किन्तु यहाँ मैं उनमें से एक बात की ओर आपका विशेष ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ।

जम्बूस्वामी के जीवन-चरित्र की वह महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उन्होंने अपने परिवार के लोगों को भी अपने ज्ञान-वैराग्यमय जीवन से प्रभावित कर संयम के मार्ग में लगाने में सफलता प्राप्त की; क्योंकि यह सबसे कठिन कार्य है। दुनिया के लाखों लोगों को समझाना सरल है, पर अपने घर के दो सदस्यों को भी समझाना अत्यन्त कठिन है। ‘उपदेशसिद्धान्तरत्नमाला’ में कहा गया है कि—

“जह अइ कलम्मि खुत्तं, सगडं कइढंति केवि धुरि धवला।
तह मिच्छाउ कुडुंबं, इह विरला केवि कइढंति॥ 79 ॥”

अर्थ— जैसे कीचड़ में धँसी हुई गाड़ी को कोई बड़े शक्तिशाली बैल ही बाहर खींच पाते हैं, वैसे ही इस लोक में मिथ्यात्वरूपी कीचड़ में फँसे हुए अपने कुटुंब को कोई उत्तम विरले पुरुष ही उसमें से बाहर निकाल पाते हैं।

इसीप्रकार की एक उक्ति संस्कृतभाषा में भी प्रचलित है। यथा— **गजानां पंकमग्नानां गजा इव धुरन्धरा** अर्थात् कीचड़ में धँसे हाथी को निकालने के लिए कोई धुरन्धर हाथी ही चाहिए।

इससे यह अत्यन्त स्पष्ट है कि अपने परिवार के लोगों को मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र से बचाकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के मार्ग में लगा देना एक अत्यन्त कठिन कार्य है और इस अत्यन्त कठिन कार्य को करने में जम्बूस्वामी ने सफलता प्राप्त की— यह उनके जीवन-चरित्र की एक सबसे बड़ी विशेषता है, जो बारम्बार अभिनन्दन के योग्य है।

दुनिया में बड़े-बड़े धर्मात्मा और विद्वान् पंडित भी अक्सर यहीं आकर असफल हो जाते हैं। वे सारी दुनिया को उपदेश दे-देकर सन्मार्ग पर लगाने के बड़े-बड़े

रिकॉर्ड बना लेते हैं, पर अपने घर के दो-तीन सदस्यों को भी नहीं समझा पाते। कोई अत्यन्त विरले ही इस दुष्कर कार्य में सफल हो पाते हैं। क्योंकि इस कार्य में बड़ा धैर्य और कौशल अपेक्षित होता है, पहले स्वयं को ही भलीभाँति सुधारना पड़ता है, उत्तम समय (Quality time) देना पड़ता है, उसमें कभी-कभी तो लम्बे समय तक प्रेमपूर्वक, तनिक भी उत्तेजित हुए बिना लगे रहना पड़ता है, इत्यादि; अन्यथा इस सम्बन्ध में अक्सर कुछ इस प्रकार की स्थितियाँ बन जाती हैं। यथा—

1. या तो वे स्वयं भी धर्म के मार्ग से च्युत होकर अधर्म के मार्ग में प्रवृत्ति करना शुरू कर देते हैं।
2. या किसी को धर्म की बात कहना ही बिल्कुल बन्द कर देते हैं, समझाने की कोशिश ही बन्द कर देते हैं।
3. या समझाते-समझाते बहुत कषाय करने लग जाते हैं, अपना और उनका—दोनों का मन बहुत मलिन कर लेते हैं। परिवार के लोगों से सम्बन्ध भी बुरी तरह से खराब कर लेते हैं।

परन्तु वे लोग धन्य हैं जो अपने परिवार के सदस्यों को शान्तिपूर्ण हित-मित-प्रिय शैली का आश्रय लेकर बड़ी कुशलता के साथ युक्ति-दृष्टान्त आदि के द्वारा पुनः-पुनः समझाते रहते हैं और अन्ततोगत्वा इस महत्त्वपूर्ण कार्य में सफल हो जाते हैं। जम्बूस्वामी ऐसे ही महापुरुष थे, मैं उन्हें भक्तिपूर्वक प्रणाम करता हूँ।

जम्बूस्वामी की तरह अन्य भी अनेक धर्मात्माओं ने अपने परिवार के सदस्यों को धर्ममार्ग पर लगाया है। मैं उन सबको भी भक्तिपूर्वक प्रणाम करता हूँ।

शास्त्रों में मुनि दीक्षा लेने से पूर्व परिवार के सदस्यों को सम्बोधित करने का विधान मिलता है, जिसका एक प्रयोजन परिवार के सदस्यों को भी धर्ममार्ग पर लगाना है।

हम सबको भी अपने परिवार के सदस्यों को भी धर्म के मार्ग पर लगाने का प्रयत्न करना चाहिए। ❖❖

जैनाचार और लोकाचार का समन्वय

‘सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।

यत्र सम्यक्त्वहानिर्न न चापि व्रतदूषणम्॥’

—सोमदेवसूरि, यशस्तिलकचम्पू 8/34

अर्थ— जैनों को वह समस्त लोकाचार स्वीकार है, जिससे सम्यक्त्व की हानि न हो और व्रत दूषित न हों।

सीख दीजिए ताहि को जाको सीख सुहाय

एक सूक्ति संसार की प्रायः सभी भाषाओं में यत्किंचित् परिवर्तन के साथ उपलब्ध होती है, जिसका अभिप्राय है कि हमें अपात्र व्यक्ति को कभी कोई उपदेश/ शिक्षा नहीं देना चाहिए, अन्यथा लाभ की बजाय हानि हो जाती है। हिन्दी भाषा के निम्नलिखित दोहे से तो प्रायः हम सभी परिचित हैं ही—

‘सीख दीजिए ताहि को, जाको सीख सुहाय ।
सीख न दीजे वानरा, घर चिड़िया को जाय ॥’

विश्व की प्राचीन भाषा प्राकृत में भी ठीक इसी अभिप्राय की दो गाथाएँ इस प्रकार उपलब्ध होती हैं—

‘वाणर ! पुरिसोसि तुमं, णिरत्थयं वहसि बाहुदंडाई ।
जो पायवस्स सिहरेण, करेसि कुंडिं पडालिं वा ॥
णविसि मयं मयहरिया, णविसि मयं सोहिया व णिद्धावा ।
सुघरे अच्छसु विघरा, जा वहसि लोगतत्तीसु ॥’

अर्थ— वर्षा काल में शीत से कम्पायमान एक वानर को देखकर बया पक्षी ने उससे कहा— “हे वानर! पुरुष के समान हाथ-पैर वाले होकर भी तुम कोई कुटिया क्यों नहीं बना लेते? व्यर्थ ही क्यों ठिठुर रहे हो?” बया से यह उपदेश सुनकर उस वानर को क्रोध उत्पन्न हुआ और उसने उस बया पक्षी के घोंसले को तिनका-तिनका कर हवा में उछाल दिया। फिर बोला— “हे सुघरे! अब तू भी बिना घर के रह।”

सभी भाषाओं में इस प्रकार की सूक्ति मिलने से यह स्पष्ट होता है कि यह हमारे पूर्वजों का एक सार्वभौमिक और सार्वकालिक चिन्तन (सनातन सत्य) रहा है तथा इसके पीछे उनका एक गहरा सन्देश हमारे लिए छुपा हुआ है, जिसे हमें जीवन में सदैव याद रखना चाहिए।

हम अक्सर किसी को भी कुछ शिक्षा देने लग जाते हैं, मानो हम ही संसार के सबसे बड़े गुरु हैं। सामने वाला उस उपदेश के लिए सर्वथा योग्य है या नहीं— यह विचार करना तो दूर; जिन बातों का अभी हमें स्वयं ही पूर्ण ज्ञान नहीं हुआ है, अथवा जिनको अभी हम स्वयं ही अपने जीवन में ठीक से नहीं उतार पाये हैं, हम उनका

भी दूसरों को तुरन्त उपदेश देने लग जाते हैं। जबकि सर्वप्रथम अपने को सुधारने का ही सर्व शास्त्रों में स्पष्ट निर्देश है, जिसे किसी हिन्दी कवि ने बड़ी अच्छी तरह यूँ प्रकट किया है—

**‘अरे सुधारक जगत के, चिन्ता मत कर यार।
तेरा मन ही जगत है, पहले इसे सुधार॥’**

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी अक्सर कहा करते थे कि जिस बात पर मैं स्वयं नहीं चलता, उसे दूसरे से भी नहीं कहता हूँ। यहाँ तक कि मैं तो बिना कुछ कहे ही शिक्षा देने को अधिक अच्छा समझता हूँ— ‘मेरा जीवन ही मेरा संदेश है।’ जीवन से दी गई शिक्षा वाणी से दी गई शिक्षा की अपेक्षा अधिक असरकारी होती है।

किन्तु आज हमारी स्थिति उससे विपरीत ही हो रही है। हम स्वयं को सुधारें बिना दूसरों को सधरने का उपदेश दे-देकर ‘परोपदेशे पांडित्यम्’ की उक्ति को चरितार्थ कर रहे हैं। उसमें भी वह उस बात के लिए पात्र है या नहीं, उसे हमारी बात पसन्द भी आ रही है या नहीं— इसका भी हम ध्यान नहीं रखते और बार-बार उसे अपना उपदेश दे-देकर उत्तेजित होने के लिए मजबूर कर देते हैं। आज यही घर-घर में कलह का भी एक बड़ा कारण बना हुआ है।

हमें कभी भी, किसी को भी, कुछ भी कहने से पहले भलीभाँति विचार कर लेना आवश्यक होता है कि सामने वाला उस शिक्षा के योग्य भी है या नहीं, उसे हमारी बात अच्छी भी लगेगी या नहीं, हमारी यह बात सचमुच उसके हित में है या नहीं, क्या इसी समय और इसी तरीके से कहना उचित है, इत्यादि; अन्यथा मौन ही सर्वथा श्रेयस्कर होगा।

वचन बोलना कोई आसान काम नहीं है। जिस प्रकार हमें गाड़ी चलाना आता हो और हमारे पास उसका वैधानिक अधिकार (लाइसेंस) हो, तभी हम गाड़ी लेकर सड़क पर आते हैं, अन्यथा भयंकर दुर्घटनाएँ होती हैं; उसी प्रकार इस जवान को चलाना भी भलीभाँति सीखना आवश्यक है, तभी कुछ ठीक से बोला जा सकता है, अन्यथा इससे इतिहास में अनेक दुर्घटनाएँ हुई हैं, आज भी होती रहती हैं और भविष्य में भी होती रहेंगी।

जिस प्रकार हम अपने पर्स का एक-एक रुपया सोच-समझकर उचित स्थान पर खर्च करते हैं, उसी प्रकार हमें अपने मुख से एक-एक शब्द बहुत सोच-समझकर उचित स्थान, उचित समय एवं उचित व्यक्ति के ही सामने निकालना चाहिए; कहीं भी, कभी भी, किसी के भी सामने नहीं।

जिस प्रकार फल खट्टे और मीठे दोनों प्रकार के होते हैं, उसी प्रकार शब्द भी खट्टे और मीठे दोनों प्रकार के होते हैं और उनका वैसा ही कुप्रभाव और सुप्रभाव भी उनके श्रोता पर अवश्य पड़ता है। उदाहरणार्थ, किसी को ‘राम’ या ‘सीता’ आदि

शब्दों से सम्बोधित करके देखिए और किसी को ‘रावण’ या ‘मंथरा’ आदि शब्दों से सम्बोधित करके देखिए। अन्तर आपको स्वयं पता चल जाएगा। अतः जिस प्रकार हम खट्टे फलों को न लेकर मीठे फलों को ही चुनते हैं, उसी प्रकार कटु शब्दों को छोड़कर मधुर वचनों का ही प्रयोग करना उचित है।

सारांश यही है कि हमारी वाणी अत्यधिक मूल्यवान् होती है, हमें उसका मूल्य समझना चाहिए और उसका यद्वा-तद्वा दुरुपयोग न करके सदा सदुपयोग ही करना चाहिए।

अपनी वाणी सुधारने के लिए हमको निम्नलिखित दोहों पर गंभीरतापूर्वक चिन्तन करना चाहिए—

ऐसी वाणी बोलिए, मन का आपा खोय।
 औरन को सीतल करे, आपहु सीतल होय ॥
 कोयल काको देत है, कागा कासों लेय।
 मीठे वचन सुनाय के, जग अपनो कर लेय।
 बोली बड़ी अमोल है, जो कोई बोले जानि।
 हिये तराजू तोलके, फिर मुख बाहिर आनि ॥
 तुलसी मीठे वचन से, सुख उपजत चहुँ ओर।
 वशीकरण इक मंत्र है, तजिए वचन कठोर ॥
 शब्द सम्हारे बोलिए, शब्द के हाथ न पाँव।
 एक शब्द औषध करे, एक करत है घाव ॥



अहिंसा भारत की मूल संस्कृति है

“चीनी यात्री फाह्यान द्वितीय चन्द्रगुप्त के समय भारत आया था। वह मथुरा प्रदेश का वर्णन इसप्रकार करता है— इस सारे देश में चांडालों के अतिरिक्त कोई प्राणी हिंसा नहीं करता, शराब नहीं पीता, प्याज और लहसुन नहीं खाता। चांडाल पापी कहलाते हैं और ग्राम के बाहर रहते हैं। जब वे शहर या बाजार में आते हैं तब लोगों को सूचना देने के लिए लकड़ी के एक टुकड़े से डंडे को बजाते हैं। इससे दूसरे लोग उन्हें पहिचान जाते हैं और उनके स्पर्श से दूर रहते हैं। इस देश के लोग सूअर और मुर्गी नहीं पालते और पशु बेचने का व्यवसाय नहीं करते ...केवल चांडाल शिकार करते हैं और मांस बेचते हैं।”

—चीनी यात्री फाह्यान का यात्रा विवरण, पृष्ठ 64
 (धर्मानंद कौशाम्बी, भारतीय संस्कृति और अहिंसा, पृष्ठ 170)

जिनवाणी को माता की उपमा क्यों दी जाती है?

जिनवाणी को ‘माँ’ या ‘माता’ की उपमा दी जाती है, पर क्या आपने कभी विचार किया कि ऐसा क्यों है? जिनवाणी को ‘माता’ की उपमा क्यों दी जाती है? जिनवाणी को ‘माता’ की उपमा देने के अनेक महत्त्वपूर्ण कारण हैं। यथा—

1. जिस प्रकार माता अपने सभी पुत्रों को प्यार करती हुई उनका बड़ा हित चाहती है। किसी एक का भी कभी बहिष्कार या तिरस्कार नहीं करती। चाहे कोई बच्चा कैसा भी हो, काला, कुबड़ा, विकलांग ही क्यों न हो, उसे भी छाती से लगाकर दूध पिलाती है, उसका पालन-पोषण करती है। उसी प्रकार जिनवाणी माता भी सब जीवों का भला करती है, चाहे वह कोई भी हो, कैसा भी हो, और कैसी भी परिस्थिति/मनःस्थिति में हो। अत्यन्त अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि, पापी, तीव्रकषायी ही क्यों न हो, उसका भी बहिष्कार या तिरस्कार नहीं करती, अपितु उसे भी येन-केन प्रकारेण प्यार से धर्म के मार्ग पर लगाने का प्रयास करती है। (मत ठुकराओ, गले लगाओ, धर्म सिखाओ।)
2. यदि कदाचित् कोई बच्चा दूध न पिए तो भी थोड़ा जबरदस्ती करके भी प्रेम से पिलाने की कोशिश करती है।
3. जिसप्रकार माता अपने पुत्र को सब कुछ सिखाती है— खाना, पीना, उठना, बैठना, सोना, जागना इत्यादि सब, उसीप्रकार जिनवाणी माता भी हमें जीवन की हर क्रिया सिखाती है, हमारा सर्वांगीण विकास करती है।
4. जिनवाणी माता हमारी रात-दिन सदा रक्षा करती है, केवल सीमित समय की जिम्मेदारी नहीं लेती नौकर/आया की तरह।
5. जिनवाणी माता के लिए सभी जीव पुत्र समान प्यारे हैं, अतः वह किसी एक का बुरा करके अन्य का भला करने की बात भी कभी नहीं कहती। (अन्य वाणी में प्रायः ऐसी गलती होती देखी जाती है।)
6. जिसप्रकार कहते हैं कि माता कभी भी कुमाता नहीं बनती, चाहे पुत्र कुपुत्र बन जाए, अर्थात् माता कभी भी कैसी भी स्थिति में पुत्र का अहित नहीं सोच सकती, हित ही सोचती है, उसीप्रकार जिनवाणी माता भी सदैव जीव का हित

ही सोचती है, कैसी भी स्थिति में उसे अहितकर मार्ग पर चलने की अनुमति नहीं देती।

7. जिसप्रकार माता की शैली भी प्यार भरी ही होती है, शासकों-जैसी आदेशात्मक नहीं होती, उसीप्रकार जिनवाणी की शैली भी अत्यधिक प्यार भरी ही होती है— मधुर, कोमल, उपदेशात्मक; आदेशात्मक नहीं। आश्चर्य है कि फिर भी वह सर्वाधिक प्रभावकारी सिद्ध होती है। यदि कदाचित् वह कुछ कठोर शब्द कहे तो उसके कठोर शब्दों में भी बड़ा प्यार झलकता है।
8. कदाचित् कोई उसका अपमान आदि रूप दुर्व्यवहार करे तो भी उससे नाराज नहीं होती है। जानती है कि यह अबोध है, कुछ समझता नहीं है।
9. जिसप्रकार माता की भाषा भी अत्यन्त सरल-सुबोध ही होती है, पाण्डित्यपूर्ण नहीं, उसीप्रकार जिनवाणी माता भी सरल-सुबोध जनभाषा में ही अपनी बात कहकर अधिक से अधिक लोगों का भला करना चाहती है।
10. जिसप्रकार कितना ही बड़ा संकट आ जाए, परन्तु यदि बालक माँ की गोद में चला जावे तो शांत/सुरक्षित हो जाता है, उसीप्रकार भयंकर कष्टों के आने पर भी जो जीव जिनवाणी की शरण ग्रहण करते हैं, वे शान्त/सुरक्षित हो जाते हैं।

विशेष— यदि हम जिनवाणी के वक्ता हैं तो हमारी भी भावना, भाषा एवं शैली उसके जैसी ही होनी चाहिए। ❖❖

जैन आचार की व्यावहारिकता

कुछ लोग जैन दर्शन पर अव्यावहारिक होने का आरोप लगाते हैं, किन्तु ऐसा नहीं है, जैन दर्शन एक व्यावहारिक दर्शन ही सिद्ध होता है, अव्यावहारिक तो बल्कि अन्य धर्म-दर्शन बहुत दिखाई देते हैं। उदाहरणार्थ कुछ कहते हैं कि यदि कोई हमारे एक गाल पर थप्पड़ मारे तो उसके आगे अपना दूसरा गाल भी कर दो, कह दो कि भाई ! इस पर भी एक थप्पड़ मार दो, किन्तु जैन धर्म आपको ऐसा भोला नहीं बनाता। उसने ऐसी स्थिति के लिए विरोधी हिंसा का प्रावधान रखा है। यह उसकी व्यावहारिकता है। इसी प्रकार कुछ कहते हैं कि काशी करवत लेकर मर जाओ या अमुक पवित्र पर्वत से गिरकर मर जाओ तो तुम्हें मुक्ति मिलेगी। अथवा पशुओं की बलि दो, उससे तुम्हें और उन्हें स्वर्ग या मोक्ष मिलेगा। विचारणीय है कि क्या ये सब बातें व्यावहारिक हैं? कथमपि नहीं। जैन दर्शन में ऐसी भी कोई अव्यावहारिक बात नहीं पाई जाती। अरे, जैन आचार्य तो स्वयं ही बारम्बार अव्यावहारिक बात/कार्य करने को मना करते हैं। उन्होंने अशक्यानुष्ठान का एकदम निषेध किया गया है। सर्वत्र यथाशक्ति ही प्रवृत्ति का उपदेश दिया है— ‘जं सक्कदि तं किज्जदि’, आदि। विशेष जानने के लिए मेरा लेख ‘जैनदर्शन की व्यावहारिकता’ पठनीय है।

धर्मात्मा ही कुशल है

प्रायः हम सभी, जब अपने किसी मित्रादि को पत्र लिखते हैं तो उसका प्रारम्भ इसप्रकार करते हैं कि मैं यहाँ कुशल हूँ और आशा है कि आप भी वहाँ कुशलतापूर्वक होंगे.....¹

परन्तु क्या कभी हमने गम्भीरतापूर्वक विचार किया है कि ‘कुशलता’ किसे कहते हैं? ‘कुशल’ कौन होता है? ‘कुशल’ शब्द का अर्थ क्या है? क्या हम आज अपनी इस वर्तमान स्थिति में वास्तव में ‘कुशल’ हैं?

यदि नहीं तो आइये, महाकवि भूधरदास के एक निम्नलिखित सवैये के माध्यम से इन बातों को भलीभाँति समझने का प्रयत्न करें।

महाकवि भूधरदास आज से लगभग 300 वर्ष पूर्व आगरा के शाहगंज क्षेत्र में निवास करते थे। वे दान-पूजादि धार्मिक क्रियाओं में तो लीन रहते ही थे, अध्यात्म के भी उच्चकोटि के विद्वान् थे।² उन्होंने पार्श्वपुराण, जैनशतक और अनेक भजनों की रचना की थी। प्रतीत होता है कि उन्होंने भी कभी अपने किसी मित्र को पत्र लिखा होगा और उसका प्रारम्भ भी कुछ इसी प्रकार किया होगा कि मैं यहाँ कुशल हूँ और आशा है कि आप भी....परन्तु ऐसा लिखते ही उनके मस्तिष्क में प्रश्न उत्पन्न हुआ होगा कि अरे, यह मैं क्या लिख रहा हूँ कि मैं कुशल हूँ? किसे कहते हैं कुशल? क्या मैं वास्तव में कुशल हूँ? और वे इन्हीं प्रश्नों पर चिंतन करते-करते अध्यात्म-सागर की अतल गहराइयों में उतर गये। अन्त में, वे वहाँ से जो अनमोल रत्न निकाल कर लाये उसे उन्होंने तराश कर हमारे लिए इसप्रकार प्रस्तुत किया है—

“जोड़ दिन कटै सोइ आयु मैं अवसि घटै,
बूँद-बूँद बीतै जैसैं अंजुलि कौ जल है।
देह नित झीन होत नैन तेज हीन होत,
जोबन मलीन होत, छीन होत बल है॥

¹ “इहाँ कुशल सब भाँति सुहाई। उहाँ कुशल राखै रघुराई॥” —तुलसीदास

² “भूधरमल जिनधर्मी ठीक। रहै स्याहगंज में तहकीक।
जिन सुमिरन पूजा परवीन। दिन प्रति करै असुभ कौ छीन॥”

—पं. दौलतराम कासलीवाल, पुण्यास्रवकथाकोश, भाषा, अंतिम प्रशस्ति, छन्द 15

आवै जरा नेरी, तकै अंतक-अहेरी आवै,
परभौ नजीक जात नर भौ निफल है।
मिलकै मिलापीजन पूछत कुशल मेरी,
ऐसी दशा मांहि मित्र काहे की कुशल है ॥”

—जैन शतक, छंद 37

अर्थ— हे मित्र! मुझसे मेरे मिलने-जुलने वाले मेरी कुशलता के बारे में पूछते हैं, परन्तु तुम्हीं बताओ, कुशलता है कहाँ? दशा तो ऐसी हो रही है—

जिस प्रकार अंजुलि का जल जैसे-जैसे उसमें से बूँद गिरती जाती है, वैसे-वैसे ही यह आयु भी निश्चित रूप से घटती जा रही है, दिनों-दिन शरीर दुर्बल होता जा रहा है, आँखों की रोशनी कम होती जा रही है, युवावस्था बिगड़ती जा रही है, शक्ति क्षीण होती जा रही है, वृद्धावस्था पास आती जा रही है, मृत्युरूपी शिकारी इधर देखने लग गया है, परभव पास आता जा रहा है और मनुष्यभव व्यर्थ ही बीतता जा रहा है।

महाकवि भूधरदास के उक्त सवैया का मूल अभिप्राय यही है कि बाह्य शरीरादि संयोगों में कुशलता नहीं है, क्योंकि वे तो बाह्य क्षणभंगुरस्वभावी पदार्थ हैं। जो जीव उनमें कुशलता मानता है वह बहिरात्मा है। अन्तरात्मा तो अपने को इन देहादि बाह्य पदार्थों से भिन्न ज्ञान-दर्शन स्वभावी मानता है और इसलिए सतत् धर्मध्यान—आत्मध्यान में ही रहने का प्रयत्न करता है, अतः परमार्थ से जो धर्मात्मा है वही कुशल है।

‘कुशलता’ शरीरादि बाह्य संयोगों की अनुकूलता का नाम नहीं है— इसका एक प्रबल प्रमाण यह भी है कि प्राचीन परम्परा से अब तक दर्शनार्थी श्रावक साधुओं से कभी भी इनकी कुशलता नहीं पूछते हैं, कभी कोई किसी मुनिराज से यह नहीं पूछता कि आपकी तबीयत वगैरह कैसी है, अपितु यही पूछता है कि आपके रत्नत्रय की कुशलता कैसी है, आपके परिणामों की विशुद्धि कैसी है। साधु से सांसारिक संयोगों की बात करना घोर पाप का कारण माना जाता है।

संस्कृत के महाकवि कालिदास ने भी अपने सुप्रसिद्ध नाटक ‘अभिज्ञानशाकुन्तलम्’ में भी इस बात को लिखा है कि साधुओं से कुशलता मात्र इसीप्रकार पूछना चाहिये कि क्या आपका तप वृद्धिगंत हो रहा है—

“अपि तपो वर्धते?” —शाकुन्तलम्, प्रथम अंक, पृष्ठ 47

इसके अतिरिक्त ‘मनुस्मृति’ का यह निम्नलिखित श्लोक भी विशेष ध्यान देने योग्य है, जिसमें कहा गया है कि कुशलता ब्राह्मण से पूछना चाहिये—

“ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत् क्षत्रबन्धुमनामयम्।
वैश्यं क्षेत्रं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च ॥”

—मनुस्मृति, 2/127

इसका अभिप्राय भी यही है कि कुशलता ब्राह्मणत्व की बात है, विद्वत्ता की बात है; बाह्य शरीरादि संयोगों की अनुकूलता का नाम कुशलता नहीं है, अपितु अन्तरंग आत्मपरिणामों की सुन्दर स्थिति का नाम ही कुशलता है।

दरअसल, 'कुशल' शब्द बड़ा सूक्ष्म आध्यात्मिक अर्थ धारण करता है, जिसे बाहरी संयोगों से जोड़कर नहीं देखा जा सकता। आचार्य कुन्दकुन्द ने तपशील से युक्त और विषय-विष के त्यागी जीव को कुशल कहा है—

“तवसीलमंत कुसली खवंति विसयं विसं व खलं।”

—सीलपाहुड, 24

इसीप्रकार आत्मानुशासन के 7वें और 37वें श्लोक में भी 'कुशल' शब्द का प्रयोग धार्मिक (पारमार्थिक) अर्थ में ही हुआ है।

आचार्य कार्तिकेय स्वामी भी स्पष्ट लिखते हैं—

“जे जिणवयणे कुसला भेयं जाणंति जीवदेहाणं।”

—कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 194

अर्थात् जो जीव शरीर और आत्मा का भेद जानते हैं वे ही कुशल हैं।

महाकवि धनंजय ने 'कुशल' के पर्यायवाची शब्द इसप्रकार गिनाये हैं—

“क्षेमं कल्याणमभयं श्रेयो भद्रं च मंगलम्।

भावुकं भविकं भव्यं कुशलं च शिवं विदुः॥”

—नाममाला, 200

अर्थ— क्षेम, कल्याण, अभय, श्रेय, भद्र, मंगल, भावुक, भविक, भव्य, कुशल और शिव— ये सब पर्यायवाची हैं।

अंत में, आइये, अब 'कुशलता' शब्द का सही अर्थ समझ लेने के बाद हम सभी एक बार पुनः सच्चे मन से अपने आप से पूछें कि क्या हम वास्तव में कुशल हैं? और यदि नहीं तो अपने जीवन में वास्तविक कुशलता प्रकट करने का प्रयत्न करें, परमार्थ से कुशल बनने का उद्यम करें। यदि किसी भाग्यशाली धर्मात्मा के जीवन में ऐसी पारमार्थिक कुशलता प्रकट हो चुकी हो तो वह उस कुशलता को दिन-प्रतिदिन बढ़ाने का प्रयत्न करे। ❖❖

पूजा वीतराग की ही होती है

विश्वप्रसिद्ध भाषावैज्ञानिक सुनीतिकुमार चटर्जी ने लिखा है कि 'पूजा' शब्द मूलतः द्रविड़ के 'पूजे' शब्द से आया है, जिसका अर्थ है कि पू + जे अर्थात् पू = पुष्प (प्रेम, राग) को जे = जीतना। तात्पर्य है कि 'पूजा' शब्द से ही यह सिद्ध होता है कि पूजा वास्तव में उसी की हो सकती है जिसने राग को जीता हो, जो पूर्ण वीतराग हो। जो रागी हो, उसकी परमार्थ से पूजा नहीं हो सकती।

धर्मात्मा सदा ही प्रसन्न रहता है

चित्तप्रसाद या आनन्द भारतीय संस्कृति का सर्वोच्च जीवन मूल्य है, संदेश है। सभी संतों और शास्त्रों का एक मात्र अंतिम कथ्य है— येन-केन प्रकारेण सदा आनन्दित रहो, कभी भी किंचित् भी दुखी मत होओ। दुखी होने से दुःख मिटता नहीं, अपितु बढ़ता है, आगामी दुःख का कारणभूत घोर कर्मबंध भी होता है। दुखी व्यक्ति तत्त्वचिन्तनादि रूप धर्मध्यान भी नहीं कर पाता। यही कारण है कि सभी जैन-ग्रन्थों में यत्र-तत्र-सर्वत्र सदैव प्रसन्न रहने की शिक्षा दी गई है। जरा देखिए—

1. जं चिंतदि साणंदं तं धम्मं उत्तमं ज्ञाणं। —कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 480
2. दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थानान्यसद्वेद्यस्य। —तत्त्वार्थसूत्र, 6/11
3. एकान्ते सामयिकं परिचेतव्या प्रसन्नधिया। —रत्नकरंड श्रावकाचार, 99
4. न हि विषादो विधेयात्र तद्धि वैदुष्यजं फलम्। —पांडवपुराण
5. मनःप्रसाद्यं श्रुतैरमृतैः। —आत्मानुशासन
6. चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम्। —मैत्रायणी आरण्यक 6/34/4
7. प्रसन्नात्मात्मनि स्थित्वा सुखमव्ययमश्नुते। —मैत्रायणी आरण्यक
8. नंदिसम्पन्नोऽहम्। —ध्यानमन्त्र
9. आनन्दो मे वर्षति। —ध्यानमन्त्र
10. तत् ज्ञानं यत् प्रतिसमयमानन्दायते।
11. सदा दिवाली संत के, आठ पहर आनन्द।
12. ज्ञानानंद = ज्ञान वही है जो आनन्द प्रदान करे।
13. ज्ञान समान न आन जगत में सुख को कारन। —छहढाला
14. मोद क्रिया। —आचार्य जिनसेन
15. बाहर नारक कृत दुख भुगते, अंतर सुख रस गटागटी। —दौलतविलास, 81
16. अब मेरे समकित सावन आयो। —भूधरदास
17. अब हम अमर भये न मरेंगे। —द्यानतराय

18. आनन्दमोत बह रहा मन क्यों उदास है? पानी में रहके भी अरे मछली को प्यास है।
 19. होली, दिवाली आदि सभी त्यौहारों का संदेश है— खुश होओ, खुश रहो।
 20. भूत-भविष्य की व्यर्थ कल्पनाओं को भूल जाना चाहिए, वर्तमान में जीना चाहिए।
 भूत-भविष्य की अधिक चिंता व्यर्थ एवं दुखद है। पति-पत्नी का व्यर्थ विवाद—
 डॉक्टर बनाऊँगी, इंजीनियर बनाऊँगा।

भूतकाल सपना, भविष्य काल कल्पना, वर्तमान अपना। अथवा— “शानदार भूत था, भविष्य भी महान है, अगर हम संभाल लें जो कि वर्तमान है।”

अपने नाम, गाँव, शक्ल आदि की हीन भावना भी छोड़ो— चोखो ठनठनपाल।
 सारे कर्तृत्व का बोझा उतार दो— कौन धुनेगा, कौन बनेगा की कहानी।

**चिता चिंता समा उक्ता बिन्दुमात्रविशेषतः।
 सजीवे दहति चिंता, निर्जीव दहति चिता ॥**

अर्थ— चिता और चिंता में बिन्दुमात्र का अन्तर है, पर चिता तो निर्जीव को जलाती है किन्तु चिंता सजीव को ही जला देती है।

हँसो, पर किसी की हँसी मत उड़ाओ— अंधे का पुत्र अंधा। रोग की जड़ खाँसी लड़ाई की जड़ हाँसी। ज्ञानियों की हँसी घोर कर्मबंध का कारण है।

धर्म का अविष्कार हमको खुश करने के लिए ही हुआ था, पर लोगों ने धर्म को भी उदासीनता या दुख का कारण बना लिया— यह बड़े आश्चर्य की बात है।

एक जोकर हजारों को प्रसन्न कर देता है, पर हमारे पास कोई बैठे तो दुखी हो जाए, हमारा कैसा धर्म? होना तो यह चाहिए था कि हमारे पास जो बैठे वह कितना भी दुखी हो, खुश हो जाए।

धर्मात्मा जीव सदा प्रसन्न रहते हैं— इसका एक कारण यह है कि वे सदा सकारात्मक चिन्तन करते हैं, नकारात्मक नहीं। गुण ही देखते हैं, कमी नहीं। देखिए मेरा अन्य लेख— ‘गुण ग्रहण करो’।

सज्जन दूसरे का दुःख दूर करते हैं— केला-सेव-संवाद।

“मत व्यथित हो पुष्प किसको सुख दिया संसार ने, स्वार्थमय सबको बनाया जगत के व्यवहार ने।”

काँटों में गुलाब की तरह खिलो। सब खत्म हो जाए, मात्र दो पैसे ही बचें तो भी एक पैसे का एक गुलाब खरीदो, जो तुम्हें बहुत काँटों में भी खिलने की शिक्षा देगा।

दुःख आये तो उसको भी वरदान समझो— दुःख भी मानव की सम्पत्ति है/
 सुख के ऊपर सिल परो..

संसार का स्वरूप ऐसा ही है। यहाँ लोग व्यर्थ ही एक-दूसरे को दुःख देते

हैं—निष्कारणं वैरिणो जगति ।

दुनिया में कितना गम है, मेरा तो कितना कम है ।

अभिशापों में वरदानों के फूल खिला करते हैं ।

संसार अटवी है— जन्माटवीषु कुटिलासु । अत्यंत अशरण और असार है । इसके लिए पठनीय है मेरा अन्य लेख— ‘जैनाचार निवृत्तिप्रधान है’ ।

संसार में दुःख नहीं है, अपितु संसार दुःखमय ही है—

“अग्रे व्याधः करधृतशरः पार्श्वतो जालमाला ।

पृष्ठे वह्निर्दहति नितरां वामतो सारमेयः॥

एणी गर्भादलसगमना बालकैरुद्धपादा ।

एणी हिरणाद् ब्रवीति दुःखे किं करोमि क्व यामि?”

सीता आदि महान् सतियाँ खूब रोने वाली या दुखी नहीं रहती थीं, यह सब तो कवियों ने कल्पना की है । ❖❖

भक्ति, स्तुति, वन्दना आदि में अन्तर

आराधना के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग होता है और सामान्य अपेक्षा से वे सब समानार्थक भी समझे जा सकते हैं, किन्तु सूक्ष्मता से देखने पर उनमें बहुत अर्थभेद भी दिखाई देता है और हमें उस अर्थभेद को भी भलीभांति समझना चाहिए । यथा—

1. भक्ति— हृदय में होने वाले गुणानुराग को भक्ति कहते हैं । (गुणेष्वनुरागो भक्तिः)
2. स्तुति— गुणों के कथन/कीर्तन को स्तुति कहते हैं । (स्तुतिः पुण्यगुणोत्कीर्तिः)
3. नति/प्रणति— विनयपूर्वक शिर झुकाने का नाम नति/प्रणति है ।
4. वन्दना— भक्तिपूर्वक हाथ जोड़ने का नाम वन्दना है ।
5. पूजा— अर्घ्य समर्पित करने का नाम पूजा है ।
6. आरती— दीपक लेकर गुणानुवाद करना आरती है ।
7. जप/जाप— एक ही पद/मन्त्र को बारम्बार दोहराना जप है ।

इन शब्दों के अर्थभेद को और अधिक स्पष्ट करने के लिए इन्हें निषेध पद्धति से भी समझना उपयोगी होगा । यथा—

भक्ति गुणानुराग के बिना सम्भव नहीं है । स्तुति मुख से बोले बिना संभव नहीं है । शिर झुकाए बिना नति या प्रणति नहीं हो सकती । हाथ जोड़े बिना वन्दना नहीं हो सकती । अर्घ्य समर्पित किये बिना पूजा नहीं हो सकती है । दीपक के साथ गुणानुवाद किये बिना आरती नहीं हो सकती है । एक ही पद/मन्त्र को बारम्बार दोहराए बिना जप नहीं हो सकता है ।

इसी प्रकार के अन्य भी अनेक शब्द हैं, हमें उन सबको ठीक से समझने का प्रयत्न करना चाहिए । यदि इसमें कोई त्रुटि हो तो विद्वज्जन संशोधन करें ।

उपवास का सच्चा स्वरूप

आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने अपने अनुपम ग्रन्थ ‘रत्नकरंड श्रावकाचार’ में श्लोक-संख्या 106 से 110 तक में उपवास का समीचीन स्वरूप स्पष्ट किया है, जो बहुत ही महत्वपूर्ण और सभी के जानने योग्य है। लोग उपवास-उपवास तो बहुत करते रहते हैं, परन्तु ‘उपवास’ का समीचीन स्वरूप प्रायः नहीं समझते हैं, अतः यहाँ उसे यथावत् स्पष्ट करने का प्रयास किया जा रहा है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी के अनुसार उपवास में निम्नलिखित विशेषताएँ अवश्य होनी चाहिए, अन्यथा उसे उपवास नहीं माना जा सकता—

1. उपवास को प्रोषधोपवास कहते हैं, क्योंकि यह अष्टमी-चतुर्दशी की पर्व-तिथियों में किया जाता है।
2. उपवास को अष्टमी-चतुर्दशी की सभी पर्व-तिथियों में करना चाहिए।
3. उपवास में चतुर्विध आहार का त्याग करना आवश्यक है।
4. उपवास के पीछे हमारी भावना/उद्देश्य एकदम पवित्र ही होना चाहिए।
5. इस दिन हिंसादि पाँचों पापों का भी त्याग करना आवश्यक है।
6. उस दिन सजने-सँवरने का भी त्याग करना चाहिए।
7. उस दिन पाँच इन्द्रियों के विषयों का भी त्याग करना चाहिए।
8. उस दिन स्नान-काजल आदि का भी त्याग करना चाहिए।
9. उस दिन उत्साहपूर्वक खूब स्वाध्याय करना-कराना चाहिए।
10. उस दिन निद्रा-आलस्य का भी पूर्णतः त्याग करना चाहिए।
11. उस दिन मात्र ज्ञान-ध्यान में ही तत्पर रहना चाहिए।
12. उस दिन किसी वस्तु का ग्रहण, त्याग, विस्तरण आदि भी बिना देखे-भाले नहीं करना चाहिए।
13. उपवास के प्रति उत्साह में किंचित् भी कमी नहीं आने देना चाहिए।
14. उपवास के विषय में समय, कर्तव्य आदि कुछ भी भूलना नहीं चाहिए।

इससे सिद्ध होता है कि उपवास एक उच्च कोटि की आध्यात्मिक क्रिया है। उसे मात्र शारीरिक या सामाजिक क्रिया समझकर ऊटपटांग करने से उत्तम लाभ नहीं होता है। 'उपवास' का अर्थ आत्मा के समीप वास करना है, जैसा कि शब्द से भी स्पष्ट पता चलता है— उप+वास=उपवास। उप अर्थात् समीप, वास अर्थात् रहना।

पुनश्च, यहाँ निम्नलिखित तथ्य भी ज्ञातव्य हैं—

1. धर्म की हर क्रिया उभय-लोक-सुखकारी होती है, अतः उपवास से भी अनेक प्रकार के लौकिक लाभ होते हैं— इसमें कोई संदेह नहीं है; किन्तु मोक्षार्थी उनकी ओर ध्यान नहीं देता है, यह भी सत्य है।
2. व्रत-उपवास को अपनी शक्ति के अनुसार भी किया जा सकता है, अभ्यास दशा में वह कुछ अतिचारों के साथ भी हो सकता है, परन्तु उत्तम उपवास का स्वरूप तो उक्त प्रकार का ही होता है।

अन्त में, आचार्य समन्तभद्र स्वामी कृत 'रत्नकरंड श्रावकाचार' के वे छह श्लोक मूलतः प्रस्तुत हैं जो ध्यानपूर्वक पठनीय हैं—

पर्वण्यष्टम्यां च ज्ञातव्यः प्रोषधोपवासस्तु ।
 चतुरभ्यवहार्याणां प्रत्याख्यानं सदेच्छाभिः॥ 106 ॥
 पञ्चानां पापानामलंक्रियारम्भगन्धपुष्पाणाम् ।
 स्नानाञ्जननस्यानामुपवासे परिहृतिं कुर्यात् ॥ 107 ॥
 धर्माभूतं सतृष्णः श्रवणाभ्यां पिबतु पाययेद्वान्यान् ।
 ज्ञानध्यानपरो वा भवतूपवसन्नतन्द्रालुः॥ 108 ॥
 चतुराहारविरसनमुपवासः प्रोषधः सकृदभुक्तिः।
 स प्रोषधोपवासो यदुपोष्यारम्भमाचरति ॥ 109 ॥
 गृहणविसर्गास्तरणान्यदृष्टमृष्टान्यनादरास्मरणे ।
 यत्प्रोषधोपवासव्यतिलङ्घनपञ्चकं तदिदम् ॥ 110 ॥ ❖❖

उपवास के लाभ

उपवास करने से शरीर से आसक्ति (मोह) कम होती है। तथा शरीर से आसक्ति कम होती है तो अन्य सर्व स्त्री-पुत्रादि एवं धन-दौलत आदि से भी आसक्ति कम होती है। शरीर ही समस्त आसक्ति का मूल है और उस शरीर से राग कम करने का कठिन कार्य उपवास से सहज हो जाता है।

एक बार राजा भोज ने देव वैद्य अश्विनी कुमार से पूछा— ऐसी औषध बताओ जो सभी रोगों में काम आए, जिसमें धन भी खर्च न हो, जिसे घोटना-पीसना-उबालना भी न पड़े। देव वैद्य ने उत्तर दिया— लंघनं परमौषधम्।

ध्यान का फल

जैन ग्रंथों में ध्यान के विषय को अधिकार-चतुष्टय के माध्यम से समझाया गया है— 1. ध्यान, 2. ध्याता, 3. ध्येय और 4. ध्यानफल। इन सभी में, विवक्षावश, असंख्य आयाम स्पष्ट किये गये हैं, अतः सामान्य जन बड़े भ्रम में पड़ते दिखाई देते हैं। उन्हें समझ में नहीं आ पाता कि कौन सी बात सही है— वह या यह; किन्तु यदि हमें भ्रम-रहित सम्यक ज्ञान करना हो, तो समंतभद्रादि आचार्यों द्वारा प्रदत्त यह कुतुबनुमा (दिशा-बोधक-यंत्र) सदैव अपने पास रखना चाहिए कि जिनवाणी में प्रत्येक कथन मुख्य-गौण-विवक्षा से ही होता है और उस (मुख्य-गौण-विवक्षा) को समझे बिना जिनवाणी के एक भी वाक्य को समझना संभव नहीं है।

ध्यान, ध्याता, ध्येय एवं ध्यानफल— इन चारों के विषय में कही गयी भिन्न-भिन्न विरोधी-सी बातें मुख्य-गौण-विवक्षा का ही परिणाम है। जैसे—

ध्यान तो पूर्ण निर्विकल्प शुद्धोपयोग रूप दशा का ही नाम है, इसमें किसी प्रकार का कोई संदेह नहीं है; किन्तु मन्त्रजाप, पूजा-पाठ आदि कारण को भी कारण कहने की विवक्षा के समान उपचार से ध्यान कहा है। सो ठीक ही है। उदाहरणार्थ— हमें किसी व्यक्ति को मुंबई भेजना था और वह दूरी के डर से जा नहीं रहा था, अतः हमने उससे कहा— नागपुर जाओ। उसका डर कुछ कम हुआ, पर वह नागपुर भी नहीं जा रहा था, अतः उससे फिर कहा— भोपाल तो जाओ। उसका डर और कम हुआ, पर वह भोपाल भी नहीं जा रहा था, अतः उससे कहा— ग्वालियर जाओ, पर वह ग्वालियर भी नहीं जा रहा था, अतः उससे कहा— आगरा या मथुरा तो जाओ, पर वह घर की आसक्ति के कारण आगरा या मथुरा भी नहीं जा पा रहा था। अतः अंत में उससे इतना ही कहा कि— घर से तो बाहर निकलो। यहाँ यद्यपि घर से निकलना मात्र था, मुंबई तो बहुत दूर की बात है, किन्तु वह घर से तो निकला, अब शायद आगे भी बढ़ जाएगा—यही सोचकर उसकी प्रशंसा की जाती है। इसी प्रकार आगरा, ग्वालियर, भोपाल, नागपुर तक चला जाना भी मुंबई जाना नहीं है, पर उनमें मुंबई जाने का अवसर है, उनसे मुंबई पास होती जाती है; अतः इन सबको मुंबई जाना कह देते हैं। इसी प्रकार ध्यान की विविध तर-तम भाववाली निम्न-उच्च दशाओं को भी जिनवाणी में ध्यान ही कह दिया गया है।

इसी प्रकार उत्कृष्ट ध्याता तो उत्तमसंहननधारी महामुनि ही हैं, पर तर-तम भाव

से साधारण श्रावक को भी ध्याता कह देते हैं। जहाँ गृहस्थ के ध्याता होने का निषेध हो, वहाँ उत्कृष्ट ध्याता की विवक्षा है— ऐसा समझ लेना चाहिए।

इसी प्रकार ध्येय तो एक निज आत्म-तत्त्व ही है, परन्तु प्राथमिक दशा की विवक्षा से पंच परमेष्ठी, जिन-प्रतिमा, मन्त्र-वाक्य आदि बहुत-सी चीजों को भी ध्येय कह दिया जाता है।

इस प्रकार सर्वत्र मुख्य-गौण-विवक्षा को घटित करते हुए ध्यान, ध्याता, ध्येय आदि सभी विषयों का निर्भ्रान्त ज्ञान करना चाहिए। प्रस्तुत आलेख में हम ध्यान के फल को भी इसी आगमानुकूल पद्धति से समझने का प्रयास करेंगे।

ध्यान का वास्तविक फल तो मोक्ष है। मोक्ष अर्थात् 'कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः'। दूसरे शब्दों में कहें तो मोक्ष का अर्थ है— कुछ भी नहीं, सबका अभाव, सब कर्मों का अभाव। तात्पर्य यह है कि ध्यान का वास्तविक फल तो ध्यान ही है, अन्य कुछ नहीं; उसी प्रकार जिस प्रकार ज्ञान का पारमार्थिक फल ज्ञान ही माना है—

ज्ञानमेव फलं ज्ञाने ननु श्लाघ्यमनश्वरम्।

अहो मोहस्य माहात्म्यं यदन्यदपि मृग्यते॥ —आत्मानुशासन, 175

ध्यान का फल अन्य कुछ भी मानना अज्ञानता है, मोह का माहात्म्य है। यदि ध्याता को ध्यान से अन्य कुछ फल की इच्छा ही बची रह गयी, तो वह ध्यान किस बात का? सर्व-इच्छाओं के अभाव का नाम ही तो ध्यान है और यही ध्यान का वास्तविक फल है। इच्छा वालों को भी मोक्ष मिलता होता, तो मोक्ष की इच्छा वालों को मोक्ष का अपात्र क्यों माना जाता? यथा—

‘न मोक्षोऽपि मुमुक्षुताम्।’

—समयसार-कलश, 199

‘मोक्षोऽपि यस्य नाकांक्षा स मोक्षमधिगच्छति।’ —स्वरूपसंबोधन, 21

ध्यान के फल की ऐसी स्थिति अत्यंत स्पष्ट होने पर भी शास्त्रों में ध्यान के नाना प्रकार के फल बताये गए हैं— शारीरिक, मानसिक आदि, जो सब प्रायः लौकिक ही हैं। प्रश्न है कि ध्यान का वास्तविक फल कौन सा है— पारमार्थिक या लौकिक?

उत्तर— किन्हीं आचार्यों ने इन दोनों का समन्वय बनाकर बात कही है कि ये दोनों ही ध्यान के फल हैं। यथा—

1. यत्र भावः शिवं दत्ते, द्यौ कियदूरवर्तिनी।

यो नयत्याशु गव्यूतिं, क्रोशार्थं किं स सीदति॥

—इष्टोपदेश 4

2. ॐकारं बिंदुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायंति योगिनः।

कामदं मोक्षदं देवमोकाराय नमो नमः॥

3. धर्म करत संसार सुख, धर्म करत निर्वाण।

4. भुक्ति-मुक्ति दातार, चौबीसों जिनराजवर॥

—चौबीसीपूजा, ध्यानतराय

तथापि प्रश्न तो बना ही रहता है कि एक ध्यान के ऐसे दोनों फल कैसे हो सकते हैं? लौकिक भी और अलौकिक भी? तो इसका उत्तर आचार्यों ने मुख्य-गौण-विवक्षा लगाकर इस प्रकार दिया है कि पारमार्थिक फल तो ध्यान का मुख्य फल है और लौकिक फल ध्यान का गौण फल है।

इस बात को यदि और स्पष्टता से कहना हो तो हम कह सकते हैं कि एक ध्यान का प्रयोजन है और दूसरा ध्यान का फल। ध्यान का प्रयोजन और ध्यान का फल-इन दोनों में बड़ा अन्तर है और उस अन्तर को समझना बहुत आवश्यक है। बहुत लोग उसे नहीं समझ पाते हैं और भूल करते रहते हैं।

ध्यान का प्रयोजन = उद्देश्य।

ध्यान का फल = परिणाम।

जिसके लिए ध्यान किया जाता है, वह ध्यान का प्रयोजन है और जो कुछ ध्यान के परिणाम-स्वरूप स्वतः ही प्राप्त हो जाता है, वह ध्यान का फल है।

उदाहरणार्थ खेती करने पर किसान को दो चीजें मिलती हैं— धान भी और भूसा भी, परन्तु इनमें से धान तो खेती का प्रयोजन है और भूसा खेती का फल। क्योंकि किसान धान के लिए खेती करता है, भूसे के लिए नहीं; भूसा तो उसके साथ स्वतः ही मिल जाता है।

अब यहाँ जरा सोचिए कि यदि कदाचित कोई किसान मात्र भूसे के लिए ही खेती करे तो क्या होगा? उसे धान तो बिलकुल मिलेगा ही नहीं; भूसा भी उत्तम और वैसा (quality & quantity) नहीं मिलेगा। अतः सभी समझदार किसान धान के लिए ही खेती करते हैं, भूसे के लिए खेती कोई भी किसान नहीं करता।

उसी प्रकार सभी समझदार (सम्यग्दृष्टि) ध्याता पारमार्थिक फल, जिसे हमने ऊपर 'प्रयोजन' की संज्ञा दी है, उसके लिए ही ध्यान करता है। कोई भी ध्याता लौकिक फलों के लिए ध्यान नहीं करता। यदि कदाचित करे तो उसे लौकिक फल भी उतना और वैसा नहीं प्राप्त होगा। तथा वह विवेकी ध्याता भी नहीं कहा जा सकेगा, अविवेकी ध्याता ही कहलायेगा।

अतः आचार्यों ने शास्त्रों में ध्यान के विविध लौकिक फलों को बताया तो है, पर उन्हें चाहने या उनके लिए ध्यान करने का सख्त निषेध भी किया है। यथा—

‘इतश्चिन्तामणिर्दिव्य इतः पिण्याकखण्डकम् ।

ध्यानेन चेदुभे लभ्ये, क्वाद्वियन्तां विवेकिनः॥’

—इष्टोपदेश, 20

अर्थात्— एक ओर दिव्य चिन्तामणि है और दूसरी ओर खली का टुकड़ा; ध्यान के द्वारा जब ये दोनों ही मिल सकते हैं तो बताओ, विवेकी जीव किसे चाहेंगे?

दरअसल कुछ भी चाहने से सारी बात खराब हो जाती है, उलटी हो जाती है,

लोक में भी चाहने को बुरा कहा जाता है— ‘बिन माँगे मोती मिले, माँगे मिले न भीख।’

पं. टोडरमलजी ने भी मोक्षमार्गप्रकाशक में लौकिक फल को बताकर उसे चाहने का स्पष्ट शब्दों में निषेध किया है, जो वहाँ पृष्ठ 10-11 पर मूलतः पठनीय है। तथापि उसकी निष्कर्षभूत दो पंक्तियाँ यहाँ प्रस्तुत की जाती हैं—

“बहुरि इस (लौकिक) प्रयोजन के अर्थ अरिहंतादि की भक्ति किए तीव्र कषाय होने तैं पाप-बन्ध ही हो है, तातैं आपको इस प्रयोजन का अर्थि होना योग्य नाहीं। अरिहंतादि की भक्ति करने तैं ऐसे प्रयोजन तो स्वयमेव सधैं हैं।”

इस प्रकार हम देखते हैं कि मुख्य-गौण-विवक्षा का कुतुबनुमा हाथ में लेकर हम आगम-महासागर को आसानी से पार कर सकते हैं। ❖❖

मध्यकालीन हिन्दी सन्त कवियों पर जैन ध्यान का प्रभाव

‘प्रथमहि ध्यान पदस्थ है, दुतिये पिण्ड अधीन।
त्रितिय ध्यान रूपस्थ पुनि, चतुर्थ रूपातीत॥’

—सुन्दरदास-ग्रन्थावली, भाग 1, पृष्ठ 53

‘ध्यान जु चार प्रकार के, कहूँ जु उनकी रीति।
पदस्थ पिंड रूपस्थ है, चौथा रूपातीत॥’

—चरणदास, भक्तिसागर, पृष्ठ 96

‘ध्याता ध्येय कैसे मिले, होय न बिच में ध्यान।
तीनों एक हुए बिना, लहै न पद निरवान॥’

—चरणदास की बानी, भाग 1, पृष्ठ 15

चरणानुयोग के उपदेश का विधान

एक भील था। उसने एक बार एक मुनिराज के उपदेश से कबूतर के मांस का त्याग कर दिया।

थोड़े ही दिन बाद एक दिन उसे विचार आया कि मैं कबूतर को नहीं मारता हूँ, फिर इस तोते ने मेरा क्या बिगाड़ा है जो मैं इसे मारता हूँ, यह तो अन्याय है और उसने तोता मारना भी छोड़ दिया।

थोड़े दिन बाद एक दिन उसे फिर से विचार आया कि मैं कबूतर और तोते को नहीं मारता हूँ, फिर इस चिड़िया ने मेरा क्या बिगाड़ा है जो मैं इसे मारता हूँ, यह तो अन्याय है और उसने चिड़िया मारना भी छोड़ दिया।

इस प्रकार एक दिन उसने सभी जीवों को मारना-खाना छोड़ दिया।

यही है चरणानुयोग के उपदेश का विधान।

परिषहों के प्रति जैन श्रमणों का आध्यात्मिक दृष्टिकोण

जैन श्रमण उच्च कोटि के आध्यात्मिक संत होते हैं। वेदों, उपनिषदों व पुराणों तक में उन्हें बारम्बार ‘अध्यात्मविद्या-विशारद’ कहा है—

“श्रमणाः वातरशनाः अध्यात्मविद्याविशारदाः।”

—भागवतपुराण, 11/2/20

जैन श्रमण अध्यात्मविद्या के बल पर सदैव साम्य भाव की आराधना करते हैं और निरन्तर उसी साम्य भाव को बढ़ाने का अभ्यास करते हैं, क्योंकि साम्य भाव ही सच्चा धर्म है, सच्चा चारित्र है, जैसा कि आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार गाथा 8 में कहा है। यथा—

“चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समो त्ति णिद्धिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो हु समो॥”

—आचार्य कुन्दकुन्द, प्रवचनसार, 8

मोक्षमार्ग में समताभाव का बड़ा महत्त्व है। आचार्य पूज्यपाद ने इष्टोपदेश में बंध और मुक्ति का एकमात्र कारण क्रमशः ममता और समता को कहा है। यथा—

“बध्यते मुच्यते जीवः, सममो निर्ममः क्रमात्।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन, निर्ममत्वं विचिन्तयेत्॥”

—आचार्य पूज्यपाद, इष्टोपदेश, 26

जैन श्रमण इसी समता भाव की वृद्धि के लिए शत्रु-मित्र, सुख-दुःख, निंदा-प्रशंसा, महल-श्मशान आदि उन सब स्थितियों में समताभाव रखने का अभ्यास करते हैं जिनमें दुनिया के सामान्य प्राणी निरन्तर हर्ष-विषाद करते रहते हैं। यथा—

“समसत्तुबंधुवग्णो, समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो।
समलोद्वकंचणो पुण, जीवदमरणे समो समणो॥”

—आचार्य कुन्दकुन्द, प्रवचनसार, 241

इसी क्रम में वे नाना प्रकार के दुःखों को भी शांतिपूर्वक सहन करने का अभ्यास

करते हैं और आत्मनिरीक्षण करते हैं कि उनका समताभाव बढ़ रहा है या नहीं।

ध्यान रहे दुःख सहना उनका उद्देश्य नहीं होता है, उनका उद्देश्य तो अपने समताभाव को बढ़ाना होता है। दुःखों के पास वे जानबूझकर भी इसीलिए जाते हैं क्योंकि वे अपने समताभाव को चेक करना चाहते हैं। अनुकूलता में तो सभी शांत रहते हैं, उसमें क्या? वे तो यह देखना चाहते हैं कि प्रतिकूलता आने पर शांति रहती है या नहीं। देखा गया है कि सदा अनुकूलताओं में रहने वाले लोग जरा-सी भी प्रतिकूलता आने पर मार्गच्युत हो जाते हैं। इसीलिए शास्त्रों में यत्र-तत्र दुःख सहने का उपदेश दिया गया है। यथा—

“अदुःखभावितं ज्ञानं, क्षीयते दुःखसन्निधौ।
तस्मात् यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेत् मुनिः॥”

—आचार्य पूज्यपाद, समाधितन्त्र, 102

दुःख सहने अथवा विपरीत परिस्थिति में भी समता भाव रखने के इस क्रम में तीन प्रकार की स्थितियाँ बनती हैं जिन्हें शास्त्रों में उपसर्ग, परिषह और कायक्लेश नामों से अलग-अलग भी समझाया गया है और कहा गया है कि जैन श्रमण तीन प्रकार का तप करते हैं—

1. उपसर्ग— जब किसी अन्य के द्वारा विषम स्थिति उत्पन्न की जाती है।
2. परिषह— जब वह प्राकृतिक रूप से सहज आ जाती है।
3. कायक्लेश— जिसे साधु स्वयं स्वीकार करते हैं।

उक्त तीनों ही एक अपेक्षा से ‘परिषह’ शब्द में गर्भित हो जाते हैं, अतः शास्त्रों में सर्वत्र इन तीनों को पृथक-पृथक न समझाकर यही उपदेश बार-बार दिया है कि जैन श्रमणों को मोक्षमार्ग की स्थिरता और कर्मों की निर्जरा के लिए परिषह सहना चाहिए। यथा—

“मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्या परिषहाः।” —तत्त्वार्थसूत्र 9/8

यहाँ सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि जैन श्रमण उक्त तीनों को कोई जबरदस्ती या किसी नरक-स्वर्ग की भय-आशा के बल पर नहीं सहन करते हैं, अपितु एकदम विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टिकोण से ही सहन करते हैं। यही कारण है कि शास्त्रों में इसे उपसर्गजय, परिषहजय आदि कहा है। जय अर्थात् उन पर विजय प्राप्त करना, उससे पराजित न होना, संक्लेश-रहित रहना। यथा—

“दुःखोपनिपाते संक्लेशरहिता परिषहजयः।”

—भगवती आराधना, टीका 1171

इसीप्रकार का भाव सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक आदि अन्य ग्रंथों में भी प्रकट किया गया है। ‘योगशास्त्रवृत्ति’ का यह कथन पठनीय है—

“क्षुधार्तः शक्तिभाक् साधुरेषणां नातिलंघयेत्।
अदीनो विह्वलो विद्वान् यात्रामात्रोद्यतश्चरेत् ॥”

—अभिधान-राजेन्द्र-कोश 5/648

इससे सिद्ध होता है कि जैन श्रमण दुखों/परिषहों को भय-आशा आदि अन्य किसी भी कारण से नहीं अपितु मात्र अपनी अध्यात्म-विद्या के बल पर ही सहन करते हैं। परिषहों को सहने का प्रयोजन भी तत्त्वार्थसूत्र आदि सभी ग्रंथों में मोक्षमार्ग में स्थिरता और कर्मों की निर्जरा कहा है, जैसा कि ऊपर भी प्रमाण दिया जा चुका है—

“मार्गाच्च्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्या परिषहाः।” —तत्त्वार्थसूत्र 9/8

सबसे बड़ी विशेषता यही है कि जैन श्रमण दुःखों को सहते नहीं, जीतते हैं। दुःखों को सहना बड़ी बात नहीं है, उन्हें जीतना बड़ी बात है। सहने और जीतने में बड़ा अंतर है। संसार के सभी प्राणी सहते हैं, पर जैन श्रमण जीतते हैं। किसी मजबूरी में या क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के वशीभूत होकर भी बहुत लोग दुःख, परिषह सहते हैं, पर वह सहना ही है, जीतना नहीं। जीतना तो अध्यात्मविद्या अर्थात् आत्मा के आश्रय से ही हो सकता है।

यही कारण है कि जब भी कोई परिषह आता है तो जैन श्रमण सबसे पहले तो कछुए की भांति अपने उपयोग को अपने में ही समेट कर आत्मलीन होने का प्रयास करते हैं। बाहर क्या परिषह या उपसर्ग हो रहा है —इसका जरा ध्यान तक नहीं रखते। यही सच्चा परिषहजय है। इसी से कर्मों की विशेष निर्जरा होती है। यथा—

“परिषहाद्यविज्ञानादास्रवस्य निरोधिनी।
जायतेऽध्यात्मयोगेन कर्मणामाशु निर्जरा ॥”

—आचार्य पूज्यपाद, इष्टोपदेश, 24

यदि कदाचित् वे अपनी आत्मा में पूरी तरह लीन न हो पायें तो उच्च कोटि का आध्यात्मिक चिन्तन करते हैं। यह भी सच्चा परिषहजय है। इससे भी असंख्य कर्मों की निर्जरा होती है।

ये परिषह 22 बताये गये हैं जिनके नाम इसप्रकार हैं—

- | | | | | |
|-----------------|----------------|------------|----------------------|--------------|
| 1. क्षुधा, | 2. तृषा, | 3. शीत, | 4. उष्ण, | 5. दंशमशक, |
| 6. गन्गता/अचेल, | 7. अरति, | 8. स्त्री, | 9. चर्या, | 10. निषद्या, |
| 11. शय्या, | 12. आक्रोश, | 13. वध, | 14. याचना, | 15. अलाभ, |
| 16. रोग, | 17. तृणस्पर्श, | 18. मल | 19. सत्कार-पुरस्कार, | 20. प्रज्ञा, |
| 21. अज्ञान, | 22. अदर्शन | | | |

यहाँ संक्षेप में इन सभी परिषदों को जैन श्रमणों के आध्यात्मिक दृष्टिकोण के साथ समझने का प्रयास करते हैं। यदि इसे विस्तार से समझना हो तो मूलाचार, भगवती आराधना, पार्श्वपुराण आदि ग्रंथों का अध्ययन करना चाहिए। यथा—

1. क्षुधा— निर्दोष निरन्तराय आहार के न मिलने पर जब तीव्र क्षुधा वेदना होती है तो जैन श्रमण किंचित् भी दुखी नहीं होते और चिंतन करते हैं कि इस भोजन के न मिलने से मेरा कुछ नहीं बिगड़ता, मैं तो ज्ञानामृतभोजी हूँ। यही क्षुधा परिषहजय है।

2. तृषा— तेज गर्मी हो फिर भी जल तक के न मिलने पर जब तीव्र तृषा वेदना होती है तो जैन श्रमण उससे किंचित् भी दुखी नहीं होते और चिंतन करते हैं कि इस जल के न मिलने से मेरा कुछ नहीं बिगड़ता, मैं तो ज्ञानामृत पीने वाला हूँ। यही तृषा परिषहजय है।

3. शीत— जब बहुत तेज सर्दी पड़ती है तो जैन श्रमण उससे किंचित् भी दुखी नहीं होते और चिंतन करते हैं कि इससे मेरा कुछ नहीं बिगड़ता, मैं तो शरीर से भिन्न ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ। यही शीत परिषहजय है।

4. उष्ण— जब बहुत तेज गर्मी पड़ती है तो जैन श्रमण उससे किंचित् भी दुखी नहीं होते और चिंतन करते हैं कि इससे मेरा कुछ नहीं बिगड़ता, मैं तो शरीर से भिन्न ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ। यही उष्ण परिषहजय है।

5. दंशमशक— जब कोई मच्छर आदि काटते हैं तो जैन श्रमण उससे किंचित् भी दुखी नहीं होते और चिंतन करते हैं कि इससे मेरा कुछ नहीं बिगड़ता, मैं तो शरीर से भिन्न ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ। यही दंशमशक परिषहजय है।

6. नग्नता/अचेल— जैन श्रमण वस्त्र रहित नग्न रहते हुए भी उससे किंचित् भी दुखी नहीं होते और चिंतन करते हैं कि मैं तो वस्त्र क्या, शरीर से भी भिन्न ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ। यही नग्नता/अचेल परिषहजय है।

7. अरति— जैन श्रमण अप्रिय स्पर्श, रस, गंध, वर्णादि को भी वीतराग भाव से मात्र जानते-देखते हैं, उसमें अरति नहीं करते। यही अरति परिषहजय है।

8. स्त्री— कोई स्त्री काम भाव से कितना ही उत्तेजित करने की कोशिश करे, किन्तु जैन श्रमण स्वयं में काम भाव उत्पन्न नहीं होने देते। यही स्त्री परिषहजय है।

9. चर्या— जैन श्रमण बिना यान, बिना जूते-चप्पल पूरे जीवन पद-विहार आदि की चर्या करते हुए भी कभी भी किंचित् भी खेद-खिन्न नहीं होते। यही चर्या परिषहजय है।

10. निषद्या— जैन श्रमण कितना भी उपसर्ग आये, पर अपने संकल्पित आसन

से नहीं डिगते तथा पद्मासन, खड्गासन आदि करते हुए भी कभी भी किंचित् भी खेद-खिन्न नहीं होते। यही निषद्या परिषहजय है।

11. शय्या— जैन श्रमण वन में भूमि, शिला, पर्वत आदि कठोर स्थानों पर आगमोक्त विधि से शयन करते हुए भी कभी खेद-खिन्न नहीं होते। यही शय्या परिषहजय है।

12. आक्रोश— जैन श्रमण प्रतिकार करने में समर्थ होते हुए भी किसी के कठोर वचन सुनते हुए भी पूर्ण शांत रहते हैं, कभी खेद-खिन्न नहीं होते। यही आक्रोश परिषहजय है।

13. वध— इसी प्रकार किसी के मारने-पीटने पर भी जैन श्रमण अपने मन में कभी किंचित् भी खेद-खिन्न नहीं होते। यही वध परिषहजय है।

14. याचना— जैन श्रमण जीवन भर आहार हेतु भिक्षा याचना करते हुए भी अपने मन में कभी किंचित् भी खेद-खिन्न नहीं होते। अथवा वे कभी भी आहार हेतु याचना नहीं करते। यही याचना परिषहजय है।

15. अलाभ— आहार का लाभ न होने पर भी जैन श्रमण कभी भी किंचित् भी खेद-खिन्न नहीं होते, अपने अनंत शक्तिशाली स्वभाव का स्मरण करते हैं। यही अलाभ परिषहजय है।

16. रोग— पूर्व कर्म के उदय से यदि रोग हो जाये तो भी जैन श्रमण कभी किंचित् भी खेद-खिन्न नहीं होते। वे चिन्तन करते हैं कि शरीर तो व्याधि-मंदिर ही है, पर मैं तो उससे अत्यंत भिन्न ज्ञान-मंदिर आत्मा हूँ। यही रोग परिषहजय है।

17. तृणस्पर्श— उबड़-खाबड़ कांटेदार मार्ग में चलते हुए भी अथवा शरीर के अंगों, उपांगों में तृणस्पर्श से होने वाली खुजली आदि समस्याओं के होने पर भी जैन श्रमण कभी किंचित् भी खेद-खिन्न नहीं होते। यही तृणस्पर्श परिषहजय है।

18. मल— स्नान न करने और आंधी, वर्षा आदि के कारण शरीर गन्दा हो जाता है तो भी जैन श्रमण कभी किंचित् भी खेद-खिन्न नहीं होते, अपने निर्मल ज्ञानस्वभावी आत्मा का स्मरण करते हैं। यही मल परिषहजय है।

19. सत्कार-पुरस्कार— यदि लोक में बहुत प्रशंसा हो, सारी दुनिया भी उनका सत्कार करने लगे तो भी जैन श्रमण कभी किंचित् भी मन में अभिमान रूप प्रसन्नता का अनुभव नहीं करते। यही सत्कार-पुरस्कार परिषहजय है।

20. प्रज्ञा— यदि कदाचित् बुद्धि का विकास बहुत हो जाये तो भी जैन श्रमण कभी उसका अहंकार नहीं करते, अपने सहज ज्ञान स्वभाव का स्मरण करते हैं। यही प्रज्ञा परिषहजय है।

21. अज्ञान— यदि कदाचित् पूर्व कर्म के उदय से ज्ञान बहुत कम ही बना रहे तो भी जैन श्रमण किंचित् भी खेद-खिन्न नहीं होते, अपने सहज ज्ञान स्वभाव का स्मरण करते हैं। यही अज्ञान परिषहजय है।

22. अदर्शन— बहुत तप करने पर भी यदि पूर्व कर्म के उदय से कोई ऋद्धि आदि प्रकट न हो तो भी जैन श्रमण कभी किंचित् भी खेद-खिन्न नहीं होते, अपने सहज ज्ञान स्वभाव का स्मरण करते हैं। यही अदर्शन परिषहजय है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि जैन श्रमणों की योग-साधना को समझने के लिए परिषह की अवधारणा को समझना अत्यंत आवश्यक है।

बाईस परिषहों का मर्मस्पर्शी वर्णन हिंदी महाकवि पं. भूधरदास ने अपनी अनुपम कृति ‘पार्श्वपुराण’ में भी किया है, जो बहुत विख्यात और पठनीय है।

बाईस परिषहों का वर्णन जैन श्रमणों की अपार सहिष्णुता, साथ ही करुणाशीलता को भी व्यक्त करते हैं जिससे ‘गुरु ग्रन्थ साहिब’ का यह कथन याद आ जाता है कि—

“दइया दिगम्बरु देह विचारी, आप मरै अवरा नहिं मारी।”

अर्थ— दया का उत्कृष्ट रूप दिगम्बर मुनियों में है जो कि वे स्वयं तो मर सकते हैं पर किसी भी अन्य जीव को कदापि नहीं मारते।

बाईस परिषहों का वर्णन सुनकर श्रावकों को भी अपने जीवन में, विशेषकर सामायिक के काल में परिषहजयी बनने का अभ्यास करना चाहिए। ऐसा आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने भी रत्नकरंड श्रावकाचार श्लोक 103 में कहा है।



क्या जैन साधक शरीर को कष्ट देते हैं?

कुछ लोग कहते हैं कि जैन साधक शरीर को कष्ट देते हैं, परन्तु ऐसा बिल्कुल नहीं है। शरीर को कष्ट तो वास्तव में अज्ञानी असंयमी जीव देते हैं। वे ही उसे असंयमित आहार-विहारादि के द्वारा बड़ा कष्ट देते हैं। उनके इस व्यवहार से शरीर आये दिन रोगी-शोकी श्रान्त-क्लान्त बना रहता है। ज्ञानी संयमी साधक तो उचित आहार-विहार आदि द्वारा शरीर के साथ ऐसा व्यवहार करते हैं कि वह जीवनभर अच्छा रहता है, स्वस्थ नीरोग रहता है, दीर्घकाल तक कभी किसी प्रकार की औषध की आवश्यकता न पड़े— ऐसा रहता है। जैन साधक तो शरीर को मोक्षमार्ग की साधना में उपयोगी मानकर उसका बड़ा ध्यान रखते हैं। वे उसे कष्ट कैसे दे सकते हैं? उसके प्रति बुरा व्यवहार कैसे कर सकते हैं? वे तो उसे ‘देह-देवालय’ जैसी उपमा से सम्बोधित करते हैं।

द्रव्यानुयोग में श्रावकाचार

श्रावकाचार यद्यपि चरणानुयोग का विषय हैं, परन्तु यहाँ ‘द्रव्यानुयोग में श्रावकाचार’ —इस विषय पर विचार किया जा रहा है। यह ऊपर से देखने पर कुछ अटपटा अवश्य लगता है, पर वस्तुतः इसमें अटपटा कुछ भी नहीं है, अपितु एक गम्भीर अर्थ निहित है; क्योंकि द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक के बिना दूसरा अपूर्ण है। आचार्यों ने अनेक स्थानों पर इन दोनों अनुयोगों की परस्पर तीव्र मैत्री का उल्लेख भी किया है¹ और बल देकर कहा है कि मोक्षार्थी को द्रव्य के अविरुद्ध चरण का और चरण के अविरुद्ध द्रव्य का आचरण करना चाहिए। प्रमाणस्वरूप ‘प्रवचनसार’ की आचार्य अमृतचन्द्र कृत टीका ‘तत्त्वप्रदीपिका’ के निम्नलिखित दो श्लोक विशेष ध्यानपूर्वक पठनीय हैं—

“द्रव्यानुसारि चरणं चरणानुसारि,
द्रव्यं मिथो द्वयमिदं ननु सव्यपेक्षम् ।
तस्मान्मुमुक्षुरधिरोहतु मोक्षमार्गं,
द्रव्यं प्रतीत्य यदि वा चरणं प्रतीत्य ॥”²

अर्थात् चरण द्रव्यानुसार होता है और द्रव्य चरणानुसार होता है। वास्तव में वे दोनों परस्पर सापेक्ष हैं। इसलिए मुमुक्षु द्रव्य और चरण में से किसी का भी आश्रय लेकर मोक्षमार्ग में आरोहण करे।

“द्रव्य सिद्धौ चरणस्य सिद्धिः,
द्रव्यस्य सिद्धिश्चरणस्य सिद्धौ ।
बुद्धवेति कर्माविरताः परेऽपि,
द्रव्याविरुद्धं चरणं चरन्तु ॥”³

अर्थात् द्रव्य की सिद्धि में चरण की सिद्धि है और चरण की सिद्धि में द्रव्य की सिद्धि है, अतः इसे भलीभाँति जानकर कर्मों से अविरतजन भी द्रव्य से अविरुद्ध चरण (चारित्र) का आचरण करो।

परन्तु यह जीव अनादिकाल से बहिरात्मा है। इसकी दृष्टि बाह्य क्रिया पर तो सदा रहती है, किन्तु तदनुरूप अंतरंग परिणामशुद्धि को यह नहीं समझ पाता और

यथा-तथा बाह्य क्रिया का पालन कर स्वयं को मोक्षमार्गी समझकर संतुष्ट हो जाता है। अतः आचार्यों ने बाह्य क्रिया को गौण करके अंतरंग परिणामशुद्धि पर बहुत बल दिया है। कहा है कि बाह्य क्रिया तो साधनमात्र है, साध्य तो अंतरंग परिणामशुद्धि ही है। यदि वह अंतरंग परिणामशुद्धि नहीं हुई तो तेरी सर्व बाह्य क्रिया निरर्थक है।

आचार्यों ने द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग के इस घनिष्ठ सम्बन्ध को ही अधिकाधिक स्पष्ट करने लिए सभी प्रकार के चारित्र के दो मूल भेद किये हैं— निश्चयचारित्र और व्यवहारचारित्र अथवा— द्रव्यचारित्र और भावचारित्र। यही कारण है कि यह दृष्टि समस्त पापों और व्रतों पर भी घटित होती देखी जाती है। यथा— निश्चयहिंसा और व्यवहारहिंसा, अथवा द्रव्यहिंसा और भावहिंसा; निश्चयब्रह्मचर्य और व्यवहारब्रह्मचर्य, अथवा द्रव्यब्रह्मचर्य और भावब्रह्मचर्य; निश्चयसामायिक और व्यवहारसामायिक, अथवा द्रव्यसामायिक और भावसामायिक; निश्चयप्रतिक्रमण और व्यवहारप्रतिक्रमण, अथवा द्रव्यप्रतिक्रमण और भावप्रतिक्रमण; निश्चयपूजा और व्यवहारपूजा, अथवा द्रव्यपूजा और भावपूजा; इत्यादि। उक्त सभी युगल परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं। एक के बिना दूसरा नहीं होता।

अतएव मोक्षार्थी को द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग के अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध को भलीभाँति समझना चाहिए और अपने आचरण को तभी शास्त्रसम्मत मानना चाहिए, जब वह दोनों अनुयोगों के अविरुद्ध हो।

द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग की ऐसी अत्यन्त घनिष्ठ मैत्री होने पर भी चरणानुयोग में बाह्य क्रिया की मुख्यता से ही सर्व कथन किये जाते हैं और द्रव्यानुयोग में अन्तरंग परिणामशुद्धि की मुख्यता से ही सर्व कथन किये जाते हैं। जीव अनेक प्रकार के हैं; अतः दोनों ही पद्धतियों की बड़ी उपयोगिता है। जो जीव बाह्य क्रिया के बिना परिणाम शुद्ध करने की असफल कोशिश कर-कर के थक गये हैं उन्हें चरणानुयोग की सहायता लेनी चाहिए और जो जीव कोरी बाह्य क्रिया कर मोक्षगमन का कभी साकार न होनेवाला स्वप्न देख रहे हैं उन्हें द्रव्यानुयोग की सहायता लेनी चाहिए।

यहाँ हमारा विचारणीय विषय 'द्रव्यानुयोग में श्रावकाचार' है। द्रव्यानुयोग में श्रावकाचार को समझते हुए ऊपर स्पष्ट की गई द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग की परस्पर तीव्र मैत्री को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए, अन्यथा भटकने की बड़ी सम्भावना है। द्रव्यानुयोग में बाह्य क्रिया को गौण करके अंतरंग परिणामशुद्धि की मुख्यता से ही सर्व कथन किये जाते हैं अतः परिणामशुद्धि ही द्रव्यानुयोग का असली श्रावकाचार है। यथा—

“मनःशुद्ध्यैव शुद्धिः स्याद्देहिनां नात्र संशयः।

वृथा तद्व्यतिरेकेण कायस्यैव कदर्थनम्॥”⁴

अर्थात् मनशुद्धि से ही जीव के वास्तव में शुद्धता होती है —इसमें कोई संदेह

नहीं है, क्योंकि उसके बिना केवल काया को ही व्यर्थ क्लेश देना है।

इसी प्रकार मुनिराज योगीन्दुदेव भी परमात्मप्रकाश में कहते हैं—

“वंदिउ णिंदउ पडिकमउ, भाव असुद्धउ जासु।

पर तसु संजमु अत्थि णवि, जं मनसुद्धि ण तासु ॥”⁵

अर्थात् वन्दना करो, निन्दा (आलोचनादि) करो, प्रतिक्रमण करो; लेकिन जिसके भाव अशुद्ध हैं, मनशुद्धि नहीं है, उसके कदापि संयम नहीं है।

इसीप्रकार ‘मूलाचार’ की यह गाथा भी इस सन्दर्भ में विशेष पठनीय है—

“भावविरदो दु विरदो ण दव्वविरदस्य सुगई होदि।

विसयवणरमणलोलो दंतव्वो तेण महाहत्थी ॥”⁶

अर्थात् जो भाव से विरक्त है वही वास्तव में विरक्त है। केवल द्रव्य से विरक्त की सद्गति नहीं होती। अतः विषयवन में लंपट ऐसे मनरूपी हाथी को वश में करना चाहिए।

इसी प्रकार के और भी अनेकानेक कथन उद्धृत किये जा सकते हैं, जिन्हें समझकर हमें परिणामशुद्धि का महत्त्व समझना चाहिए। परिणामशुद्धि ही वास्तव में द्रव्यानुयोग का श्रावकाचार है। तथा इससे भी आगे बढ़ें, तो परिणामशुद्धि का आधार भी दर्शनशुद्धि, अभिप्रायशुद्धि या श्रद्धाशुद्धि है, अतः कहा जा सकता है कि दर्शनशुद्धि ही वास्तव में द्रव्यानुयोग का श्रावकाचार है।

पाद-टिप्पणी-

1. समयसार की आत्मख्याति टीका, कलश 267
2. प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका, कलश 11
3. प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका, कलश 12
4. ज्ञानार्णव, अधिकार 22, श्लोक 14
5. परमात्मप्रकाश, अधिकार 2, दूहा 66
6. मूलाचार, गाथा 995



क्या जैनधर्म में कृषि का निषेध है?

कुछ लोग कह देते हैं कि जैन धर्म में कृषि करने का निषेध है, परन्तु ऐसा नहीं है। जैन शास्त्रों में श्रावक को स्व.पर हित के लिए कृषि करने का स्पष्ट उपदेश दिया है, जैसा कि प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने भी दिया था। हाँ, साधुओं को कृषि करने का निषेध है, क्योंकि वे सर्व आरंभ.परिग्रह से रहित होते हैं। उच्चकोटि का श्रावक भी कृषि से विरत रह सकता है, पर पूरे जैन धर्म में ही कृषि का सर्वथा निषेध किया है— ऐसा भ्रम नहीं पालना चाहिए। इसी प्रकार श्रावक को सेना आदि में जाने का भी निषेध नहीं समझना चाहिए।

जैनाचार निवृत्तिप्रधान है

वैसे तो जैनाचार में भी प्रवृत्ति का बहुत उपदेश देखा जाता है, परन्तु वस्तुतः वह निवृत्तिप्रधान ही है, प्रवृत्तिप्रधान नहीं, जैसा कि ‘धवला’ में स्पष्ट कहा है—

“जिनेन्द्रदेवस्य उपदेशो निवृत्तिरूप एव विद्यते।” —धवला 1/1/13

अर्थ— जिनेन्द्रदेव का उपदेश निवृत्तिरूप ही है।

ध्यान देने की बात है कि यहाँ ‘एव’ (अर्थात् ‘ही’) शब्द का प्रयोग करके इस बात को दृढ़तापूर्वक कहा गया है कि जिनेन्द्रदेव का उपदेश निवृत्तिरूप ही है। इसी प्रकार की बात अन्यत्र भी अनेक जैनग्रन्थों में आई है। समयसार में तो पूर्ण नैष्कर्म्य सिद्धि का उपदेश दिया ही गया है, आत्मानुशासन श्लोक 236 में आचार्य गुणभद्र ने भी स्पष्ट शब्दों में सबको निवृत्ति की भावना का उपदेश दिया है। यथा— **निवृत्तिं भावयेद्** अर्थात् सदा निवृत्ति की भावना करो। इसी प्रकार के और भी अनेक सन्दर्भ यहाँ उद्धृत किये जा सकते हैं।

दरअसल जैन आचार्य जब पूर्ण निवृत्ति न होती दिखे तो मजबूरी में प्रवृत्ति का उपदेश देते हैं और उनका वह प्रवृत्ति का उपदेश भी वस्तुतः निवृत्ति के लिए ही होता है, प्रवृत्ति के लिए नहीं। जिसप्रकार कि बच्चे का गड़लिया उसे स्वावलम्बन से चलना सिखाने के लिए ही होता है, शोभा नहीं होता है— **‘हंत हस्तावलम्बः’**—समयसारकलश, 5

यही कारण है कि जैन आचार्य कभी यह नहीं कहते कि दिन में भोजन करो, बल्कि यह कहते हैं कि रात्रि में भोजन मत करो। अथवा— वे यह तो कहते हैं कि ये-ये वस्तुएँ अभक्ष्य हैं, पर यह नहीं कहते कि ये-ये वस्तुएँ भक्ष्य हैं।

धर्म की प्रायः प्रत्येक क्रिया में दो पक्ष होते हैं— एक प्रवृत्तिरूप और दूसरा निवृत्तिरूप। इनमें वस्तुतः निवृत्ति पक्ष ही जैनाचार का असली उद्देश्य है, प्रवृत्ति पक्ष नहीं। जैसे कि— एकाशन करना। इसमें दिन में एक बार भोजन किया जाता है, किन्तु वस्तुतः एक बार भोजन करने का नाम संयम-तप नहीं है, अपितु उस एक बार के अतिरिक्त जो बार-बार भोजन करने का त्याग किया गया है, वही संयम-तप है। इसी प्रकार सभी क्रियाओं में समझना चाहिए।

जैनाचार में जब चार हाथ देखकर चलनेरूप ईर्या समिति का उपदेश दिया

जाता है अथवा हित-मित-प्रिय बोलने रूप भाषा समिति का उपदेश दिया जाता है तो वस्तुतः उसका उद्देश्य चलाना या बुलवाना नहीं है, अपितु अनर्गल रीति से चलना-बोलना छुड़वाना है। इससे सिद्ध होता है कि जैनाचार वस्तुतः निवृत्तिप्रधान है।

जैनाचार्यों के अनुसार वस्तुतः वही प्रवृत्ति प्रशंसनीय है जो निवृत्ति का हेतु हो। वही विकल्प प्रशंसनीय है जो निर्विकल्प होने का हेतु हो। वही जन्म प्रशंसनीय है जो जन्मरहित होने का हेतु हो। वही वचन प्रशंसनीय है जो वचनातीत होने का हेतु हो। वही परोपकार प्रशंसनीय है जो स्वोपकार का भी हेतु हो। वही दान प्रशंसनीय है जो त्याग का हेतु हो। वही गृहप्रवेश प्रशंसनीय है जो गृहत्याग का हेतु हो। वही वस्त्रधारण प्रशंसनीय है जो एक दिन वस्त्रत्याग का हेतु हो।

समयसार की 'आत्मख्याति' टीका, गाथा 4 के अनुसार प्रवृत्ति का उपदेश देने वाले तो बहुत सुलभ हैं, गली-गली में भरे हैं, किन्तु निवृत्ति का उपदेशक दुर्लभ है—'परस्परमाचार्यत्वमाचरन्तो'।

जैनाचार निवृत्तिप्रधान है—इस विषय को समझने के लिए आचार्य जटासिंहनन्दी के संस्कृत-महाकाव्य 'वरांगचरित' (18वीं शताब्दी) का निम्नलिखित श्लोक भी बहुत महत्त्वपूर्ण है, जिसमें कहा गया है कि जो अत्यन्त निवृत्ति का उपदेश देते हैं वे ही सच्चे जैन गुरु हैं और वे ही इस जीव को संसाररूपी कुटिल अटवी से बाहर निकाल सकते हैं, अन्य कोई नहीं। यथा—

“जन्माटवीषु कुटिलाषु विनष्टमार्गान्,
येऽत्यन्तनिवृत्तिपथं प्रतिबोधयन्ति।
तेभ्योऽधिकः प्रियतमो वसुधातलेऽस्मिन्,
कोन्योऽस्ति बन्धुरपरः परिभाव्यमानः॥” 1/20

यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण श्लोक है। इसकी अनेक बातें गम्भीरतापूर्वक चिंतनीय हैं। यथा—

1. यह संसार एक कुटिल अटवी (वन, जंगल) के समान है। यहाँ चारों ओर भयंकर दुःख, लूटपाट और अव्यवस्था है। यद्यपि मनुष्य ने नगरादि बनाकर बहुत व्यवस्थाएँ बनाने का प्रयास किया है, परन्तु परमार्थ से कोई व्यवस्था नहीं हो सकी है, जंगलराज ही चल रहा है। लोग केवल व्यवस्था का दम्भ कर रहे हैं।
2. इसमें जीव मार्ग भूल रहे हैं, भटक रहे हैं। चार गति चौरासी लाख योनियों में चक्कर लगा रहे हैं, पर निकल नहीं पा रहे हैं। उन्हें समझ में नहीं आ रहा कि क्या करें, वे एकदम किंकर्तव्यविमूढ़ और अत्यन्त व्याकुल हैं।
3. संसार को वन की उपमा अनेक आचार्यों ने दी है, जो बहुत ही उपयुक्त है। पंडित दौलतराम कासलीवाल ने भी इसका एक अद्भुत सांगरूपक अपनी कृति

‘विवेक-विलास’ में ‘भववननिरूपण’ शीर्षक से प्रस्तुत किया है, जो पठनीय है। देखिए मेरा लेख— ‘पंडित दौलतराम की अनूठी कृति : विवेक-विलास’।

4. इसमें से निकलने का मार्ग अत्यंत (पूर्ण) निवृत्ति रूप ही है। यह जीव अनेक बार अशुभ क्रियाओं से तो निवृत्त हुआ है, किन्तु जब तक शुभ क्रियाओं से भी निवृत्त नहीं होगा, पूर्ण निवृत्ति नहीं अंगीकार करेगा, तब तक इस भयंकर अटवी में से निकल नहीं पाएगा।
5. सच्चा गुरु वही है जो जीवों को अत्यंत निवृत्ति का पथ दिखाता है, समझाता है। जो जीवों को मात्र अशुभ क्रियाओं से हटाकर शुभ क्रियाओं में लगा देता है, वह सच्चा गुरु नहीं है, सच्चा मार्गदर्शक नहीं है। उससे जीवों को सावधान रहना चाहिए, बचना चाहिए। सच्चा गुरु तो वह है जो क्वचित्, कदाचित् प्रवृत्ति का भी उपदेश दे तो वह भी निवृत्ति के ही लिए देता है।
6. अत्यंत निवृत्ति का पथ दिखाने वाला गुरु सम्पूर्ण वसुधातल पर मिलना दुर्लभ है। नाना प्रकार से प्रवृत्ति में ही लगाए रखनेवाले गुरु तो गली-गली में मिल जाते हैं, किन्तु पूर्ण निवृत्ति का, शुद्ध अध्यात्मविद्या का उपदेश देने वाले गुरु अत्यंत दुर्लभ हैं, क्वचित् कदाचित् ही महाभाग्य से किसी को मिलते हैं।
7. अत्यंत निवृत्ति का पथ दिखानेवाले गुरु ही (निर्ग्रन्थ दिगम्बर जैन मुनि, जिन्हें वेद-उपनिषदों में भी ‘अध्यात्मविद्याविशारद’ आदि कहा है) जीव के प्रियतम बन्धु हैं और भलीभांति सेवन करने योग्य हैं।
8. जैन मुनि केवल निवृत्ति का ही उपदेश देते हैं, जैसा कि द्रव्यसंग्रह, गाथा 56 में कहा है— ‘मा चिद्वह मा जंपह मा चिंतह इद्व-गिद्व-अद्वेसु’ अर्थात् कुछ भी मत करो, कुछ भी मत बोलो और कुछ सोचो भी मत, पूर्ण निर्विकल्प होकर अपने ही स्वभाव में स्थित हो जाओ, बस।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनाचार वस्तुतः निवृत्तिप्रधान है, किन्तु यह निवृत्ति आत्मस्वरूप में प्रवृत्तिपूर्वक ही होती है, अतः यदि इस अपेक्षा से कोई आध्यात्मिक व्यक्ति उसे प्रवृत्तिप्रधान भी कहे तो दोष नहीं है, अपितु उचित ही है, किन्तु पर की अपेक्षा से तो वह पूर्ण निवृत्तिरूप ही है—इसमें सन्देह नहीं।

❖❖

ये व्याख्यान्ति न शास्त्रं ददाति दीक्षादिकं च शिष्याणाम्।

ज्ञानध्याननिमज्जाः तेऽत्र साधवो ज्ञेयाः॥

—आचार्य पूज्यपाद, क्रियाकलाप

अर्थ— जो व्याख्यान भी नहीं करते, शिष्यों को दीक्षादिक भी नहीं देते और सदैव ज्ञान-ध्यान में लीन रहते हैं, उन्हें ही साधु कहते हैं।

पंचाचार-निरूपण

‘आचार’ शब्द का अर्थ प्रायः लोग मात्र ‘चारित्र’ या ‘आचरण’ ही समझते हैं, जबकि गहराई से देखा जाए तो जैन ग्रन्थों में ‘आचार’ शब्द बड़ा ही व्यापक अर्थ धारण करता है। साधुओं के आचार-निरूपण के प्रसंग में जैनाचार्यों ने ‘आचार’ शब्द के अंतर्गत श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, तप, वीर्य –सभी को गर्भित कर लिया है, कहा है कि आचार पाँच प्रकार का होता है— दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार। प्रस्तुत लेख में इन्हीं पंचाचारों का स्वरूप समझने का प्रयास किया गया है। जैन ग्रन्थों के अनुसार इन पंचाचारों की परिभाषा एवं भेद इस प्रकार हैं—

दर्शनाचार-

इसका दूसरा नाम सम्यग्दर्शनाचार भी है। सम्यग्दर्शन का भलीभांति सेवन या पालन करना ही सम्यग्दर्शनाचार या दर्शनाचार है। इसके आठ प्रकार होते हैं—

1. **निःशंकिताचार—** जिनप्रणीत तत्त्व में सन्देह न होना निःशंकिताचार है।
2. **निःकांक्षिताचार—** पुण्य के फलरूप सांसारिक सुखों की इच्छा न करना निःकांक्षिताचार है।
3. **निर्विचिकित्साचार—** रत्नत्रय से पवित्र जीवों के अपवित्र शरीर में भी ग्लानि न करना निर्विचिकित्साचार है।
4. **अमूढदृष्ट्याचार—** कुमार्ग और उसमें स्थित जीवों को प्रमाण न मानना अमूढ-दृष्ट्याचार है।
5. **उपगूहनाचार—** साधर्म्य के दोषों को ढंककर उसके गुणों को बढ़ाना उपगूहनाचार या उपबृहणाचार है।
6. **स्थितीकरणाचार—** काम-क्रोधादि से चलित धर्मात्मा को धर्म में स्थित करना स्थितीकरणाचार है।
7. **वात्सल्याचार—** धर्मात्माओं से निःस्वार्थ प्रीति रखना वात्सल्याचार है।
8. **प्रभावनाचार—** रत्नत्रय से अपनी आत्मा को और दानादि से जिनधर्म को दीप्त करना प्रभावनाचार है।

तात्पर्य हुआ कि सम्यग्दर्शन के उक्त आठ अंगों का भलीभांति पालन करना ही सम्यग्दर्शनाचार है।

ज्ञानाचार-

इसका दूसरा नाम सम्यग्ज्ञानाचार भी है। सम्यग्ज्ञान का भलीभांति सेवन या पालन करना ही सम्यग्ज्ञानाचार या ज्ञानाचार है। इसके भी आठ प्रकार होते हैं—

1. **शब्दाचार—** अक्षर, मात्रा आदि से शुद्ध पाठ करना शब्दाचार है।
 2. **अर्थाचार—** उसके यथार्थ अर्थ को समझना अर्थाचार है।
 3. **उभयाचार—** शब्द एवं अर्थ दोनों का यथार्थ अर्थ समझना उभयाचार है।
 4. **कालाचार—** अकाल को छोड़कर सुकाल में ही अध्ययन करना कालाचार है।
 5. **विनयाचार—** विनयपूर्वक अध्ययन करना विनयाचार है।
 6. **उपधानाचार—** सावधान चित्त होकर अध्ययन करना उपधानाचार है।
 7. **बहुमानाचार—** ज्ञान और ज्ञान के उपकरणों में बहुमान रखना बहुमानाचार है।
 8. **अनिह्वाचार—** कषायवश गुरु आदि का नाम नहीं छुपाना अनिह्वाचार है।
- तात्पर्य हुआ कि सम्यग्ज्ञान के उक्त आठ अंगों का भलीभांति पालन करना ही सम्यग्ज्ञानाचार है।

चारित्राचार-

इसका दूसरा नाम सम्यक्चारित्राचार भी है। सम्यक्चारित्र का भलीभांति सेवन या पालन करना ही सम्यक्चारित्राचार या चारित्राचार है। इसके तेरह प्रकार होते हैं— पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति। यथा—

1. **अहिंसा महाव्रत—** हिंसा का पूर्ण त्याग अहिंसा महाव्रत है।
2. **सत्य महाव्रत—** असत्य का पूर्ण त्याग सत्य महाव्रत है।
3. **अचौर्य महाव्रत—** चोरी का पूर्ण त्याग अचौर्य महाव्रत है।
4. **ब्रह्मचर्य महाव्रत—** अब्रह्म का पूर्ण त्याग ब्रह्मचर्य महाव्रत है।
5. **अपरिग्रह महाव्रत—** परिग्रह का पूर्ण त्याग अपरिग्रह महाव्रत है।
6. **ईर्या समिति—** गमन में सम्यक् प्रवृत्ति ईर्या समिति है।
7. **भाषा समिति—** बोलने में सम्यक् प्रवृत्ति भाषा समिति है।
8. **एषणा समिति—** आहार में सम्यक् प्रवृत्ति एषणा समिति है।
9. **आदाननिक्षेपण समिति—** वस्तुओं के उठाने-रखने में सम्यक् प्रवृत्ति आदाननिक्षेपण समिति है।
10. **व्युत्सर्ग समिति—** मलमूत्रादि के त्याग में सम्यक् प्रवृत्ति व्युत्सर्ग समिति है।
11. **मनोगुप्ति—** मनोयोग का सम्यक् निग्रह मनोगुप्ति है।
12. **वचनगुप्ति—** वचनयोग का सम्यक् निग्रह वचनगुप्ति है।

13. **कायगुप्ति**— काययोग का सम्यक् निग्रह कायगुप्ति है।

तपाचार-

सम्यक् तप का भलीभाँति सेवन या पालन करना ही तपाचार है। इसके बारह प्रकार होते हैं। यथा—

1. **अनशन**— अशन अर्थात् भोजन का त्याग करना अनशन है। इसे उपवास भी कहते हैं।
2. **अवमौदर्य**— भूख से कम खाना अवमौदर्य है। इसे ऊनोदर भी कहते हैं।
3. **वृत्तिपरिसंख्यान**— एक घर या एक गली में आहार की विधि मिलेगी तो ही आहार लूँगा अन्यथा नहीं —इत्यादि रूप से वृत्ति का परिसंख्यान करना वृत्तिपरिसंख्यान तप है।
4. **रसपरित्याग**— घृत आदि रसों का त्याग करना रसपरित्याग तप है।
5. **विविक्तशय्यासन**— एकान्त शून्य घर आदि में सोना-बैठना विविक्तशय्यासन तप है।
6. **कायक्लेश**— आतापन योग, वृक्षमूल में निवास करना, खुले मैदान में सोना या बहुत प्रकार के आसनों का लगाना आदि कायक्लेश तप है।
7. **प्रायश्चित्त**— जिससे प्रमादजनित दोषों का शोधन किया जाता है वह प्रायश्चित्त तप है।
8. **विनय**— ज्ञान आदि गुणों और उनके धारक पूज्य पुरुषों में आदरभाव रखना विनय तप है।
9. **वैय्यावृत्य**— अपने शरीर द्वारा या अन्य साधनों द्वारा उपासना अर्थात् सेवा-शुश्रूषा करना वैय्यावृत्य है।
10. **स्वाध्याय**— आलस्य का त्याग कर निरन्तर ज्ञानाभ्यास करना स्वाध्याय है।
11. **व्युत्सर्ग**— काया से ममत्व त्याग करना व्युत्सर्ग तप है।
12. **ध्यान**— अन्य सर्व चिंताएं छोड़कर एक आत्मा में एकाग्र होना ध्यान तप है।

वीर्याचार-

अपनी आत्मशक्ति को प्रकट करना वीर्याचार है। इसके पांच प्रकार हैं—

1. **पराक्रम**— अपनी आत्मशक्ति को पराक्रम के साथ प्रकट करना पराक्रम नाम का वीर्याचार है।
2. **यथोक्तमान**— अपनी आत्मशक्ति को यथोक्त मान के अनुसार प्रकट करना यथोक्तमान नाम का वीर्याचार है।
3. **कायोत्सर्ग**— अपनी आत्मशक्ति को कायोत्सर्ग करके प्रकट करना कायोत्सर्ग

नाम का वीर्याचार है।

4. **यथाशक्ति**— अपनी आत्मशक्ति को यथाशक्ति प्रकट करना यथाशक्ति नाम का वीर्याचार है।
5. **यथाविधि**— अपनी आत्मशक्ति को यथाविधि प्रकट करना यथाविधि नाम का वीर्याचार है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि जैनाचार्यों ने ‘आचार’ शब्द के अंतर्गत श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, वीर्य, तप— सभी को उनके भेद-प्रभेद सहित गर्भित कर लिया है और उससे यह विषय बहुत ही व्यापक बन गया है। जैन आचारशास्त्र पर विचार करते समय हमें इस व्यापक दृष्टि को भी अवश्य ध्यान में रखना चाहिए। शास्त्रों में पंचाचारों के उक्त सभी भेद-प्रभेदों को निश्चय-व्यवहार, अंतरंग-बहिरंग या भाव-द्रव्य के रूप में भी विभाजित करके विस्तार से समझाया गया है, किन्तु अभी यहाँ हम उस विस्तार में नहीं गये हैं।

किन्तु यहाँ एक महत्वपूर्ण बात यह ज्ञातव्य है कि इन पंचाचारों का पालन वस्तुतः कैसे किया जाता है—इसकी एक अद्भुत कला है, जिसे हम सबको अवश्य सावधानीपूर्वक समझना चाहिए। ज्ञानी मुनिराज इनके एक-एक भेद की कोई पृथक्-पृथक् आराधना सदा नहीं करते रहते हैं, अपितु वे तो एक आत्मा की ही आराधना करते हैं और उसी से सहज समस्त पंचाचारों का पालन हो जाता है। यही कारण है कि आचार्य माघनंदी ने निज शुद्धात्मा को ही पंचाचारस्वरूप कहकर अध्यात्म की अमृतवर्षा की है। यथा—

“निश्चयपंचाचारस्वरूपोऽहम् ।
अष्टविधसम्यग्दर्शनाचारस्वरूपोऽहम् ।
निश्चयव्यवहाराष्टविधसम्यग्ज्ञानाचारस्वरूपोऽहम् ।
त्रयोदशविधसम्यक्चारित्राचारस्वरूपोऽहम् ।
द्वादशविधतपाचारस्वरूपोऽहम् ।
पंचविधवीर्याचारस्वरूपोऽहम् ।”

—ध्यानसूत्राणि, तृतीय अधिकार, सूत्र 6 से 18

आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने भी मोक्षपाहुड, गाथा 105 में ऐसा ही रहस्य उद्घाटित किया है। यथा—

सम्मत्तं सण्णाणं सच्चारित्तं हि सत्तवं चेव ।
चउरो चिद्वहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ॥

अर्थ— सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप (उपलक्षण से सम्यक् वीर्य भी) ये चारों वास्तव में एक आत्मा में रहते हैं, अतः मुझे मेरा आत्मा ही शरण है।

अंत में, हम सभी पंचाचार की आराधना करके शीघ्र पंचम गति को प्राप्त करें—
इस मंगल भावना के साथ मैं अपनी वाणी को विराम देता हूँ। ❖❖

‘अशुद्ध पुस्तक शत्रुः’

पुस्तकें पाठकों की परम मित्र होती हैं, किंतु आजकल बहुत-सी पुस्तकें इतनी अशुद्ध छपने लगी हैं कि अर्थ का अनर्थ हो रहा है। ऐसी पुस्तकों को परम मित्र कदापि नहीं कह सकते, अपितु परम शत्रु ही कहना होगा।

शास्त्रों में भी अशुद्ध पुस्तक को शत्रु कहा गया है, क्योंकि जिस प्रकार अच्छी पुस्तकें मनुष्य का परम हित करने से उसकी परम मित्र सिद्ध होती हैं, उसीप्रकार अशुद्ध पुस्तकें मनुष्य का अहित करने वाली होने से परम शत्रु भी सिद्ध होती हैं।

आश्चर्य होता है कि आज कम्प्यूटर युग में जबकि काम करना बहुत सरल हो गया है, तब भी पुस्तकें शुद्ध नहीं छप पा रही हैं और उनमें अशुद्धियों की भरमार होती है। पहले के जमाने में लोग लैटर प्रेस से बड़ी कठिनाई से पुस्तकों का मुद्रण कर पाते थे, तब भी पुस्तकें प्रायः बहुत शुद्ध छपती थीं और उसके बाद भी जो अशुद्धियाँ रह जाएं तो उनके लिए उसमें अशुद्धि-पत्र भी खेद सहित प्रकाशित किया जाता था, किंतु आजकल तो मानों कोई थोड़ा भी परिश्रम नहीं करना चाहता। दो-चार दिन की मेहनत में ही झट से कोई भी कैसी भी पुस्तक छपाकर ‘पुस्तक-निर्माता’, ‘पुस्तक-प्रकाशक’ आदि का श्रेय ले लेना चाहता है। अच्छी तरह से प्रूफरीडिंग भी कोई करना-कराना नहीं चाहता। यह सब भारी प्रमाद है, घोरानिघोर अपराध है, हमें इसको गंभीरता से लेना होगा, अन्यथा भविष्य में शास्त्रों की रक्षा करना ही असंभव हो जाएगा, शास्त्र शस्त्र बन जाएंगे।

वैसे तो अशुद्ध पढ़ना-बोलना, लिखना-लिखाना, छपाना-बेचना सभी बड़े दोष हैं, घोर अपराध हैं, परन्तु अशुद्ध पुस्तकों का प्रकाशन और वितरण तो सबसे ही बड़ा अपराध है, मूलभूत अपराध है। उसी से अशुद्धि असंख्यगुणित होकर प्रचलित-प्रसारित होती है। अशुद्धि की परम्परा का मूल कारण अशुद्ध प्रकाशन ही है।

यद्यपि अशुद्ध-उच्चारण करने वालों को भी कान खोलकर समझ लेना चाहिए कि यह बहुत बड़ा अपराध है। इसे सम्यग्ज्ञान का एक (प्रथम) दोष या अतिचार बताया गया है। इससे ज्ञानावरण कर्म का आस्रव भी होता है। इसीलिए तो पूजा-

पाठ-स्वाध्याय के अंत में सदैव माँ सरस्वती से जाने-अनजाने में हुए अपने समस्त अशुद्ध उच्चारण के लिए क्षमा-याचना की जाती है। यथा—

“अक्खरपयत्थहीणं मत्ताहीणं च जं मए भणिदं ।
तं खमऊ णाणदेव य मज्झ वि दुक्खक्खयं दिंतु ॥”

—ज्ञानपीठ पूजांजलि, पृ.107

“यदर्थमात्रापदवाक्यहीनं, मया प्रमादाद्यदि किंचनोक्तम् ।
तन्मे क्षमित्वा विदधातु देवी, सरस्वती केवलबोधलब्धिम् ॥”

—सामायिक पाठ, 10

“अक्षर पद मात्रा से, दूषित जो कुछ कहा गया मुझसे ।
क्षमा करो प्रभु सो सब, करुणा करि पुनि छुड़ाहु भवदुख से ॥”

—विसर्जन पाठ

‘वृहत्कल्पसूत्र’ आदि में तो अशुद्ध उच्चारण करने वाले को बड़े प्रायश्चित्त का भागी बताया गया है, उसकी सर्व दीक्षा ही निरर्थक कही गई है। यथा—

“हीनाक्षरेऽधिकाक्षरे च अर्थव्याप्तिः, अर्थस्य विसंवादः। अर्थस्य विसंवादे चरणस्य विसंवादः। चरणविसंवादात् न मोक्षः, मोक्षाभावः। मोक्षाभावे सर्वा दीक्षा निरर्थिका ।”

अशुद्ध उच्चारण करने से शरीर में भी अनेक रोगों की उत्पत्ति होती है— ऐसा ‘चरक संहिता’ में लिखा है। इसके अतिरिक्त अशुद्ध उच्चारण से प्रमाद, बुद्धिहीनता, कुटिलता आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं।

अशुद्ध उच्चारण से वक्ता अशुद्धता का आदी बन जाता है। वह उस शब्द को सदा ही अशुद्ध बोलता है। जैसे— कुछ लोग ‘वीतराग भेंद्यों अबै मेटो राग कुटेव’ को सदैव ‘वीतराग मेटो अबै, भेंद्यों राग कुटेव’ बोलते हैं। अतः प्रयत्न करके अशुद्धियों का निवारण कर देना चाहिए।

बहरहाल, पुस्तकों का अशुद्ध प्रकाशन और वितरण तो वाकई बहुत बड़ा अपराध है। सामाजिक, राष्ट्रीय, धार्मिक, साहित्यिक सभी प्रकार का अपराध है। इससे व्यक्ति का ही अहित नहीं होता, अपितु समूचे साहित्य-जगत, समाज और राष्ट्र की भी महान हानि होती है।

मैं तो समझता हूँ कि अशुद्ध पुस्तकों का प्रकाशन और वितरण एक अक्षम्य अपराध है, दण्डनीय अपराध है। अशुद्ध पुस्तकों के प्रकाशकों को दंडित करने की समाज में कोई व्यवस्था होनी चाहिए। किन्तु दण्डित करना तो दूर, आश्चर्य है कि आज अशुद्ध पुस्तकों के प्रकाशकों से कोई कुछ नहीं कहता। पत्रकार बन्धु भी आजकल उनके बारे में कुछ नहीं कहते। पहले तो पत्र-पत्रिकाओं में पत्रकार महोदय ही ‘पुस्तक-समीक्षा’ लिखकर अशुद्ध पुस्तकों की अच्छी खबर लेते थे,

परन्तु आजकल तो उन्होंने भी इधर ध्यान देना छोड़ दिया है। वे ‘पुस्तक-समीक्षा’ स्तंभ में पुस्तक का केवल बाह्य परिचय मात्र देकर अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेते हैं, समीक्षा बिलकुल नहीं करते। इससे भी आजकल अशुद्ध पुस्तकों की बाढ़ आने लगी है।

अशुद्ध पुस्तकों के साथ एक और भी बड़ी भारी दिक्कत यह होती है कि उन अशुद्ध पुस्तकों का शुद्ध अंश भी विश्वसनीय नहीं रहता। कदम-कदम पर ऐसा लगता रहता है कि कहीं यह भी अशुद्ध नहीं छप गया हो। जैनेन्द्र सिद्धांत कोश (4/273) में लिखा है कि “एक अशुद्धि सौ शुद्धियों का घात कर देती है।”

अतः सभी पुस्तक-प्रकाशकों से निवेदन है कि वे इस संबंध में विशेष सावधानी रखने का प्रयास करें। पुस्तक की प्रतियाँ संख्या में भले ही कम प्रकाशित हों, पर पुस्तक का शुद्ध होना अत्यन्त आवश्यक है। अतः कैसे भी करके प्रकाशन से पूर्व किसी अच्छे प्रूफरीडर विद्वान को वह पुस्तक दिखा लेना चाहिए और भले ही थोड़ा समय लगे, पर पुस्तक शुद्ध ही प्रकाशित होना चाहिए। इसी से समाज और साहित्य की उन्नति होगी।

कुछ लोग यश के लिए जल्दी-जल्दी बहुत अधिक लेखन-प्रकाशन करते हैं, पर वे नहीं जानते कि घटिया प्रकाशन से यश नहीं, अपयश मिलता है। यश के लिए कार्य चाहे एक ही हो, पर श्रेष्ठ होना चाहिए। ❖❖

धर्म के संबंध में भ्रांति

आजकल अनेक उच्चशिक्षा प्राप्त व्यक्ति भी धर्म के सम्बन्ध में बड़े भ्रमित दिखाई देते हैं। जैसे— एक कहता है कि धर्म-सम्प्रदाय कोई भी नहीं होना चाहिए, यह बहुत बुरा होता है, कलह कराता है, सभी धर्मों को नष्ट कर देना चाहिए, इत्यादि। दूसरा कहता है कि सब धर्म सच्चे हैं, अच्छे हैं, सबको मानो, सबका समान आदर करो, सब एक-से हैं, किसी को भी मान लो, सभी एक हैं, इत्यादि। तीसरा कहता है कि सबको अपना-अपना धर्म ही पालना चाहिए, वही उसके लिए श्रेष्ठ-हितकारी है, अन्य सब धर्म उसके लिए हेय हैं, तुच्छ हैं, उनसे उसे बचना चाहिए। वे ‘स्वधर्म निधनं श्रेयः परधर्म भयावहः’ का यही अर्थ करते हैं। इसीलिए वे यह भी कहते हैं कि धर्म-परिवर्तन कभी किसी को नहीं करना चाहिए।

परन्तु ईमानदारी से देखा जाए तो उक्त तीनों ही प्रकार के दृष्टिकोण दोषपूर्ण हैं, क्योंकि—

1. धर्म मूलतः अच्छा ही होता है, बुरा नहीं होता, बुरा तो अधर्म होता है।
2. सब धर्म सच्चे नहीं हो सकते, क्योंकि उनकी बातें परस्पर विरुद्ध हैं।
3. अपना ही धर्म अच्छा है, उपादेय है और दूसरे का धर्म बुरा है, हेय है— यह भी दुराग्रहपूर्ण विचार है।
4. धर्म-परिवर्तन कभी किसी को नहीं करना चाहिए— यह प्रतिबन्ध भी प्रजातान्त्रिक नहीं है।

जैनाचार्यों का भाषादर्शन

जैन संस्कृति की रक्षा-सुरक्षा एवं प्रचार-प्रसार में जैनों की भाषा का भी बड़ा योगदान रहा है। लाखों-करोड़ों वर्षों से आज तक जैन संस्कृति जीवित और प्रचारित-प्रसारित रही है, उसका कारण जैनों का भाषा-प्रयोग भी है, उनका भाषा-दर्शन भी है। विचारणीय है कि जैनों का भाषा-दर्शन क्या है ?

भाषा के सम्बन्ध में प्रायः लोग, न केवल सामान्य लोग, बड़े-बड़े धार्मिक लोग विद्वान्, पंडित, धर्मगुरु तक भी ऐसा मानते हैं कि अमुक एक भाषा ही पवित्र, ईश्वरीय या दैवीय है और अन्य सब भाषाएँ बुरी, भ्रष्ट या अपभ्रष्ट हैं, अतः हमें उस एक पवित्र दैवी भाषा का ही प्रयोग करना चाहिए, अन्य भाषाओं का नहीं। अन्य भाषाओं का तो बल्कि हमें विरोध करना चाहिए।

किन्तु जैन धर्म में किसी एक ही भाषा का ऐसा आग्रह/दुराग्रह नहीं है, अपितु उसका तो स्पष्ट मानना है कि सभी भाषाएँ सरस्वती की पुत्री होने से आदरणीय व पूजनीय हैं— ‘सर्वभाषा सरस्वती’ —(कातन्त्र, स्वरांत पुलिंग, मंगलाचरण)। जिस प्रकार गाय काली हो या सफेद, दूध तो सफेद ही होता है और हमें उसी से मतलब होना चाहिए, उसी प्रकार भाषा कोई भी हो, हमें तो उसके निर्मल भावों से मतलब होना चाहिए— ‘गवां यथा विभेदेऽपि क्षीरभेदो न विद्यते’ —(आचार्य अमितगति, योगसार प्राभृत 9/77)। जो भाषा परब्रह्म का प्रतिपादन करती है वह स्वयं भी ‘ब्रह्म’ संज्ञा से विभूषित होती है— ऐसा जैनाचार्यों का स्पष्ट मत है। यथा—

“शब्दब्रह्म परब्रह्म के, वाचक-वाच्य नियोग।”

—पं. जयचंद छाबड़ा, समयसार वचनिका, 2

अतः जैनाचार्यों के अनुसार कोई भी व्यक्ति अपने देश, काल, परिस्थिति के अनुरूप संसार की किसी भी भाषा का प्रयोग कर सकता है, उन्हें कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु हाँ, वह भाषा हर हाल में हित, मित, प्रिय ही होनी चाहिए। कदापि अहित, अमित, अप्रिय नहीं। क्योंकि उससे हिंसा होती है, घोर पापबंध होता है।

तात्पर्य यह हुआ कि भाषा कोई-सी भी बोली जा सकती है, पर कैसी भी नहीं— यही संक्षेप में जैनाचार्यों का भाषा-दर्शन है।

जैनाचार्यों के उक्त निर्देश के कारण ही सारे संसार में फैले हुए जैन साधक अपनी-अपनी योग्यता एवं परिस्थिति के अनुसार विभिन्न भाषाओं का प्रयोग करते हैं। क्षेत्रवाद, वर्णवाद, लिंगवाद आदि की तरह भाषावाद की संकीर्णता से भी ऊपर उठकर रहते हैं; किन्तु इस बात का बड़ा ध्यान रखते हैं कि उनके मुख से कदापि कथमपि ऐसी भाषा न निकले जो पापबन्धकारिणी हो, जिससे हिंसा होती हो।

जैनाचार्यों ने स्पष्ट कहा है कि हमें कदापि कर्कशा, परुषा, कट्वी, निष्ठुरा, परकोपिनी, छेदंकरा, मध्यकृशा, अतिमानिनी, भयंकरी और भूतहिंसाकरी— ये दश प्रकार की भाषा न बोलकर सदा हित, मित, प्रिय और असंदिग्ध भाषा ही बोलना चाहिए। यथा—

“कर्कशा परुषा कट्वी निष्ठुरा परकोपिनी।
छेदांकुरा मध्यकृशा अतिमानिनी भयंकरी ॥
भूतहिंसाकरी चेति दुर्भाषां दशधा त्यजेत्।
हितं मितमसंदिग्धं स्याद्भाषासमितिवदेत् ॥”

—आचार्य शुभचन्द्र, ज्ञानार्णव, 18/9 (895-896)

जो भाषा संताप उत्पन्न करने वाली हो उसे कर्कशा कहते हैं। जैसे— तू मूर्ख है, कोरा बैल है, आदि। जिसके सुनने पर मर्म को कष्ट पहुंचे वह भाषा परुषा है। जैसे— तू दुष्ट है, आदि। जो भाषा उद्वेग उत्पन्न करे वह कट्वी है। जैसे— तू नीची जाति का है, पापी है, आदि। जो भाषा निर्दयतापूर्ण हो उसे निष्ठुर कहते हैं। जैसे— मैं तुझे मार डालूंगा, तेरा सिर काट दूंगा, आदि। जिसको सुनकर दूसरे के हृदय में क्रोध उत्पन्न हो उसे परकोपिनी कहते हैं। जैसे— तेरे तप में कोई बल नहीं, तू निर्लज्ज है, आदि। जो व्रत, शील आदि गुणों को नष्ट करने वाली हो उसे छेदंकरा कहते हैं। जो हड्डियों के मध्य तक पीड़ित करे वह मध्यकृशा है। जिस भाषा के द्वारा अपनी प्रशंसा दूसरे की निंदा प्रगट होती हो उसे अतिमानिनी समझना चाहिए। जो भाषा भय उत्पन्न करे उसे भयंकरी कहते हैं। जो भाषा प्राणिहिंसा में प्रवृत्त कराती हो वह भूतहिंसाकरी है।

जैन साधक इन दश प्रकार की अशुभ भाषाओं को नहीं बोलते, अपितु भाषा समिति के अनुरूप हित, मित, प्रिय, निर्दोष और असंदिग्ध वचन ही बोलते हैं।

आचार्य रविषेण ने ‘पद्मपुराण’ में मजाक में भी पापकारिणी भाषा बोलने का निषेध किया है। यथा—

“भारत्यपि न वक्तव्या दुरितादानकारिणी।
सीतायाः पश्यत प्राप्तो दुर्वादः शब्दमात्रतः ॥”

—आचार्य रविषेण, पद्मपुराण, 106/224

आचार्य कुन्दकुन्द ने तो रयणसार में दुर्भाषा बोलने वाले को सम्यग्दर्शन से ही

रहित बताया है। यथा—

“उग्गो तिब्बो दुट्ठो, दुब्भावो दुस्सुदो दुरालावो।

दुम्मद-रदो विरुद्धो, सो जीवो सम्म-उम्मुक्को ॥ 43 ॥”

अर्थ— जो उग्र, दुष्ट, दुर्भाव, दुःश्रुत (मिथ्या शास्त्रों का कथन करनेवाला), दुरालाप (दुष्टभाषी) और विरुद्ध (धर्म के विरुद्ध) है; वह जीव सम्यग्दर्शन से रहित है।

दरअसल, भाषा अनिवार्यतः भावों की वाहिका होती है। वह केवल पौद्गलिक शब्द मात्र नहीं होती। वह पापबंध और पुण्यबंध का कारण भी सिद्ध होती है। भाषा के प्रयोग से प्रयोक्ता के आन्तरिक भाव और संस्कार प्रकट होते हैं और उसी से उसका सच्चा परिचय प्राप्त होता है। यथा—

“कुलप्रसूतस्य न पाणिपद्म, न जारजातस्य शिरोविषाणम्।

यदा यदा मुंचति वाक्यवाणं, तदा तदा जातिकुलप्रमाणम् ॥”

अर्थ— कुलवान व्यक्ति के हाथों में कोई कमल नहीं होते और कुलहीन व्यक्ति के सिर पर कोई सींग नहीं होते, परन्तु व्यक्ति जब-जब अपने मुख से कुछ बोलता है तो वही उसके जाति-कुल का ठोस प्रमाण होता है।

भाषा की बात कोरी भाषा की बात नहीं होती, उसके साथ संस्कृति भी प्रगाढ़ रूप से जुड़ी ही रहती है। जैन साधक अहर्निश जैन संस्कृति में ही डूबा रहता है, जैन संस्कृति की ही निरंतर उपासना/आराधना करता रहता है, जो कि अहिंसा, अनेकांतवाद आदि सिद्धांतों को बहुत अधिक महत्त्व देती है, इसलिए उसकी भाषा भी ऐसी ही होती है जिसमें जैन संस्कृति प्रतिबिम्बित होती है। जैन संस्कृति प्रतिबिम्बित न भी हो तो कम से कम इतना तो अवश्य होता है कि उसकी भाषा में जैन सिद्धांतों के विरुद्ध जाने वाली कोई भी बात जरा-सी भी नहीं निकल पाती, यदि निकल जाये तो उसका उसे बड़ा खेद होता है, वह उसका पश्चात्ताप करता है। सीधे-सीधे तो क्या, उपमा, मुहावरा आदि के रूप में भी वह जैन सिद्धांतों के विरुद्ध नहीं बोलता। जैसे— घर की मुर्गी दाल बराबर, साँप भी मर जाए और लाठी भी न टूटे, झख मारना, इत्यादि हिंसापोषक मुहावरों का प्रयोग वह नहीं करता।

अहिंसा जैन संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता है। अतः जैन साधक वही भाषा बोलता है, जिसमें सर्वत्र अहिंसा प्रतिबिम्बित हो, कहीं भी किंचित् भी किसी भी रूप में हिंसा का समर्थन न हो। उदाहरणार्थ जैन साधक निम्नलिखित प्रकार का वाक्य कभी नहीं बोलता कि— इस फल या सब्जी की स्किन छील दो या पूंछ काट दो, इत्यादि; क्योंकि इससे हिंसा का दोष लगता है। जैन साधक काटने, पीटने, मारने आदि क्रियाओं का ही प्रयोग प्रायः नहीं करता। यही कारण है कि आज भी जैन घरों में सब्जी और फल को भी ‘काटना’ नहीं, ‘सँवारना’, ‘बनाना’ आदि कहा जाता है। इसी प्रकार खाने

की वस्तुओं को पशु-पक्षियों का आकार या उनकी उपमा भी नहीं दी जाती, क्योंकि इससे भी हिंसा का दोष लगता है। आजकल के कुछ लोग ऐसी लापरवाही करते देखे जाते हैं, उन्हें सावधान हो जाना चाहिए। अरे खाना तो दूर, साधक जीव तो पशु-पक्षियों के चित्रों पर पैर तक नहीं रखते।

हिंसा की तरह असत्य, चोरी, अब्रह्म, कुशील और परिग्रह इत्यादि को भी जैन संस्कृति में पाप कहा है, अतः जैनों का भाषादर्शन ऐसी भाषा बोलने की भी अनुमति नहीं देता जिसमें असत्य, चोरी आदि पापों के समर्थन का दोष लगे। कुछ लोग हँसी-मजाक में या क्रोधादि में ऐसे शब्द बोलते हैं जिनसे असत्य-सम्भाषण का दोष लगता है। जैसे— तू फेल हो गया है, तुझे गुरुजी ने बुलाया है, आदि, परन्तु जैन साधक ऐसी भाषा भी नहीं बोलता।

इसी प्रकार कुछ लोग अपने मुंह से माँ-बहिन की बहुत गालियाँ निकालते हैं। इससे अब्रह्म (कुशील) का महापाप लगता है, शील का घात होता है। अतः जैन साधक कभी भी अपने मुंह से ऐसी गालियाँ नहीं निकालते हैं।

इसीप्रकार हमें ऐसे शब्द भी अपने मुंह से कभी नहीं बोलने चाहिए, जिनसे चोरी या परिग्रह का दोष लगता हो।

जैन संस्कृति में भावों की शुद्धि पर बहुत अधिक बल दिया गया है और भावों का भाषा से बड़ा गहरा सम्बन्ध है। जरा-जरा-सी बात से, एक-एक शब्द से जीवों के भाव खराब होते देखे जाते हैं। तथा भाव खराब होते हैं तो कर्मबन्ध भी होता है, जो होता तो सहज-सा है, पर जब उदय में आता है तो बड़ी पीड़ा देता है, अतः जैनाचार्यों ने एक-एक शब्द चुन-चुन कर बोलने का उपदेश दिया है और कर्मबंधकारिणी भाषा बोलने का सख्त निषेध किया है। यथा—

1. निम्नलिखित प्रकार की ज्ञान-दर्शन और उसके साधनों में दोष लगाने वाली भाषा बोलने से ज्ञानावरण-दर्शनावरण कर्म का बंध होता है— प्रवचन में मत जाओ, प्रवचन मत करो, उसे शास्त्र मत सुनाओ, इन शास्त्रों को फेंक दो, जला दो, इत्यादि। ('तत्प्रदोषनिह्वमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः' —तत्त्वार्थसूत्र 6/10)
2. निम्नलिखित प्रकार की स्व-पर को दुःख, शोक आदि देने वाली भाषा बोलने से असाता वेदनीय कर्म का बंध होता है— मैं तुझे मार डालूँगा, तेरे नाक-कान काट लूँगा, इसे बांध कर रखो, इस पेड़ को काट डालो, मैं अपने आप को मार लूँगा, वह मर जाए, उसकी दुकान जला दो, तू ज़हर खा ले, मर जा, कुएँ में गिर जा, इत्यादि। ('दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवान्यात्मपरोभपयस्थान्यसद्वेद्यस्य' —तत्त्वार्थसूत्र 6/12)
3. निम्नलिखित प्रकार की देव-शास्त्र-गुरु-विरोधी भाषा बोलने से मोहनीय कर्म का बंध

होता है— भगवान भोजन करते हैं, देवता मद्य-मांस का सेवन करते हैं, अमुक कुदेव-देवी का मंदिर अच्छा है, वहाँ जाओ, उनको पूजो, वहाँ कुछ भेंट चढ़ाओ, वे तुम्हें धन देंगे, इत्यादि। ('केवलिश्रुतसंघमदिवावर्णवादो दर्शनमोहस्य' —तत्त्वार्थसूत्र 6/13)

4. निम्नलिखित प्रकार की आरम्भ-परिग्रह बढ़ाने और मायाचार की भाषा बोलने से नरक-तिर्यचरूप अशुभ आयु कर्म का बंध होता है। जैसे— पचासों मकान और गाड़ियाँ खरीदो, ठाठ से रहो, बहुत सारा माल छुपा कर रखो, इत्यादि। ('बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः, माया तैर्यज्योनस्य' —तत्त्वार्थसूत्र 6/15-16)
5. निम्नलिखित प्रकार की आत्मप्रशंसा-परनिंदा की भाषा बोलने से नीच गोत्र कर्म का बंध होता है। जैसे— मैं बहुत अच्छा हूँ, बड़ा हूँ, अन्य सब गंदे हैं, छोटे हैं, उनको कुछ नहीं आता, इत्यादि। ('परात्मनिंदाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य' —तत्त्वार्थसूत्र 6/25)
6. निम्नलिखित प्रकार की विघ्नकारी भाषा बोलने से अन्तराय कर्म का बंध होता है। जैसे— उसे आहार मत दो, रोटी-पानी मत दो, पैसे मत दो, संयम मत ग्रहण करो, उसकी सहायता मत करो, इत्यादि। ('विघ्नकरणमन्तरायस्य' —तत्त्वार्थसूत्र 6/27)

इसी प्रकार से अन्य भी समझ लेना चाहिए। इसे और विस्तार से आप स्वयं भी समझ सकते हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि जैन साधकों का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण ही नहीं, अपितु उनकी भाषा भी उच्च कोटि की होती है। वे कथमपि पापबंधकारिणी भाषा नहीं बोलते। उसकी अपेक्षा तो मौन रहना ही उत्तम समझते हैं, क्योंकि— 'मौनं सर्वार्थसाधकम्'।

जैन साधक जिन वचनों से जैन सिद्धांतों का घात होता हो उन्हें कथमपि नहीं बोलते, अपितु ऐसा कुछ ही बोलते हैं जिससे जैन तत्त्वज्ञान का पोषण होता हो। जैसे— जैनदर्शन में ईश्वर/भगवान को सृष्टि का कर्ता-धर्ता नहीं माना जाता, अतः जैन साधक ऐसी कोई बात नहीं बोलते जिससे ईश्वरकर्तृत्व का पोषण होता हो; जैसे— भगवान ने बुला लिया, भगवान सब देगा, सब भगवान की माया है, इस साल भगवान ने बहुत बारिश कर दी या नहीं करी, इत्यादि।

जैनदर्शन में ईश्वर/भगवान को वीतराग-सर्वज्ञ माना जाता है, अतः जैन साधक ऐसी कोई भी बात नहीं बोलते जिससे भगवान की वीतरागता-सर्वज्ञता खंडित होती हो; जैसे— सब भगवान की कृपा है, उनकी मर्जी है, इत्यादि। अपितु ऐसी ही भाषा बोलते हैं जिससे उनकी वीतरागता-सर्वज्ञता का समर्थन होता हो; जैसे— जैसा भगवान के ज्ञान में झलका होगा वैसा ही होगा, इत्यादि।

जैनदर्शन में रागी-द्वेषी देवी-देवताओं की उपासना को मिथ्यात्व माना जाता है, अतः जैन साधक ऐसी कोई बात भी नहीं बोलते जिससे मिथ्यात्व का पोषण होता

हो। पारस्परिक अभिवादन में भी वे किसी कुदेव आदि की जय नहीं, अपितु जिनेन्द्र देव की जय अर्थात् ‘जय जिनेन्द्र’ बोलते हैं। अथवा केवल ‘नमस्ते, नमस्कार’ आदि ही बोलते हैं, परन्तु कुदेवादि की जय नहीं बोलते। अपने सहधर्मी से तो अनिवार्यतः ‘जय जिनेन्द्र’ बोलते हैं। अभिवादन के रूप में ‘जय जिनेन्द्र’ कहने की परम्परा जैनों में काफी पुरानी है। ज्येष्ठ कृष्णा पंचमी वि.सं. 1884 को कविवर वृन्दावनदासजी ने जयपुर एक पत्र लिखा था, उसमें भी सबको अभिवादन के रूप में ‘जय जिनेन्द्र’ ही लिखा है। यथा—

“वृन्दावन तुमको कहत, श्रीमत जयति जिन्द।

काशी तैं सो बांचियो, अमरचन्द सुखकंद॥” —वृन्दावन-विलास

जैन धर्म के अनुसार रावण राक्षस नहीं था, हनुमान बन्दर नहीं थे, कुम्भकर्ण छह माह तक सोते नहीं थे, मद्य-मांस नहीं खाते थे, राजा दशरथ शोक करके नहीं मरे थे, इत्यादि अनेक बातें हैं। जैन साधक इन सबको जैन-शास्त्रानुसार ही बोलते हैं, अन्य अज्ञानतापूर्ण वचन नहीं बोलते।

जैन धर्म में रात्रिभोजन वर्जित है, अतः सूर्यास्त से पूर्व ही कुछ भोजन ग्रहण किया जाता है और उसे ‘अंथउ’ (सूर्यास्त से पूर्व का भोजन) जैसे उचित शब्द से बोला जाता है। आजकल कुछ लोग उसे ‘डिनर’ कह देते हैं, जो वस्तुतः रात्रिभोजन का वाचक शब्द है और इसलिए जैन साधक को यह बोलना बहुत उचित नहीं है।

जैन अध्यात्म के अनुसार इस विश्व में कुछ भी इष्ट या अनिष्ट नहीं है, अतः हमको राग-द्वेष छोड़कर ज्ञाता-दृष्टा रहने का अभ्यास करना चाहिए। यही कारण है कि जैन साधक राग-द्वेष की भाषा से बचकर ज्ञान की भाषा बोलने का प्रयास करता है। उदाहरणार्थ— वह ऐसा नहीं बोलता कि आज मौसम अच्छा या बुरा हो गया, अपितु ऐसा बोलता है कि आज मौसम बदल गया। ‘अच्छा-बुरा’ बोलना राग-द्वेष की भाषा है और ‘बदल गया’ बोलना ज्ञान की भाषा है। (‘मनोज्ञा-मनोज्ञेन्द्रियविषयेषु रागद्वेषवर्जनानि पंच’ —तत्त्वार्थसूत्र 7/8)

इसी प्रकार जैन अध्यात्म के अनुसार कोई किसी का कर्ता-धर्ता नहीं है, जगत का सारा परिणमन स्वयं हो रहा है, अतः जैन साधक ‘मैंने किया, मैंने किया’ —ऐसी कर्तावाद की भाषा नहीं बोलते, अपितु यह तो सहज स्वतः हुआ है —ऐसी ही भाषा बोलते हैं। जैसा कि आचार्य अमृतचंद्रसूरि ने कहा है—

“वर्णेः कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि।

वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः॥”

—पुरुषार्थसिद्धयुपाय, 226

अर्थ— विविध वर्णों से पद बने, पदों से वाक्य बने और फिर वाक्यों से यह पवित्र शास्त्र बन गया। मैंने तो वास्तव में इसमें कुछ नहीं किया।

ऐसी ही बात अन्य अनेक आचार्यों ने भी कही है। आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी कहते हैं—

“वर्णादिक लिखनादि क्रिया, वचनादिक अरु इन्द्रिय हिया ।
ये सब हैं पुद्गल के खेल, इनमें नाहि हमारो मेल॥”

—सम्यग्ज्ञानचंद्रिका प्रशस्ति

कुछ लोग अपने पुत्र-पुत्री को ‘आत्मज-आत्मजा’ शब्द से बोलते हैं, परन्तु यह मिथ्यात्व है, क्योंकि पुत्र-पुत्री कोई आत्मा से उत्पन्न नहीं होते, वह तो शरीर से उत्पन्न होते हैं, अतः उन्हें तनय, तनुज, तनुजा जैसे शब्दों से ही बोलना उचित है।

प्रवचनसार की टीका (गाथा 202-203) में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि जब कोई साधक मुनि दीक्षा अंगीकार करने घर से निकलता है तो वह अपने परिवारजनों को इसप्रकार सम्बोधित करता है—

“अहो इस पुरुष के शरीर के जनक के आत्मा !
अहो इस पुरुष के शरीर की जननी के आत्मा !
अहो इस पुरुष के शरीर की रमणी के आत्मा !
अहो इस पुरुष के शरीर के पुत्र के आत्मा !.....”

इत्यादि। बहुत मर्मस्पर्शी एवं आध्यात्मिक प्रसंग है यह, जो मूलतः पठनीय है।

इसप्रकार ज्ञानियों की भाषा सर्वत्र आध्यात्मिक रहती है। वह किसी के कुशल समाचार भी पूछते हैं तो ‘तंदुरुस्त हो क्या’ —ऐसा पूछने की बजाय ‘स्वस्थ हो क्या’ —ऐसा पूछते हैं। ‘कुशल’ शब्द ही वस्तुतः एक आध्यात्मिक शब्द है। इस संबंध में मेरा अन्य लेख— ‘धर्मात्मा ही कुशल है’ पठनीय है।

ज्ञानियों ने हमको ‘पुरुष’ संज्ञा दी है। यह भी एक उच्चकोटि का आध्यात्मिक शब्द है। ‘पुरुष’ का अर्थ होता है जो ‘पुरु’ अर्थात् ज्ञानादि श्रेष्ठ गुणों में विश्राम करे वह अर्थात् आत्मा। (‘अस्ति पुरुषश्चिदात्मा’ —पुरुषार्थसिद्धयुपाय, 9)

इसप्रकार ज्ञानी लोग एक-एक शब्द का प्रयोग बहुत सोच-समझकर करते हैं। वे जैसे पानी को छानकर पीते हैं, वैसे ही अपनी वाणी को भी छानकर बोलते हैं। (‘शास्त्रपूतं वदेत् वाक्यं, वस्त्रपूतं जलं पिबेत्’ —मनुस्मृति, 6/46)

हमारे यहाँ मृत्यु भी शोक का विषय नहीं होती, उसे वस्त्र-परिवर्तन के समान देह-परिवर्तन मात्र माना गया है, अतः ज्ञानीजन किसी की मृत्यु को भी ‘देहांत’ या ‘देहावसान’ जैसे शब्द से ही बोलते हैं, उसे ‘जीवान्त’ या ‘आत्मावसान’ नहीं कहते। तथा उसकी उठावनी आदि को भी ‘शोकसभा’ नहीं कहते, ‘वैराग्यसभा’ कहते हैं। ‘शोक-समाचार’ के स्थान पर ‘वैराग्य-समाचार’ कहना उचित समझते हैं।

इसी प्रकार से और भी बहुत-सी बातें स्वविवेक से समझी जा सकती हैं।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि जैन साधक किसी एक ही भाषा का दुराग्रह न रखकर, किसी एक भाषा को अच्छी और अन्य को बुरी न मानकर देश-काल-परिस्थिति के अनुरूप किसी भी भाषा का प्रयोग करते हैं, परन्तु वह भाषा हमेशा ऐसी ही बोलते हैं जिसमें पद-पद पर जैन संस्कृति, जैन तत्त्वज्ञान, जैन सिद्धान्त, अहिंसा, अनेकान्तवाद, अकर्तावाद, भेदविज्ञान आदि प्रतिबिम्बित एवं पोषित होते हों। उनका किंचित् भी घात होता हो—ऐसी भाषा कभी नहीं बोलते।

जैनाचार्यों का यह भाषादर्शन जैनदर्शन की व्यावहारिकता, सार्वजनिकता, सार्वकालिकता और सार्वभौमिकता को भी सिद्ध करता है, क्योंकि विशाल विश्व में त्रिकाल रहने वाले अनन्तान्त लोग कोई एक ही भाषा नहीं बोल सकते, सम्भव ही नहीं है, परन्तु सभी लोग अहिंसक भाषा बोल सकते हैं, यह संभव है, स्व-पर कल्याणकारी है, यही विश्वकल्याणकारी है। ❖❖

णमोकार मन्त्र से कर्म-निर्जरा

प्रश्न— शास्त्रों में कहा गया है कि णमोकार मन्त्र के जाप से हमारे असंख्य कर्मों की निर्जरा होती है। समझ में नहीं आता कि ऐसा कैसे होता है?

उत्तर— इसे हम एक उदाहरण के माध्यम से सरलतापूर्वक समझ सकते हैं। यथा— मान लीजिए एक वृक्ष पर एक हजार कौए बैठे हैं और किसी बालक ने उन पर एक छोटा-सा पत्थर फेंका तो अब बताइए कि क्या उससे एक हजार कौए एक साथ नहीं उड़ जाएंगे? अवश्य उड़ जाएंगे। ठीक इसी प्रकार णमोकार मन्त्र के जाप से असंख्य कर्मों की निर्जरा हो जाती है।

दूसरा उदाहरण— मान लीजिए कोई व्यक्ति सज्जनों की सभा में गन्दी-गन्दी गालियाँ बकना शुरू कर दे तो क्या होगा? सभी सज्जन वहां से उठकर चले जायेंगे। ठीक इसी प्रकार णमोकार मन्त्र के जाप से असंख्य कर्मों की निर्जरा हो जाती है।

प्रश्न— ऐसा भी कहा गया है कि णमोकार मन्त्र के जाप से सब दुःख दूर हो जाते हैं। ऐसा कैसे होता है?

उत्तर— इसमें तीन स्थितियाँ बनती हैं—

1. णमोकार मन्त्र के जाप से हमारे परिणाम विशुद्ध होते हैं, जिससे पूर्वबद्ध असाता कर्म का नाश हो जाता है या उसका सातारूप संक्रमण हो जाता है।
2. कदाचित् कोई जिनशासन के भक्त देवादिक भी सहायता करते हैं।
3. जिस प्रकार तीखी दाल में गुड़ डाल दो तो वह तीखी लगना बंद होकर खाने योग्य बन जाती है, उसी प्रकार णमोकार मन्त्र के जाप से दुःख के ऊपर से हमारा ध्यान हट जाता है।

इसी प्रकार की और भी अनेक बातें हो सकती हैं। अपेक्षा समझनी चाहिए।

जैनाचार्यों की राष्ट्रिय भावना

जैन आचार्य पूर्णतः वीतरागता के उपासक होते हैं। वे कभी भी, किसी से भी, किंचित् भी रागादि भाव करना उचित नहीं मानते। तथापि उन्होंने स्थान-स्थान पर राष्ट्र के प्रति ऐसे विचार व्यक्त किये हैं कि उनसे उनका बहुत ही गहरा राष्ट्रानुराग व्यक्त होता है। आजकल जो कुछ लोग थोड़ा-सा धर्मध्यान करते ही धर्मात्मा होने का दम्भ भरते हुए राष्ट्रप्रेम से दूर रहते हैं, उन्हें जैनाचार्यों के इन उद्गारों पर अवश्य ध्यान देना चाहिए।

आचार्य पूज्यपाद स्वामी के राष्ट्रिय भावना से भरपूर इस श्लोक से तो हम सब सुपरिचित हैं ही, जिसे प्रतिदिन पूजा के पश्चात् सभी जैन श्रावक-श्राविका नियम से बोलते हैं—

सम्पूजकानां प्रतिपालकानां, यतीन्द्रसामान्यतपोधनानाम् ।
देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञः, करोतु शान्तिं भगवान् जिनेन्द्र ॥

इस श्लोक में आचार्यदेव ने सम्पूर्ण राष्ट्र और उसके सभी अंगों की कुशलता की कामना जिनेन्द्रदेव से की है। यह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण श्लोक है। ‘शांतिपाठ’ के नाम से प्रसिद्ध इस श्लोक के अलावा शांतिधारा में भी राष्ट्र और उसके विविध अंगों की शांति की मंगल कामना की गई है, जो वास्तव में मूलतः ही पूरा पठनीय है। उसमें प्रकृति के सभी उपादान यहाँ तक कि पशु-पक्षी, पेड़-पौधे आदि की भी कल्याण-कामना की गई है। यह भी प्रत्येक जैन मन्दिर में प्रतिदिन अनिवार्य रूप से पढ़ा जाता है।

इसके अतिरिक्त आचार्य धरसेन कृत ‘विश्वलोचनकोश’ में एक महत्त्वपूर्ण श्लोक उपलब्ध होता है—

भारतं मे प्रियं राष्ट्रं, भारतं हितकारकम् ।
भारताय नमस्तुभ्यं, यत्र मे पूर्वजाः स्थिताः॥

अर्थ— भारत मेरा प्रिय राष्ट्र है। भारत हितकारक है। अहो, मैं इस भारतवर्ष को नमस्कार करता हूँ, जहाँ कि मेरे महान पूर्वज रहे हैं।

भाव यह है कि भारतवर्ष हमारे तीर्थकर आदि महान पुरुषों की अति पवित्र भूमि

है। यहाँ उन्होंने जन्म लिया है, राज्य करके प्रजा का कल्याण किया है, फिर महान तप किया है और अंत में मोक्ष को भी प्राप्त किया है, अतः यह भूमि तीर्थ के समान पूजनीय-वन्दनीय है। यहाँ आज भी लोग उनके बताए मार्ग पर चलकर सतत स्व-पर-कल्याण में लगे रहते हैं। धर्मध्यान के लिए यहाँ अनुकूल वातावरण रहता है, जो कि सदैव बना ही रहना चाहिए, उसमें कभी भी कोई व्यवधान नहीं आना चाहिए।

चामुंडराय कृत ‘चारित्रसार’ (पृष्ठ 42) में तो यहाँ तक लिखा है कि हे मुनि ! यदि राष्ट्र पर कोई आपत्ति आई हो और वह तुमसे ही दूर हो सकती हो तो तुम अपनी मुनिदीक्षा का छेद करके भी राष्ट्र की आपत्ति को दूर करो, बाद में पुनः दीक्षा ले लेना। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि जैन आचार्यों की राष्ट्रिय भावना कितनी गहरी होती है। राजाज्ञा हो तो दीक्षा का भी त्याग किया जा सकता है।

जैन आचार्यों ने राष्ट्रविरुद्ध आचरण करने का भी कठोरतापूर्वक निषेध किया है, जैसा कि तत्त्वार्थसूत्र (7/24) में भी कहा है— “विरुद्धराज्यातिक्रम.....”

आचरण ही क्या, राष्ट्रविरुद्ध कथन करने का भी जैनाचार्यों ने कठोरतापूर्वक निषेध किया है। यदि कदाचित् कोई मुनि राष्ट्रविरुद्ध कथन कर दे तो संघ के आचार्य उसे राज्य की सीमा से पार चले जाने का दंड देते हैं, जिसे शास्त्रों में ‘पारंक्षिक प्रायश्चित्त’ कहा गया है।

इसीप्रकार पं. टेकचंदजी भी ‘सुदृष्टितरंगिणी’ में लिखते हैं—

धम्मसभा णिव पंच य जादी लोगा य बंधुवग्गाणी ।

इणविरुधं वच करदि स च सठ लोगणिंद दुखलहो ॥ 100 ॥

भावार्थ— जो व्यक्ति राज्य के विरुद्ध बोलता है, वह शठ है, लोकनिंद्य है, दुःखभागी है।

आचार्य वसुनंदीजी महाराज ने ‘रट्टसंति महाजग्गो’ (राष्ट्रशान्ति महायज्ञ) ग्रन्थ भी लिखा है। इसमें 86 गाथाओं में राष्ट्रकल्याण की अनेक बातें लिखी हैं।

देश को स्वतंत्र कराने में भी जैनों की बड़ी भारी भूमिका रही है। इस विषय की विशेष जिज्ञासा हेतु देखें डॉ. कपूरचंद जैन की कृति ‘स्वतन्त्रता संग्राम में जैन’।

भारतीय संविधान की पुस्तक में भी तीर्थंकर भगवान महावीर का चित्र प्रकाशित किया गया है और कहा गया है कि इन्हीं के अहिंसादि आदर्शों पर चलकर हमारा देश स्वतंत्र हुआ है।

इसी बात को राष्ट्रकवि रामधारीसिंह दिनकर ने भी एक कविता में कहा है— “वैशाली जन का प्रतिपालक गण का आदि विधाता। जिसे ढूँढ़ता देश आज वह प्रजातंत्र की माता”।

भारतीय संविधान में प्रयुक्त ‘संसद’ और ‘सर्वोदय’ शब्द भी जैन शास्त्रों (क्रमशः

स्वयम्भूस्तोत्र 97 और युक्त्यनुशासन 61) से गृहीत हैं।

अमरचंद दीवान, भामाशाह, महात्मा गाँधी आदि अनेक जैनों की राष्ट्रभक्ति से तो हम सब परिचित हैं ही। भामाशाह ने मंदिर के लिए जोड़ा हुआ सारा धन महाराणा प्रताप के चरणों में रख दिया था। प्रताप बोले— “अरे, फिर मंदिर कैसे बनेगा?” भामाशाह ने उत्तर दिया— “मातृभूमि रही तो मंदिर 100 बन जाएँगे और यदि वही न बची तो मंदिर का क्या करेंगे?”

“यदि सब लोग जैन-जीवनशैली का प्रयोग करें तो देश में एक पुलिस चौकी की भी जरूरत नहीं पड़े।”

—ज्ञानी जैलसिंह

जैनों की राष्ट्र सेवा आज भी विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने हजारों विद्यालय, चिकित्सालय आदि खोले हैं। जैन सदा ही लगभग सभी क्षेत्रों में राष्ट्र की सेवा में अग्रणी रहे हैं और रहना भी चाहिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वीतरागी जैन सन्तों में भी बहुत गहरा राष्ट्रानुराग भरा रहता है और जब उन सन्तों में ही इतना राष्ट्रानुराग है तो गृहस्थ श्रावकों में तो कितना अधिक राष्ट्रानुराग होता होगा। सभी जैन श्रावक पूर्णतया राष्ट्रभक्त होते हैं। राष्ट्रिय संविधान और राष्ट्रध्वज आदि सभी राष्ट्रिय प्रतीकों में उनकी हार्दिक आस्था होती है, वे कभी स्वप्न में भी इनके विरुद्ध चिन्तन नहीं करते, इनके विरुद्ध आचरण करने की तो बात ही बहुत दूर है।

इतिहास साक्षी है कि जैन लोग राजा विपरीत हो तो भी उससे तालमेल बिठाकर चलने का ही प्रयास करते हैं। जैसे कि बनारस में एक जैन ने गंगा/गाय/सूर्य का आदर सिद्ध किया।

शंका— क्या शासन/राजा की सभी रीति-नीतियों को आँख मीचकर स्वीकार कर लेना चाहिए, चाहे वह बहुत गलत ही हो?

समाधान— यदि कोई आदेश/रीति-नीति गलत हो तो उसे विधिसम्मत तरीके से निवेदन-प्रतिवेदन की भाषा में अवश्य ही शासन/राजा तक पहुँचाना चाहिए, किन्तु जब तक उसमें संशोधन न हो तब तक उसका उल्लंघन करना उचित नहीं है। अपने सम्यक्त्व एवं व्रतों की रक्षा में असुविधा उत्पन्न हो रही हो तब भी देश-काल-परिस्थिति देखकर कुशलता से काम चलाना चाहिए। यही जैनाचार्यों का निर्देश है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि जैन धर्म-दर्शन एक राष्ट्रवादी धर्म-दर्शन है। दुनिया के अनेक धर्म-दर्शन जहाँ राष्ट्र को कोई महत्त्व नहीं देते, वहीं जैन धर्म राष्ट्र को अत्यधिक महत्त्व देता है। जैनाचार्यों ने अपने ग्रन्थों में यत्र-तत्र राष्ट्र के सर्वविध कल्याण की कामना की है। जैन धर्म अपने अनुयायियों को भी राष्ट्र की हरसम्भव सेवा की प्रेरणा देता है।

❖❖

ज्ञान और आनन्द के महत्त्व को रेखांकित करती है दीपावली

दीपावली कब से और क्यों मनाई जाती है— इस विषय को फिलहाल छोड़ दें तो भी इसमें कोई सन्देह नहीं है कि दीपावली भारतीय संस्कृति का एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पर्व है और उसे आज भी सर्वत्र बड़े ही उत्साहपूर्वक मनाया जाता है। दीपावली आज भी पर्वों का राजा है।

विचारणीय है कि दीपावली का इतना अधिक महत्त्व क्यों है और उसका मूल सन्देश क्या है?

उत्तर— मेरी दृष्टि में दीपावली का मूल सन्देश यही है कि हम अपने जीवन में ज्ञान और आनन्द— इन दो चीजों का महत्त्व समझें, बड़ी ही गंभीरतापूर्वक समझें, क्योंकि दीपावली ज्ञान और आनन्द का पर्व है।

हम अपने घर की, बाहर की हर छोटी-मोटी चीज का महत्त्व समझते हैं, चाहे वह जड़ अचेतन ही हो, अपनी टूटी-फूटी चप्पल और रद्दी अखबार की भी कीमत समझते हैं; पर दीपावली कहती है कि आज तुम्हें ज्ञान और आनन्द का महत्त्व समझना होगा। दीपक ज्ञान का प्रतीक है, मिठाइयाँ आनन्द का प्रतीक है।

दीपावली का मूल सन्देश यह है कि जिस जीवन में ज्ञान और आनन्द है, वही जीवन वास्तविक जीवन है, उत्तम जीवन है। तथा जिस जीवन में ज्ञान और आनन्द नहीं है, वह जीवन जीवन नहीं, मरण है। सचमुच ही मरण है। ऐसा व्यक्ति तो चलता-फिरता शव है।

अतः अपने और दूसरों के जीवन में से अज्ञान एवं दुःख को दूर करना और ज्ञान एवं आनन्द को प्राप्त करना-कराना ही सही अर्थों में दीपावली मनाना है।

यद्यपि हम सभी जानते और कहते तो रहते हैं कि जीवन में ज्ञान और आनन्द का बड़ा महत्त्व है, परंतु फिर भी हम देखते हैं कि हमारे जीवन में ज्ञान और आनन्द की बहुत उपेक्षा होती रहती है। हम हर छोटी से छोटी चीज का महत्त्व/मूल्य समझ लेते हैं, उनकी हानि नहीं होने देते हैं; पर ज्ञान और आनन्द को जीवन में सर्वोपरि

नहीं रख पाते। तभी तो बारंबार ज्ञानाराधना छोड़कर जड़ भौतिक पदार्थों के चक्कर में उलझ जाया करते हैं। और इसीतरह अपने आनन्द स्वभाव को भूलकर व्यर्थ ही छोटी-छोटी बात पर दुःख मनाने लग जाते हैं। दीपावली हमें पुनः-पुनः याद दिलाने आती है कि जीवन में ज्ञान और आनन्द का महत्त्व समझो। जीवन रोटी-कपड़ा, सोना-चाँदी, नौकर-चाकर से नहीं सँवरता; ज्ञान से सँवरता है, ज्ञान से पवित्र विश्व में अन्य कुछ भी नहीं है—

‘न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।’ —गीता

“ज्ञान समान न आन जगत में सुख को कारण।

इह परमामृत जन्म जरा मृत रोग निवारन ॥” —छहढाला 4/3

ज्ञान की तरह आनन्द भी जीवन का एक बड़ा भारी मूल्य है। दीपावली हमें कहती है कि सदा आनन्दित रहो, कभी दुःखी मत होओ, चाहे कुछ भी हो जाए, आनन्द तुम्हारा स्वभाव है। खेद, ताप, संताप, तनाव, शोक, चिन्ता, भय आदि सब दुःख के ही विविध प्रकार हैं और तुम इन सबसे ऊपर उठकर सदैव आनन्द की आराधना में लगे रहो।

इसप्रकार दीपावली ज्ञान और आनन्द के महत्त्व को ही रेखांकित करनेवाला महापर्व है। काश, हम सब इसके इस मूल सन्देश को भलीभाँति सुनें-समझें।



ज्ञान और आनन्द का महत्त्व

1. “धन समाज गज बाज राज तो काज न आवै।
ज्ञान आपको रूप भये, फिर अचल रहावै।।” —छहढाला 4/6
2. “धन कन कंचन राज सुख, सबहि सुलभ कर जान।
दुर्लभ है संसार में, एक यथार्थ ज्ञान।।” —भूधरदास, बारह भावना
3. “निशि का दीपक चन्द्र है, दिन का दीपक भान।
कुल का दीपक पुत्र है, तिहुं जग दीपक ज्ञान।।”
4. “विद्याधनं सर्वधन प्रधानम् = ज्ञान ही सबसे बड़ा धन है।”
5. “न हि विषादो विधेयात्र तद्धि वैदुष्यजं फलम्।”
अर्थ— ज्ञान का फल यही है कि कभी विषाद न हो। —पांडवपुराण
6. “जं चिंतदि साणंदं तं धम्मं उत्तमं ज्ञाणं।” —कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 480
7. “बाहर नारककृत दुख भोगे, अंतर सुखरस गटागटी।” —दौलत-विलास, 81
8. “तत् ज्ञानं यत् प्रतिसमयमानन्दायते।”
9. “सदा दिवाली सन्त के, आठ पहर आनन्द।”
10. “आनन्द स्रोत बह रहा, मन क्यों उदास है।
पानी में रहकर भी अरे, मछली को प्यास है।”

दीपावली वीतरागता का पर्व है

प्रतिवर्ष दीपावली का पर्व आता है, मगर हम उसे सारी दुनिया के अन्धप्रवाह में बहते हुए अज्ञानतापूर्वक मनाकर यूँ ही अलविदा कर देते हैं। उससे आगे असली दीपावली मनाने के बारे में तनिक सोचते तक नहीं हैं, जबकि परमार्थ से दीपावली वीतरागता का पर्व है।

स्व-पर-भेदविज्ञान के द्वारा सम्यग्ज्ञानी बनकर केवलज्ञानी बन जाना ही वास्तविक दीपावली मनाना है। सम्यग्ज्ञान ही सच्चा दीप है और सम्यग्ज्ञान ही सच्ची लक्ष्मी है, क्योंकि सम्यग्ज्ञान ही हमें वास्तविक प्रकाश और वैभव प्रदान करता है, इसलिए सम्यग्ज्ञान की उपासना करना ही वास्तविक दीपावली मनाना है।

बाहर की दीपावली को ही सब कुछ समझना, बाहर के फुलझड़ी पटाखों एवं मिठाइयों में ही संतुष्ट होना बहिरात्मा का काम है। अंतरात्मा कभी बाहर की दीपावली में नहीं उलझता। वह तो अपने अंतर में इस प्रकार की असली दीपावली मनाता है—

अब के ऐसी दीवाली मनाऊँ, कबहूँ फेर न दुखड़ा पाऊँ। टेक।
 आन कुदेव कुरीति छांड के, श्री महावीर चितारूँ।
 राग-द्वेष का मैल जलाकर, उज्ज्वल ज्योति जगाऊँ॥
 अपनी मुक्ति-तिया हरषाऊँ.....। 1।
 निज अनुभूति महालक्ष्मी का, वास हृदय करवाऊँ।
 निज गुण लाभ-दोष टोटे का, लेखा ठीक लगाऊँ॥
 जासों फेर न टोटा पाऊँ.....। 2।
 ज्ञान रतन के दीप में, तप का तेल पवित्र भराऊँ।
 अनुभव ज्योति जगा के मिथ्या, अंधकार विनसाऊँ॥
 जासों शिव की गैल निहारूँ। 3।
 अष्ट करम का फोड़ पटाखा, विजयी जिन कहलाऊँ।
 शुद्ध-बुद्ध सुखकन्द मनोहर, शील स्वभाव लखाऊँ।
 जासों शिवगौरी विलसाऊँ.....। 4।

तात्पर्य यह है कि ज्ञानी जीव दीपावली को वीतरागता का ही महापर्व मानते

हैं और उसमें वीतरागता का पोषण करते हुए इस प्रकार मनाते हैं कि पुनः संसार-भ्रमण के दुःख न भोगने पड़ें। वे कुदेवादि की आराधना रूप सर्व कुरीतियों का त्याग करके श्री महावीर जिनेन्द्र का स्मरण करते हैं और राग-द्वेष की मलिनता को जलाकर वीतरागता की ऐसी उज्ज्वल ज्योति जलाते हैं कि मुक्तिरूपी लक्ष्मी प्रसन्न हो जाती है।

ज्ञानी जीव आत्मानुभूति को ही मोक्षलक्ष्मी मानते हैं और आज के दिन उसी को अपने हृदय में विराजमान करते हैं। वे अपने लाभ-हानि का सारा लेखा-जोखा भी अपने भले-बुरे परिणामों के आधार पर ही लगाते हैं, ताकि पुनः कभी जीवन में टोटा/घाटा न हो। जो लोग अपने परिणामों का लेखा-जोखा नहीं लगाते, केवल दुकान, व्यापार के बहीखातों का ही हिसाब लगाते रहते हैं, वे जीवन में बहुत घाटे में रहते हैं। वे दीपावली को सही रूप में नहीं मनाते, क्योंकि परमार्थ से दीपावली वीतरागता का पर्व है।

ज्ञानी जीव आज के दिन अपने ज्ञानरूपी रत्नदीप में संयम तपादि का तेल भरते हैं और फिर आत्मानुभूति की ऐसी दैदीप्यमान ज्योति जलाते हैं कि अनादिकालीन सम्पूर्ण मिथ्या अंधकार दूर भाग जाता है और सम्पूर्ण मोक्षमार्ग स्पष्ट दिखाई दे जाता है।

इसके बाद ये ज्ञानी जीव अष्टकर्मों का पटाखा फोड़कर विजयी जिन हो जाते हैं और फिर अपने शुद्ध-बुद्ध सुखकन्द मनोहर आत्मस्वभाव में लीन होकर सिद्धशिला में विराजमान होते हैं। वहाँ वे जन्म-जरा-मृत्यु के चक्र से मुक्त होकर अनंतकाल तक सुख भोगते हैं।

इस प्रकार यह अत्यन्त स्पष्ट है कि परमार्थ से दीपावली वीतरागता का ही पर्व है और ज्ञानी जीव उसे उसी प्रकार वीतरागता की अधिकाधिक आराधना करते हुए मनाते हैं। इस युग के अन्तिम तीर्थंकर देवाधिदेव 1008 श्री महावीर स्वामी ने दीपावली के महापर्व को इसी प्रकार अष्टकर्म का पटाखा फोड़कर मनाया था और उनके परमशिष्य गौतमस्वामी ने भी दीपावली के पर्व को केवलज्ञानरूपी महादीपक प्रज्वलित करके मनाया था। यदि हम भी वास्तविक सुख-शांति चाहते हैं तो हमें भी इसी प्रकार दीपावली मनाना चाहिए तथा दीपावली को वीतरागता का महापर्व मानकर यथाशक्ति वीतरागता की ही उपासना करनी चाहिए। ❖❖

दीपक का महत्त्व

अस्त हो रहा सूर्य सोचता, मेरा कार्य करेगा कौन?
अंधकार के महा उदधि में, ज्योति प्रकाश भरेगा कौन?
सभी निरुत्तर थे आतुर थे, सभी दीखते थे असहाय।
तभी एक नन्हा-सा दीपक, बोला बनकर विश्व सहाय।।
यद्यपि मैं छोटा मिट्टी का, और क्षणिक हूँ मेरे प्राण।
किन्तु अंतिम सौंस करूंगा, मैं प्रकाश का ही गुणगान।।

—रवीन्द्रनाथ टैगोर की कविता का हिन्दी-अनुवाद

विजयादशमी भी मूलतः जैन पर्व प्रतीत होता है

विजयादशमी को वर्तमान में हिन्दुओं का एक विशिष्ट पर्व माना जाता है जो दशहरा के नाम से भी प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि इस दिन रावण का वध हुआ था और राम की विजय हुई थी, अतः इसे ‘विजयादशमी पर्व’ के रूप में मनाया जाता है।

हम यहाँ यह नहीं कहना चाहते कि उक्त धारणा सर्वथा झूठ है। यह भी सत्य होगी, पर शोध-खोज से प्राप्त हुई एक विशेष जानकारी अपने पाठकों को अवश्य देना चाहते हैं कि यह विजयादशमी पर्व राम-रावण के समय से भी अत्यधिक प्राचीन है और इनके पहले भी इसे भारतवर्ष में बड़े उत्साहपूर्वक मनाया जाता था।

हमारे इस शोधपूर्ण अध्ययन का आधार कन्नड़ भाषा के महाकवि रत्नाकर द्वारा रचित ‘भरतेश-वैभव’ (रचनाकाल सन् 1551 ई.) का द्वितीय अधिकार ‘दिग्विजय सन्धि’ है। विशेष जिज्ञासु जन उसे पूरा पढ़कर अपनी जिज्ञासा शान्त कर सकते हैं। हम यहाँ अपने विषय से सम्बन्धित तथ्यों को उस ग्रन्थ के आधार से अति संक्षेप में प्रस्तुत कर रहे हैं। यथा—

“एक दिन की बात है कि भरतेश आनन्दपूर्वक अपने राजभवन में विराजमान हैं। इतने में ही अकस्मात् बुद्धिसागर मन्त्री उनके पास आये और बोले— हे स्वामी! शस्त्रालय में बाल सूर्य के समान चक्ररत्न का उदय हुआ है, अतः आप दिग्विजय हेतु प्रस्थान का विचार करें। सम्राट् भरतेश ने यह समाचार सुनकर उस मन्त्री को अनेक वस्त्राभूषण भेंट में दिये और आज्ञा दी कि शुभ मुहूर्त में दिग्विजय हेतु प्रस्थान की तैयारी करो।

इसके बाद भरतेश ने नौ दिन तक नगर के जिनमन्दिरों में बड़े ही उत्साह के साथ महान पूजा-आराधना का आयोजन किया। इन दिनों नगर की शोभा देखते ही बनती थी। सर्वत्र मन्दिरों में अनेक पूजन-विधान हो रहे थे। सभी नागरिक अभिषेक-पूजनादि में तल्लीन थे। सेना के योद्धा भी अपने अस्त्र-शस्त्रों की बड़े अनुराग से पूजा कर रहे थे। उत्साहपूर्वक रात्रि-जागरण हो रहे थे, जिनमें गीत-संगीत इन्द्रजाल आदि कलाओं का प्रदर्शन हो रहा था।

इस प्रकार नौ दिन की महापूजा के उपरान्त भरतेश ने दशमी को वीरलग्न के शुभ मुहूर्त में चक्ररत्न एवं भारी सेना के साथ दिग्विजय हेतु प्रस्थान किया।”

‘भरतेश वैभव’ में उपलब्ध इस विवरण से प्रतीत होता है कि विजयदशमी का यह पर्व सर्वप्रथम भरत चक्रवर्ती ने ही मनाया था और तभी से आज तक यह लोक में प्रचलित रहा है।

तथा यदि ऐसा है तो इससे यह भी ज्ञात होता है कि विजयादशमी भी मूलतः एक जैनपर्व रहा है और कालान्तर में जैनो द्वारा उपेक्षित होकर मात्र हिन्दुओं का कहलाने लग गया है।

हमारे उक्त मत की पुष्टि राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर के इतिहास विभाग के सेवानिवृत्त आचार्य प्रो. योगेशचन्द्र शर्मा के शोधपत्र ‘रामकथा के कुछ विवादास्पद प्रसंग’ से भी होती है, जिसमें उन्होंने यह सिद्ध किया है कि दशहरा-दीपावली का रामकथा से कोई सम्बन्ध नहीं है, अपितु इन त्योहारों की लोकप्रियता के कारण ही सम्भवतः कालान्तर में इनके साथ रामकथा को जोड़ दिया गया है। यथा—

“सामान्य जनधारणा यह है कि रावण की मृत्यु विजयादशमी को हुई तथा उसके बाद दीपावली के दिन राम वापिस अयोध्या लौटे थे। तथ्यों को देखते हुए ये दोनों ही बातें गलत प्रतीत होती हैं। रामायण के अयोध्या कांड, तृतीय सर्ग-4 के अनुसार मूलतः राम का राज्याभिषेक चैत्र मास में होना तय हुआ था और उसी माह उन्हें चौदह वर्षों के लिए वनवास जाना पड़ा था। इसके अनुसार चौदह वर्ष भी चैत्र मास में ही पूरे होते हैं, अश्विन या कार्तिक में नहीं। रावणवध भी चैत्र में ही हुआ था। रावणवध के बाद उसकी अंत्येष्टि तथा विभीषण के राज्यारोहण में थोड़ा ही समय लगा, क्योंकि राम को भरत की चिन्ता हो रही थी। उधर वनवास की अवधि भी पूरी होने को थी और उन्हें निश्चित समय पर अयोध्या पहुँचना था, अन्यथा भरत के प्राण त्याग देने की आशंका थी, इसलिए राम ने विभीषण के इस आग्रह को भी स्वीकार नहीं किया कि वे कुछ दिन लंका का आतिथ्य स्वीकार करें। तब विभीषण ने उन्हें पुष्पक विमान से भेजा, जिसमें वे भारद्वाज आश्रम में पहुँचे। वह दिन चैत्र शुक्ल पंचमी का था। इस प्रकार चैत्र में ही रावणवध हुआ और इसी माह में राम वापिस अयोध्या आ गये। इस घटना से यही प्रतीत होता है कि दशहरा तथा दीपावली का रामकथा से कोई सम्बन्ध नहीं है, इन त्योहारों की लोकप्रियता के कारण ही सम्भवतः कालान्तर में इनके साथ रामकथा को जोड़ दिया गया।”

—रामकथा के कुछ विवादास्पद प्रसंग, प्रो. योगेशचन्द्र शर्मा,
वैचारिकी, शोधपत्रिका, मार्च-अप्रैल 2013, पृष्ठ 22
भारतीय विद्या मन्दिर, कोलकाता

कतिपय शंका-समाधान-

शंका— आज के दिन तो भरत ने दिग्विजय हेतु प्रस्थान किया था, युद्ध हेतु प्रस्थान किया था, इसमें पर्वपना क्या हुआ?

समाधान— ऐसे तो राम की रावण पर विजय मानने पर भी पर्वपना क्या हुआ? खैर, उसे छोड़िए। यहाँ तो वास्तव में किसी युद्ध हेतु प्रस्थान नहीं किया जा रहा था। पूरी दिग्विजय में कहीं किसी का एक बूँद भी खून नहीं बहा था। यह तो वास्तव में प्रजा के सर्वतोन्मुखी विकास हेतु किया गया एक सुन्दर अभियान था, जिसमें भरत के नेतृत्व में जनता को उत्तम शिक्षाएँ दी जा रही थीं, कर्मभूमि के योग्य संस्कार दिए जा रहे थे। उन्हें अंक, लिपि, कृषि, वाणिज्य आदि सभी आवश्यक कार्यों की शिक्षा दी जा रही थी। सम्पूर्ण देश को संगठित करके उसका विकास किया जा रहा था। इसे युद्ध की दृष्टि से देखना उपयुक्त नहीं है। इसे तो एक प्रकार से धर्मचक्र का ही प्रवर्तन समझना चाहिए। इस विषय की विस्तृत जानकारी हेतु डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल द्वारा रचित ‘भरत का अन्तर्द्वन्द्व’ पठनीय है।

शंका— शास्त्रों के अनुसार शस्त्रागार में चक्ररत्न प्रकट होने की सूचना तो फाल्गुन कृष्ण एकादशी को आई थी, जिस दिन ऋषभदेव को केवलज्ञान की भी प्राप्ति हुई थी। उसमें और आजतक के समय में तो लगभग सात माह का अंतर है। ऐसा क्यों?

समाधान— हाँ, यह अंतर तो है, पर यह कोई बड़ी बात नहीं है, क्योंकि दिग्विजय जैसे महान कार्य के लिए पूरी तैयारी के साथ ही प्रस्थान करना आवश्यक था और वह भी कोई शुभ मुहूर्त देखकर ही प्रस्थान करना आवश्यक था। अतः सात माह व्यतीत होना कोई बड़ी बात नहीं है। आज से पहले लगभग चार माह का तो वर्षाकाल ही था, उसमें दिग्विजय हेतु कैसे प्रस्थान किया जा सकता था?

शंका— विजया दशमी को जैन पर्व सिद्ध करके आप क्या कहना चाहते हैं? क्या आज जैन समाज को यह पर्व मनाना चाहिए? यदि हाँ तो कैसे?

समाधान— देखो भाई, मैं तो शोधछात्र हूँ और मैं तो केवल प्राप्त होनेवाले नवीन तथ्यों को आपके सामने प्रस्तुत भर कर रहा हूँ। लोक में आज विजयादशमी के सम्बन्ध में मात्र इतना समझा जाता है कि इसका सम्बन्ध रावण पर राम की विजय से है, किन्तु उपलब्ध तथ्य बता रहे हैं कि इसका सम्बन्ध भरत की दिग्विजय से है। यहाँ मेरा उद्देश्य उन्हीं तथ्यों को सप्रमाण प्रस्तुत करना है, अन्य कुछ नहीं। वह भी एकदम अनाग्रह भाव से प्रस्तुत किया जा रहा है। यदि कोई अन्य व्यक्ति बाद में अन्य कुछ सिद्ध करता है तो वह स्वागत योग्य है। रही बात इस पर्व को मनाने की, सो प्रत्येक जैनपर्व धर्म प्रभावना करके ही मनाये जाते हैं।



श्रुत पंचमी मनाने की उत्तम विधि

श्रुत पंचमी मनाने की विधि वर्तमान में सामान्यतया ऐसी प्रचलित है कि आज के दिन हम एक ग्रन्थ को वेस्टन में बाँधते हैं, सजाते हैं और उसे वेदी में विराजमान करके उसकी पूजा करते हैं, उसके आगे अष्ट द्रव्य चढ़ाते हैं। इसके बाद उसे पुनः किसी पालकी में विराजमान करते हैं, बोलियाँ लगाते हैं और उसका भव्य जुलूस निकालते हैं। अंत में हम उसे पुनः मन्दिर में विराजमान कर देते हैं।

मैं यह नहीं कहना चाहता हूँ कि यह सब गलत है और नहीं होना चाहिए। इसका भी अपना महत्त्व है, इससे भी हमारे समाज का, छोटे-छोटे बच्चों तक का भी बड़ा हित होता है। परन्तु आज तो मैं यह कहना चाहता हूँ कि यह कार्यक्रम पर्याप्त नहीं है, इसे करके हमें अपने कर्तव्य की इतिश्री हुई ऐसा नहीं समझ लेना चाहिए, और इससे आगे भी अवश्य बढ़ना चाहिए, तभी हम श्रुत पंचमी को उत्तम विधि से मना सकेंगे।

श्रुत पंचमी को मनाने की उत्तम विधि क्या हो सकती है—इसका निर्देश मुझे निम्नलिखित गाथा में दिखाई देता है, जो जैन आगमों की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गाथा है और अनेक ग्रन्थों में उद्धृत मिलती है। यद्यपि इस गाथा के मूल कर्ता/रचयिता का आज कुछ पता नहीं चलता है, किन्तु यह गाथा प्राचीन काल से ही निरन्तर पढ़ी-पढ़ाई जाती रही है। वर्तमान में यह गाथा भगवती आराधना (टीका 154), मूलाचार (टीका 156), अनगार धर्मावृत्त (1/12), पंचाध्यायी (उत्तरार्ध 804) आदि अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होती है। गाथा मूलतः इस प्रकार है—

“आदहिदं कादव्वं, जदि सक्कदि परहिदं पि कादव्वं ।

आदहिद-परहिदादो, आदहिदं सुट्ठु कादव्वं॥”

अर्थ— आत्महित करना चाहिए, यदि सम्भव हो तो परहित भी करना चाहिए, किन्तु आत्महित और परहित में से आत्महित को ही अच्छी तरह से करना चाहिए।

इससे यह अत्यन्त स्पष्ट है कि आज श्रुत पंचमी के दिन हमें स्व और पर दोनों के हित-हेतु कुछ ठोस एवं आवश्यक कार्य करने का उद्यम करना चाहिए, तभी हम

श्रुत पंचमी को उत्तम विधि से मना सकेंगे।

इनमें से सर्वप्रथम तो आज के दिन हमें स्वयं किसी मूल आगम ग्रन्थ का विशुद्ध आत्महित की भावना से स्वाध्याय करना चाहिए। देखा जाता है कि लोग सारा उत्सव मना लेते हैं, ग्रन्थ की पूजा आदि भी कर लेते हैं, पर उन्हें खोलकर देखते तक नहीं, जो एक बड़ी विडम्बना ही है। अरे भाई, जिनवाणी को पढ़ना ही उसकी सच्ची पूजा है। अतः एक तो हमें स्वयं के हित के लिए स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए, तभी हमारा श्रुत पंचमी मनाना सार्थक होगा।

दूसरे, आज के दिन हमें जिनवाणी को व्यापक स्तर पर विश्व में पहुँचाने का उद्यम भी अवश्य करना चाहिए। जैन ग्रन्थ ज्ञान-विज्ञान के भण्डार हैं, किन्तु लोगों को उनका पता ही नहीं है। आज के दिन हमें जैन साहित्य को जैनेतर विद्वानों, शोधार्थियों, वैज्ञानिकों, राजनेताओं आदि तक भी पहुँचाने का कोई-न-कोई उद्यम अवश्य करना चाहिए। यह भी हमारा एक अनिवार्य दायित्व है, पुनीत कर्तव्य है, क्योंकि हमारे पूर्वजों ने बड़े कष्ट उठाकर इस जिनवाणी को हम तक पहुँचाया है। हमें इसे आगे ट्रांसफर करना अत्यन्त आवश्यक है। तभी इसकी ठीक से रक्षा हो सकेगी।

इस प्रकार मैं समझता हूँ कि आज के दिन हमें आत्महित और परहित दोनों के लिए ही थोड़ा बहुत कुछ-न-कुछ ऐसा अवश्य करना चाहिए, जिससे जिनवाणी की आराधना फलवती हो। यही श्रुत पंचमी मनाने की उत्तम विधि है।

किन्तु यहाँ एक विशेष बात यह भी है कि परहित के कार्य सभी लोग नहीं कर सकते, कोई-कोई कुशल व्यक्ति ही कर सकते हैं, तभी तो मूल गाथा में भी ‘जदि सक्कदि’ शब्दों का प्रयोग किया है; अतः सामान्य जनता को तो मेरा यही परामर्श है कि वे पूरी तरह आत्महित में प्रवृत्त हों, दूसरों की अधिक चिन्ता न करें, आज के दिन जितना भी सम्भव हो सके खूब स्वाध्याय करें। आपको पूर्णतः आत्महित में समर्पित देखकर ही दूसरे लोग अपना आत्महित कर लेंगे और उससे वह परहित का कार्य भी सहज ही सम्पन्न हो जाएगा। आपका जीवन ही आपका सन्देश बन जाएगा, जैसा कि महात्मा गाँधी भी कहते थे— मेरा जीवन ही मेरा सन्देश है। वास्तव में देखा जाए तो हमें परहित के कार्य भी आत्महित की भावना से ही करने चाहिए, एकान्ततः परोन्मुखी दृष्टि ठीक नहीं है। जैनाचार्यों ने स्वयं भी, जिनवाणी लिखने का कार्य भी आत्महित की भावना को ही मुख्य रखकर किया है— ‘णियभावणा-णिमित्तं’ (नियमसार), ‘मम परमविशुद्धिः’ (समयसार टीका) इत्यादि। अतः हम भी आत्महित की मुख्यता से ही श्रुत पंचमी को मनाएँ, यही मेरी भावना है। मुझे विश्वास है कि हमारा श्रुत पंचमी मनाना सार्थक हो जाएगा।



क्षमावाणी पर्व : एक अनुशीलन

क्षमावाणी पर्व का वैशिष्ट्य

यूँ तो हमारा देश पर्वों का ही देश है। यहाँ इतने अधिक पर्व होते हैं कि एक कहावत ही बन गई है— ‘सात वार, नौ त्योहार’ अर्थात् एक सप्ताह में दिन तो सात ही होते हैं किन्तु त्योहार (पर्व) नौ-दस तक भी हो जाते हैं। हम प्रायः देखते ही हैं कि एक ही दिन में दो-दो पर्व आ जाते हैं।

किन्तु क्षमावाणी का यह पर्व अनेक अर्थों में अन्य सभी पर्वों से बहुत अलग है। अन्य पर्वों पर जहाँ हम मित्रों के घर जाते हैं, उन्हें गले लगाकर मुबारकवाद देते हैं, वहीं आज इस क्षमावाणी पर्व के दिन हमें शत्रुओं के घर जाना होता है, उन्हें गले लगाना होता है और उनके एवं अपने मनोमालिन्य को पूरी तरह धोना होता है। तथा यह कार्य आसान नहीं है, छोटा भी नहीं है, इसीलिए क्षमावाणी को ‘महापर्व’ कहा जाता है।

इसीप्रकार जगत् के प्रायः अन्य सभी पर्व किसी-न-किसी व्यक्तिविशेष या घटना-विशेष से सम्बन्धित हैं और उसी की स्मृतिस्वरूप मनाए जाते हैं। जैसे—होली, दीपावली, दशहरा, रामनवमी, जन्माष्टमी इत्यादि। परन्तु यह क्षमावाणी महापर्व किसी भी व्यक्ति या घटना विशेष से सम्बन्धित नहीं है। इसका सम्बन्ध तो विशुद्ध रूप से अपने मनोभावों की मलिनता दूर करने से है।

क्रोध सदा सर्वत्र सभी के लिए अहितकारी है और क्षमा सदा सर्वत्र सभी के लिए हितकारी है— बस, यही सार्वकालिक, सार्वभौमिक और सार्वजनिक सन्देश है इस क्षमावाणी महापर्व का। अतएव यह सही अर्थों में महापर्व है, पर्वराज है।

क्षमावाणी पर्व की प्रासंगिकता

इस पर्व की प्रासंगिकता भी दुनिया में कभी खत्म नहीं हो सकती। आधुनिक युग में भी क्रोध की तीव्रता के कारण अनेकानेक अपराध घर में, समाज में, सड़क आदि स्थानों पर प्रायः प्रतिदिन हो रहे हैं जिनसे हम सभी समाचार-पत्रों द्वारा भलीभाँति परिचित हैं। अतः क्षमावाणी विश्वकल्याण का शाश्वत पर्व है। वैश्वीकरण के इस दौर में इसे ‘विश्व-पर्व’ की संज्ञा और मान्यता प्रदान की जा सकती है।

क्षमा का जीवन के हर क्षेत्र में असाधारण महत्त्व है। क्रोधी व्यक्ति रात-दिन जलता-भुनता रहता है, स्वयं को और दूसरों को भी सदा संतप्त करता रहता है, कोई कार्य ठीक से नहीं कर पाता। उसका आध्यात्मिक जीवन तो दूर, लौकिक जीवन भी सहज नहीं रह पाता। किन्तु क्षमावान् जीव सदा सुख-चैन की साँसें लेता रहता है, कैसी भी प्रतिकूल स्थिति हो, विचलित नहीं होता। क्षमाभाव से उसका मन सदा हल्का, शांत और प्रफुल्लित रहता है, अतः वह सहज ही सर्व कार्यों की सिद्धि में सफल हो जाता है।

जीवन में उन्नति हेतु मन की सहज संतुलित स्थिति सर्वप्रथम आवश्यक है और इसके लिए यह क्षमावाणी महापर्व रामबाण औषध सिद्ध हो सकता है, इसी से बात-बात पर क्रोधित हो उठने की हमारी मानसिक दुर्बलता का ठीक से उपचार हो सकता है।

क्षमावाणी महापर्व का पावन सन्देश है कि क्रोध का पूर्णतः त्याग करके क्षमाभाव धारण करो। यहाँ ‘क्रोध का पूर्णतः त्याग करके क्षमा भाव धारण करो’— का सूक्ष्म अभिप्राय यह भी है कि क्रोधादि सर्व कषायों को त्यागकर क्षमादि सर्व पवित्र भावों को धारण करो, क्योंकि यहाँ ‘क्रोध’ पद वस्तुतः सर्व कषायों का और ‘क्षमा’ पद सर्व निर्मल भावों का प्रतिनिधि है। जो व्यक्ति क्रोध को पूर्णतः त्याग देता है, निश्चय ही उसके जीवन में सर्व कषायों का अभाव हो जाता है और वह क्षमादि सर्व निर्मल भावों को समीचीन रूप से धारण कर लेता है।

किन्तु एक साधारण मनुष्य का क्रोध से पूर्णतः बच पाना अत्यन्त कठिन है, लाख कोशिश करने पर भी मन खेद-खिन्न हो ही जाता है, जो कि वैर, झुंझलाहट आदि के समान क्रोध का ही एक प्रकार है। अतः एतदर्थ विभिन्न चरणों में किया गया सतत प्रयास बड़ा उपयोगी सिद्ध हो सकता है। जिस प्रकार हम पूरी कोशिश करते हैं कि हमारे घर में बिल्कुल भी कूड़ा-करकट न आवे और इसके लिए अपने घर के खिड़कियाँ-दरवाजे भी बन्द कर लेते हैं, परन्तु लाख सावधानी रखते-रखते भी धूल भरी हवा चलते ही थोड़ी धूल घर में आ ही जाती है, जिसे हम रोज सुबह झाड़ू लगाकर निकाल देते हैं। किन्तु इसके बाद भी कुछ धूल घर के ओने-कोने में छुपी रह जाती है, जो रोज की झाड़ू से भी नहीं निकलती। उसे हम दीपावली आदि पर सफाई अभियान चलाकर निकालते हैं। उसी प्रकार हमारा प्रयत्न रहना चाहिए कि प्रथम तो हमारे मन में क्रोधादि की कोई मलिनता उत्पन्न ही न हो, तथापि यदि उत्पन्न हो ही जाए तो उसे तभी यथाशीघ्र समाप्त कर देना चाहिए। तथा इसके बाद भी जो थोड़ी-बहुत मलिनता मन की गहराई में कहीं बची रह जाए तो उसे आज क्षमावाणी के दिन तो बिल्कुल ही निकाल देना चाहिए। यही महत्त्व है क्षमावाणी पर्व का। क्षमावाणी पर्व आत्मा की दीपावली है।

क्रोध चार प्रकार का कहा गया है— 1. जल-रेखा के समान, 2. धूलि-रेखा के समान, 3. पाषाण-रेखा के समान, 4. लौह-रेखा के समान। जिस प्रकार जल-रेखा तत्काल विलीन हो जाती है उसी प्रकार उत्तम पुरुषों का क्रोध तत्काल शान्त हो जाता है। जिस प्रकार धूलि-रेखा कुछ काल बाद हवा चलने मात्र से विलीन हो जाती है, उसी प्रकार मध्यम पुरुषों का क्रोध कुछ काल बाद शांत हो जाता है। जिस प्रकार पाषाण-रेखा को मिटाना बहुत कठिन होता है, उसी प्रकार अधम पुरुषों के क्रोध को मिटाना बहुत कठिन होता है। जिस प्रकार लौह-रेखा अमिट-सी बन जाती है, उसी प्रकार अधमाधम पुरुषों का क्रोध चिरकाल तक भी शांत नहीं होता। क्षमावाणी महापर्व को मनाते हुए हमें अपने क्रोध के स्तर को पहचानना चाहिए और शनैः-शनैः उसे जल-रेखा के समान बनाकर समाप्त कर देना चाहिए।

यदि फिर भी क्रोध करना ही है तो क्रोध पर ही क्रोध करना चाहिए, क्योंकि वही हमारा सर्वाधिक बुरा करने वाला शत्रु है। हमें डाँटकर क्रोध से कह देना चाहिए कि वह हमें अपनी शक्ति कभी न दिखाए, हमारी नजरों से भी सदा के लिए हट जाए, अन्यथा हम स्वयं ही उससे दूर हट जाएंगे। यही आचार्य वादीभसिंह सूरि ने भी ‘क्षत्रचूड़ामणि’ 2/42 में कहा है—

“अपकुर्वति कोपश्चेत् किन्न् कोपाय कुप्यसि।
त्रिवर्गस्यापवर्गस्य, जीवितस्य च नाशिने॥”

अर्थ— हे भाई! यदि तुम अपना बुरा करनेवाले पर क्रोध ही करना चाहते हो तो इस क्रोध पर ही क्रोध करो, क्योंकि यही तुम्हारे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष— सबका विनाश करनेवाला है।

आत्मशुद्धि का अद्भुत पर्व

इस प्रकार हम देखते हैं कि क्षमावाणी आत्मशुद्धि का एक अद्भुत पर्व है जो वस्तुतः क्षेत्र, काल, जाति, सम्प्रदाय आदि की सर्व सीमाओं से अतीत है और इसीलिए उसमें प्राणिमात्र का हित सन्निहित है। आवश्यकता है कि आज हम इसे सच्चे हृदय से मनाएं, कोरी औपचारिकता निभाकर न रह जाएं।

क्षमावाणी एक आध्यात्मिक पर्व भी है, अतः आज के दिन हमें थोड़ी देर आत्मध्यान भी अवश्य करना चाहिए, मात्र दूसरों से ही क्षमायाचना-क्षमादान की बातें बोलने से कार्य पूरा नहीं होगा। आज के दिन हमें अपने अन्तर में यह भलीभांति निर्णय करना चाहिए कि कोई भी जीव अब हमारा शत्रु नहीं है और हम भी किसी जीव के शत्रु नहीं हैं, हमारा सभी जीवों के प्रति क्षमाभाव है। ऐसा करने से हमारी आत्मा में सभी के प्रति समता भाव उत्पन्न होगा, वीतराग भाव उत्पन्न होगा। यही सच्ची क्षमावाणी है।

क्षमावाणी का महापर्वत्व : एक दृष्टि में

वैसे तो सभी पर्व पर्व होते हैं, अतः महत्त्वपूर्ण ही होते हैं, किन्तु क्षमावाणी को ‘महापर्व’ या ‘पर्वराज’ कहा जाता है, क्योंकि इसके कुछ विशेष कारण हैं। यथा—

1. अन्य पर्वों पर हम अपने मित्रों को याद करते हैं, उनके घर जाते हैं, उनसे गले मिलते हैं; किन्तु आज क्षमावाणी के दिन हमें अपने शत्रुओं को याद करना होता है, उनके घर जाना होता है, उनसे गले मिलना होता है।
2. अन्य पर्व किसी-न-किसी व्यक्तिविशेष या घटनाविशेष से जुड़े होते हैं, किन्तु क्षमावाणी पर्व का सम्बन्ध न किसी व्यक्तिविशेष से है, न किसी घटनाविशेष से।
3. अन्य पर्व किसी धर्मविशेष, जातिविशेष, लिंग-विशेष या देश-प्रदेशविशेष के होते हैं, किन्तु क्षमावाणी पर्व किसी भी धर्मविशेष, जातिविशेष लिंगविशेष या देश-प्रदेशविशेष का नहीं है। भले ही इसे एक धर्म विशेष (जैन) लोग ही अधिकतर मनाते हों, पर यह सभी का है, सभी के लिए है। इसमें धर्म, जाति, लिंग, क्षेत्र आदि का कोई बंधन नहीं है।
4. क्षमावाणी पर्व का सम्बन्ध मनुष्य मात्र तक भी सीमित नहीं है, अपितु सभी जीवों से है, प्राणिमात्र से है। क्षमावाणी के अवसर पर विश्व के सभी सूक्ष्मतम जीवों के प्रति क्षमाभाव धारण करते हुए उन सबसे क्षमायाचना की जाती है।
5. क्षमावाणी पर्व सभी धर्म-सम्प्रदायों के भी अनुकूल है, निर्विवाद है, इसमें किसी को भी कोई आपत्ति नहीं है। सभी के धर्म-ग्रन्थ सिद्धांत रूप से क्षमा को मान्य करते हैं।
6. क्षमावाणी विशुद्ध आत्मकल्याण का पर्व है। इसका सीधा-सच्चा संदेश है कि क्रोधादि विकारों का त्याग करो और क्षमादि शुद्ध भावों को धारण करो।
7. अन्य अनेक पर्वों पर लोग प्रदूषण फैलाते हैं, पर क्षमावाणी के अवसर पर ऐसा नहीं होता। क्षमावाणी तो बल्कि बाह्य प्रदूषण के मूल कारण मानसिक प्रदूषण को भी दूर करता है।
8. अन्य पर्वों का सम्बन्ध अच्छा-अच्छा खाने-खेलने आदि से है, पर यह तो संयम और अध्यात्म का पर्व है।
9. अन्य पर्व अस्थायी हैं, पर क्षमावाणी एक शाश्वत पर्व है। जैन पुराणों के अनुसार यह अनादि काल से मनाया जाता रहा है और अनंत काल तक मनाया जाता रहेगा।
10. अन्य पर्व पराधीन हैं, उन्हें मनाने के लिए दूसरे की आवश्यकता होती है, पर क्षमावाणी एक स्वाधीन पर्व है, उसे मनाने के लिए दूसरे की अनिवार्यता नहीं होती। कोई भी प्राणी एकांत में बैठकर इसे अच्छी तरह मना सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि क्षमावाणी एक सार्वभौमिक, सार्वकालिक और सार्वजनिक पर्व है। सार्वजनिक ही नहीं, सार्वजीविक पर्व है। वह समस्त विरोधी जीवों से भी प्रेम करने की कला सिखाकर विश्वमैत्री की भावना पैदा करने वाला अनुपम पर्व है, अतः महापर्व है।

राष्ट्रिय पर्व घोषित होना चाहिए 'क्षमावाणी' को

हमारे पास अपना राष्ट्रिय ध्वज है, राष्ट्रिय प्रतीक है, राष्ट्रिय पशु है और राष्ट्रिय पक्षी भी है, पर क्या एक राष्ट्रिय पर्व भी होना चाहिए?

होना चाहिए, अवश्य होना चाहिए और वह भी हमारी महान् संस्कृति के अनुरूप ही महान् भी होना चाहिए।

आप कह सकते हैं कि है तो सही, स्वतंत्रता-दिवस है ना, यह हमारा राष्ट्रिय पर्व ही तो है।

ठीक है, है तो सही, परन्तु यह हमारी महान् संस्कृति के अनुरूप नहीं है। इसके साथ हमारी परतन्त्रता की स्मृतियाँ भी जुड़ी हुई हैं। दूसरी बात यह कि यह एक घटना-प्रधान पर्व है जो 15 अगस्त 1947 से ही प्रारम्भ हुआ है, उससे पहले नहीं था, हमारी संस्कृति के समान सनातन नहीं है। अतः हमारा राष्ट्रिय पर्व कोई ऐसा ही चुना जाना चाहिए जो हमारी सनातन भारतीय संस्कृति के अनुरूप हो, सनातन हो, विश्व-कल्याणकारी हो और सर्वमान्य भी हो तो बहुत ही अच्छा।

हम समझते हैं कि इसके लिए यह क्षमावाणी महापर्व सर्वाधिक उपयुक्त सिद्ध हो सकता है। यद्यपि लोग इसे जैन समाज का पर्व कहते-समझते हैं, पर वस्तुतः सूर्य-चन्द्र आदि के समान क्षमा भी एक सार्वजनिक वस्तु है। वह किसी व्यक्ति, समाज या जाति-विशेष की अपनी बपौती नहीं हो सकती।

क्रोध सदा सर्वत्र सभी के लिए अहितकारी है और क्षमा सदा सर्वत्र सभी के लिए हितकारी है, अतः क्षमावाणी पर्व को व्यक्ति, जाति, देश, काल आदि की किसी सीमा में भी नहीं बाँधा जा सकता।

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में जहाँ हम क्रोध की भयंकरता के परिणाम प्रतिदिन देख और भोग रहे हैं, यह क्षमावाणी पर्व अपनी और अधिक उपयोगिता को रेखांकित कर रहा है।

क्षमा के महत्त्व को सभी धर्मों ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है, अतः इस दृष्टि से भी यह एक निर्विवाद पर्व प्रतीत होता है। यथा— भारतीय संस्कृति की प्राचीनकाल से ही दो प्रमुख धाराएँ रही हैं— श्रमण और वैदिक। श्रमणधारा को तो यह पर्व मान्य है ही, वैदिक धारा को भी यह पर्व सहर्ष मान्य है। वैदिक ग्रन्थों में कदम-कदम पर क्षमा की श्रेष्ठता के विपुल गीत गाये हैं। यदि यह भी कहा जाए

कि वैदिक धर्म का पूरा साँचा ही क्षमाभाव पर खड़ा है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। वृक्ष के मूल की भाँति क्षमा सम्पूर्ण वैदिक धर्म का मूल है। क्षमा के ही कारण वैदिक धर्म इतना उदार, सहिष्णु और व्यापक सिद्ध हुआ है। वैदिक ग्रन्थों में आगत क्षमा के महत्त्वसूचक सभी कथनों को प्रस्तुत करने का अवकाश यहाँ नहीं है, तथापि एक महत्त्वपूर्ण प्रसंग की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं।

सभी जानते हैं कि श्रीकृष्ण की मृत्यु जंगल में जर के बाण से हुई थी। बाण मारने के बाद घबराये हुए जर को श्रीकृष्ण क्या कहते हैं —यही यहाँ गम्भीरतापूर्वक ध्यान देने योग्य है। वे कहते हैं—

मा भैजरे ! त्वमुत्तिष्ठ काम एष कृतो हि मे।

याहि त्वं मदनुज्ञातः स्वर्गं सुकृतिनां पदम् ॥

—श्रीमद्भागवत 11/30/39

अर्थात् हे जर! तुम दुःखी मत होओ। उठो और जाओ। यह जो कुछ हुआ, सब ठीक ही हुआ। मेरी अनुज्ञा है कि तुम पुण्यवानों के लिए प्राप्य स्वर्ग को प्राप्त करो।

इससे सिद्ध होता है कि श्रमण संस्कृति की भाँति वैदिक संस्कृति में भी क्षमा का महत्त्व समान भाव से स्वीकृत है।

अब यदि आगे चलें तो श्रमण और वैदिक संस्कृति ही नहीं, दुनिया के अन्य सभी छोटे-बड़े धर्म या सम्प्रदाय भी क्षमा के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। उनके ग्रन्थों में भी क्रोध की निन्दा और क्षमा की प्रशंसा पुरजोर ढंग से की गयी है। प्रमाणस्वरूप कतिपय प्रसंग/उद्धरण प्रस्तुत हैं। यथा—

श्रीकृष्ण की भाँति ईसा मसीह ने भी सूली पर चढ़ते हुए कहा था कि— “हे ईश्वर! इन्हें क्षमा करना, ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं।”

इसी प्रकार कुरान शरीफ में भी क्षमा के महत्त्वसूचक अनेक वाक्य उपलब्ध होते हैं। यथा—

‘जो गुस्सा पी जाते हैं और लोगों को माफ कर देते हैं, अल्लाह ऐसी नेकी करने वालों से प्यार करता है।’

—कुरान शरीफ 3/134

‘जो वक्त पर धैर्य रखे और क्षमा कर दे तो निश्चय ही यह बड़े साहस के कामों में से एक है।’

—कुरान शरीफ 42/143

इसी प्रकार सिक्ख धर्म में भी क्षमा का बहुत महत्त्व बताया गया है। गुरु गोविन्दसिंह कहते हैं— ‘यदि कोई दुर्बल मनुष्य तुम्हारा अपमान करता है तो उसे क्षमा कर दो, क्योंकि क्षमा करना वीरों का काम है।’

संत तुकाराम भी कहते हैं— ‘जिस मनुष्य के हाथ में क्षमारूपी शस्त्र हो, उसका

दुष्ट क्या बिगाड़ सकता है?’

इस प्रकार हम देखते हैं कि क्षमावाणी ही एक ऐसा निर्विवाद पर्व हो सकता है जो भारतीय संस्कृति के अनुरूप हमारा राष्ट्रिय पर्व सिद्ध हो सकता है। इतना ही नहीं, यदि आगे बढ़कर देखें तो वैश्वीकरण के इस दौर में ‘विश्व पर्व’ बनने की क्षमता भी इस क्षमावाणी पर्व में निहित है। जो भी हो, कम से कम हमें इसे अपना राष्ट्रिय पर्व तो घोषित करना ही चाहिए। सुधीजनों से इस विषय पर निष्पक्षतापूर्वक विचार करने का अनुरोध है।

औपचारिकता से ऊपर उठकर मनाएं क्षमावाणी

क्षमावाणी पर्व जगत् के अन्य पर्वों से बहुत अलग है, अतः इसके मनाने की विधि भी अन्य पर्वों से अलग ही है। अन्य पर्वों पर जहाँ हम अपने मित्रों के घर जाते हैं, उनके गले मिलते हैं और उन्हें मुबारकबाद देते हैं, वहीं आज इस क्षमावाणी पर्व के दिन हमें अपने शत्रुओं के घर जाना होता है, उन्हें गले लगाना होता है और उनके व अपने मन का सम्पूर्ण गिला-शिकवा दूर करना होता है। संक्षेप में इसे हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि क्षमावाणी पर्व मित्रों का नहीं, शत्रुओं का पर्व है। आज के दिन हमें अपने शत्रुओं को समाप्त करना होता है। शत्रुओं को भी क्या, उनसे मिलकर उनके प्रति अपनी शत्रुता को समाप्त करना होता है।

परन्तु यह विडंबना ही है कि आज के दिन भी हम में से अधिकांश लोग अपने उन्हीं परिजनों और प्रियजनों से ही क्षमा का आदान-प्रदान करते हैं, जिनसे हमारे बड़े मधुर सम्बन्ध होते हैं, जिन्हें हम होली-दीपावली और नववर्ष आदि अन्य अवसरों पर मुबारकबाद देते हैं। इस प्रकार यह पर्व एक कोरी औपचारिकता बनकर रह जाता है।

हम यह नहीं कहना चाहते कि हमें अपने प्रियजनों के साथ क्षमावाणी नहीं मनानी चाहिए या उनसे क्षमा का आदान-प्रदान नहीं करना चाहिए। करना चाहिए, उनसे भी अवश्य करना चाहिए परन्तु वह भी सच्ची होनी चाहिए, कोरी औपचारिकता नहीं। हमें सच्चे हृदय से उनके प्रति हुए अपराधों को स्वीकार कर उनकी क्षमा याचना करना चाहिए और उनके भी अपराधों को सच्चे हृदय से क्षमा कर देना चाहिए, ताकि उनके और हमारे मन भी पूर्णतः शल्यरहित हो जाएं।

किन्तु आज के दिन हमें विशेष रूप से अपने उन शत्रुओं या प्रियजनों को भी अवश्य याद करना चाहिए, जिनके प्रति हमने सचमुच अपराध किये हैं या जिनके अपराध से हमारे मन में क्रोध उत्पन्न हुआ है। तथा उनके पास जाकर उनसे निष्कपट भाव से बात करके परस्पर क्षमा भाव का आदान-प्रदान करना चाहिए। तभी हमारी क्रोध-मानादि कषायें गलेंगी और हमारा क्षमावाणी पर्व मनाना सार्थक होगा।

क्षमावाणी : एक चिन्तन यह भी

क्षमावाणी महापर्व के सम्बन्ध में कतिपय निम्नलिखित बिन्दु भी विशेष रूप से ज्ञातव्य हैं—

(क) क्षमावाणी महापर्व पर उपदेश दिया जाता है कि आज के दिन हमें अपने शत्रु से मिलना चाहिए, उससे बात करनी चाहिए और उससे क्षमा माँगनी चाहिए—यही सच्ची क्षमावाणी है। यह बात एक अपेक्षा से ठीक है, इस बात को कहने का आशय भी ठीक है, परन्तु इस बात को समझने और अपनाने में अत्यन्त सावधानी रखनी चाहिए। क्योंकि सामनेवाला यदि दुर्जन व्यक्ति हो तो उसके पास जाना और फिर उससे बात करना बड़ा ही हानिकारक सिद्ध हो सकता है। सभी आचार्यों ने दुर्जन से दूर रहने की शिक्षा दी है।

(ख) इसी प्रकार कहा जाता है कि क्षमावाणी को औपचारिकता से ऊपर उठकर मनाना चाहिए, औपचारिकता में कुछ नहीं रखा है, किन्तु इस बात को भी स्याद्वाद से ही समझना चाहिए, क्योंकि देखा जाए तो इस औपचारिकता की भी आज बड़ी उपयोगिता है। अधिकांश साधारण व्यक्ति इस औपचारिक आयोजन से ही बड़ी प्रेरणा ग्रहण करते हैं और समाज एवं राष्ट्र में इन औपचारिक आयोजनों से ही बड़ी प्रभावना धर्म की होती है। वैसे भी जब तक हम सच्ची क्षमावाणी नहीं मना सकें तब तक ऐसी औपचारिकता भी हमें अनेक लाभ पहुँचाती हुई सच्ची क्षमावाणी मनाने का अवसर प्रदान करती रहेगी। अतः औपचारिकता का सर्वथा निषेध करना ठीक नहीं है।

(ग) इसी प्रकार यह भी कहा जाता है कि आज के दिन हमें सबको क्षमा कर देना चाहिए। परन्तु सावधानीपूर्वक चिन्तन करें तो समझ में आता है कि यह उपदेश भी सबके लिए नहीं है, मात्र मोक्षमार्ग के साधकों के लिए है। इस उपदेश को सब लोग नहीं पाल सकते। जरा सोचिए— राजा कैसे पाल सकता है? उसे तो अपराधी को दण्ड देना ही होगा। इसी प्रकार अध्यापक, माता-पिता आदि को भी अवसर देखकर उचित दण्ड बालकों को देना ही पड़ता है, देना ही चाहिए। दंड सदा बुरा ही नहीं होता, प्रायश्चित्तस्वरूप भी होता है।

क्षमा वीरस्य भूषणम्

क्षमावाणी के प्रसंग में एक सूक्ति बहुत अधिक बोली जाती है— ‘क्षमा वीरस्य भूषणम्’। यह एक बहुत ही सारगर्भित एवं महत्त्वपूर्ण सूक्ति है, इसमें बहुत गहरा अर्थ छुपा है, किन्तु खेद है कि इसका ठीक-ठीक अर्थ समझनेवाले लोग लोक में बहुत ही कम हैं। अधिकांश लोग, अनेक विद्वान् वक्ता तक भी इसका अर्थ शारीरिक आदि बाहरी वीरता ही करते हैं और ऊँचे स्वर में कहते हैं कि क्षमा वीर का आभूषण है,

कायर का नहीं। इस सन्दर्भ में वे अनेक कविताएँ भी सुना देते हैं। यथा—

**क्षमा शोभती उस भुजंग को जिसके पास गरल हो।
उसको क्या जो दन्तहीन विषहीन विरल हो॥**

किन्तु यहाँ ‘वीरता’ का अर्थ वास्तव में शारीरिक आदि बाहरी वीरता नहीं है, अपितु आन्तरिक या आध्यात्मिक वीरता है। ‘क्षमा वीरस्य भूषणम्’ —इस सूक्ति के द्वारा कवि यह कहना चाहता है कि क्षमा धारण करना बहुत बड़ी बात है, बहुत हिम्मत की बात है। कोई हमें गाली दे, झूठा आरोप लगाए, भरी सभा में लगाए, हमारी वस्तु छीने, हमें घर से निकाले, बांधे, मारे, नाना प्रकार से कष्ट दे, फिर भी अपने मन को तनिक भी मलिन न करना —यह कोई आसान काम नहीं है, इसके लिए बहुत बड़ी शक्ति चाहिए, बहुत बड़ी वीरता चाहिए। दुनिया में सब कुछ सहना आसान होता है, पर कुटिल वचन आदि को सहना आसान नहीं होता। कहा भी है कि—

**खोद खाद धरती सहे, काट कूट वनराय।
कुटिल वचन साधु सहे, और से सहा न जाय॥**

अर्थ— खोदने का कष्ट पृथ्वी सहन कर सकती है, काटने का कष्ट वनस्पति सहन कर सकती है, परन्तु कुटिल वचनों को तो सिर्फ साधु पुरुष ही सहन कर सकते हैं, अन्य कोई नहीं सहन कर सकता है।

लोक में भी हम देखते हैं कि लोग वैसे तो बहुत बड़े बन जाते हैं, पर अपने विरोधी को नहीं सहन कर पाते हैं। उसे येन-केन प्रकारेण तुरन्त समाप्त करने में लग जाते हैं। क्षमावाणी पर्व हमें यही सिखाता है कि विरोधी को भी सहन करो, उसके प्रति भी किञ्चित् भी कषाय मत करो। अनुकूल से तो सभी प्रेम करते हैं, प्रतिकूल से भी प्रेम करना —यही तो बड़ी वीरता है, कोई बहुत बड़े हृदय का व्यक्ति ही ऐसा कर सकता है। ‘क्षमा वीरस्य भूषणम्’ सूक्ति का यही सच्चा अभिप्राय है।

इसी सन्दर्भ में आचार्य पद्मनन्दी स्वामी का एक श्लोक भी ध्यान देने योग्य है—

**दोषानाघुष्य लोके, मम भवतु सुखी, दुर्जनश्चेद् धनार्थीय,
मत्सर्वस्वं गृहीत्वा, रिपुरथ सहसा, जीवितं स्थानमन्यः।
मध्यस्थस्त्वेवमेवाखिलमिह हि जगत्, जायतां सौख्यराशिः,
मत्तो मा भूदसौख्यं कथमपि भविनः कस्यचित् पूत्करोमि॥**

—पद्मनन्दी-पंचविंशति, 85

अर्थ— जो दुर्जन मेरे दोष जाहिर करके सुखी होते हों वे मेरे दोष जाहिर कर दें, जो धनार्थी जन मेरा सर्वस्व ग्रहण करके सुखी होते हों वे मेरा सर्वस्व ग्रहण कर लें, जो शत्रु मेरा जीवन लेकर सुखी होते हों तो वे मेरा जीवन ले लें, जो पदलोलुप व्यक्ति मेरी पदवी छीनकर सुखी होते हों वे मेरी पदवी छीन लें, और जो मनुष्य मध्यस्थ हैं, राग-द्वेष रहित हैं वे ऐसे ही मध्यस्थ बने रहें, यह संपूर्ण जगत अतिशय सुख को

प्राप्त करे, कोई भी संसारी प्राणी मेरे निमित्त से किसी भी प्रकार दुःखी न हो —ऐसा मैं ऊँचे स्वर में पुकार-पुकार कर कह रहा हूँ।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि ऐसी भावना कोई आध्यात्मिक वीर ही कर सकता है, अन्य कोई नहीं। यही बात ‘क्षमा वीरस्य भूषणम्’ सूक्ति के द्वारा कही गई है।

क्षमावाणी पर्व का इतिहास

यह आश्चर्य का विषय है कि जिस क्षमावाणी पर्व को आज हम बड़े ही उत्साह से क्षमाभाव का आदान-प्रदान करते हुए मनाते हैं, उसका शास्त्रों में स्पष्ट इतिहास ही नहीं मिलता। आज यदि कोई शोधार्थी ईमानदारी से इस पर्व के स्वरूप को आगम के आलोक में समझना चाहे तो उसे कोई जानकारी उपलब्ध नहीं होती। यह पर्व कब से, कैसे, क्यों प्रारम्भ हुआ —इसका आज किसी को कुछ भी प्रामाणिक ज्ञान नहीं है। तथापि यह पर्व बहुत अच्छा है, सबके मनोमालिन्य को धोनेवाला है, इसलिए चल रहा है। तथापि इसका उद्भव एवं विकास निश्चित ही एक शोध का विषय है।

दरअसल, ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में मंगलाचरण किया जाता है, उसी प्रकार प्रत्येक कार्य के समापन में क्षमावाणी भी मनाई जाती है। यही हमारी उत्तम परम्परा है। हो सकता है कि इसीलिए समापन को कहीं-कहीं ‘क्षमापन’ भी कहा एवं लिखा जाता है। क्षमावाणी को भी, आज भी बहुत से लोग ‘क्षमापना’ या ‘क्षमावणी’ कहते देखे जाते हैं। यदि क्षमावाणी का उद्भव ‘समापन’ या ‘क्षमापना’ से सिद्ध हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। क्षमावाणी के बीच ‘समापन’ या ‘क्षमापना’ में पाए जाते हैं। कार्य के समापन में अपनी सभी गलतियों की क्षमायाचना ही तो की जाती है। पूजा-पाठ में भी विसर्जन में यही होता है। ग्रन्थ की अंतिम प्रशस्तियों में भी यही होता है। गृहत्याग आदि में भी यही होता है। प्रत्येक विदाई समारोह में भी यही होता है। ‘समापन’, ‘क्षमापना’ या ‘क्षमावाणी’ हमारी पवित्र परम्परा है।

‘समापन’, ‘क्षमापना’ या ‘क्षमावाणी’ का प्रतिक्रमण से भी बहुत गहरा सम्बन्ध है। प्रतिक्रमण प्रत्येक साधक की चर्या का अनिवार्य अंग बताया गया है। यह प्रतिदिन भी होता है, प्रतिपक्ष भी होता है, प्रतिमाह भी होता है, प्रतिवर्ष भी होता है और प्रतिजन्म भी अर्थात् जीवन के अंतिम समय में समाधिमरण से पूर्व भी होता है। मूलाचार आदि ग्रन्थों में, जहाँ क्षमावाणी की लोकप्रसिद्ध गाथा “खम्मामि सव्व जीवाणं सव्वे जीवा खमंतु मे” आती है, वह भी प्रतिक्रमण का ही प्रसंग है।

दसलक्षण के बाद मनाई जानेवाली क्षमावाणी के विशेष लोकप्रिय हो जाने का कारण यह हो सकता है कि प्राचीन काल में दसलक्षण विश्वव्यापी स्तर पर धूमधाम

से मनाया जाता हो, जिससे आबालगोपाल सभी गहराई से जुड़ गये हों।

अथवा इस क्षमावाणी को इसलिए भी अधिक महत्त्व मिल गया होगा कि यह केवल दसलक्षण का समापन नहीं है, अपितु सोलहकारण, पंचमेरु, रत्नत्रय आदि अनेक महान उत्सवों का समापन है।

इसप्रकार यहाँ क्षमावाणी के इतिहास के सम्बन्ध में कुछ संकेत किया गया, तथापि क्षमावाणी का उद्भव एवं विकास निश्चित रूप से शोध का विषय है। आशा है कोई शोधार्थी इस समस्या का प्रामाणिक समाधान करेगा।



दीवार मिली है, द्वार भी मिलना चाहिए

एक अन्धा व्यक्ति एक विशाल सभागार में अकेला असहाय रह गया। वह बहुत घबरा रहा था। उसने बहुत कोशिश की, हाथ-पैर चलाए, परन्तु उसे द्वार नहीं मिल रहा था। वह बुरी तरह थक गया था, निराश ही हो गया था, उसे चक्कर आने लगे। वह अत्यन्त आकुल-व्याकुल होकर रोने लगा। किन्तु इतने में ही किसी महान शुभ कर्म के योग से उसका एक हाथ सभागार की दीवार पर जा लगा।

दीवार पर हाथ लगते ही उसकी सारी मनःस्थिति बदल गई। वह प्रसन्न हो गया, उसकी थकान उतर गई, निराशा आशा में बदल गई। उसे विश्वास हो गया कि दीवार मिली है तो अब द्वार भी अवश्य मिलेगा।

वह उस दीवार के सहारे-सहारे हाथ लगाता हुआ आगे बढ़ने लगा।

किन्तु यह क्या! जैसे ही द्वार आया, उसके सिर में खुजली होने लगी और वह दीवार से हाथ हटाकर अपना सिर खुजलाने लगा। साथ में वह चलता भी जा रहा था, अतः द्वार निकल गया, उसे पता ही नहीं चला।

ठीक इसी प्रकार आगे आनेवाले द्वार भी उससे निकल गये। वह फिर से थककर चकनाचूर हो गया और चक्कर खाकर गिर पड़ा। अब तो दीवार भी हाथ से छूट गई और वह फिर से सभागार के बीच में पहुँच गया।

यही स्थिति हमारी है। हमें अनन्त संसार-सागर में परिभ्रमण करते हुए किसी बड़े ही शुभ योग से अब देव-शास्त्र-गुरु रूपी दीवार मिली है, यह बहुत बड़ी बात हुई है। किन्तु अब हमें रत्नत्रय का द्वार भी अवश्य मिलना चाहिए, तभी हम संसार सागर से बाहर निकल पाएंगे, अन्यथा देव-शास्त्र-गुरु रूपी दीवार भी हमसे छूट जाएगी और हम पुनः संसार-सागर के मध्य पहुँच जाएंगे। कविवर दानतरायजी ने भी हमसे यही कहने का प्रयास किया है—

देव-शास्त्र-गुरु रतन शुभ, तीन रतन करतार।

परिशिष्ट

प्रकीर्णक

जैनाचार पूर्णतः वैज्ञानिक है

जैनाचार और आधुनिक विज्ञान में बड़ी आश्चर्यजनक समानता देखने को मिल रही है। जो बातें जैनाचार शास्त्र ने हजारों वर्ष पहले बताई थीं, आधुनिक विज्ञान आज उनका समर्थन कर रहा है। यद्यपि कुछ बातें अभी भी ऐसी हैं जो आधुनिक विज्ञान से सम्मत सिद्ध नहीं होती, किन्तु ऐसा लगता है कि जैन आचार पूरी तरह वैज्ञानिक ही है, उसमें जरा भी अवैज्ञानिकता नहीं है, क्योंकि विज्ञान अभी प्रगतिशील है, जो बातें आज उससे सम्मत सिद्ध नहीं हो पा रही हैं, वे कल अवश्य हो जाएँगी।

जैनाचार की चाबी

“गन्ना ले लो गन्ना, दो-दो रुपये में गन्ना” —गाड़ी तेजी से दौड़ रही थी और एक विक्रेता उसमें गन्ने बेच रहा था।

लोग भी समय पास करने के लिए ही सही, उससे गन्ने खरीद रहे थे। गन्ने बहुत मीठे थे। लोग बड़े आनन्द से उन्हें चूस रहे थे, किन्तु इससे सारी गाड़ी में बहुत गन्दगी फैल गई, मक्खियाँ भिनभिनाने लगीं, क्योंकि सब लोग गन्ने चूस-चूसकर वहीं थूक भी तो रहे थे।

किन्तु वहीं एक व्यक्ति ऐसा भी था, जिसने गन्ना चूसने का आनन्द भी सबसे अधिक लिया और गाड़ी में गन्दगी भी बिलकुल नहीं फैलाई। आइए देखते हैं, उसने कैसे क्या किया। सबसे पहले तो उसने अपने बैग से चाकू और टिफिन बाहर निकाला। उसके बाद उसने चाकू से गन्ने के सारे ऊपरी छिलके सावधानी से लम्बे-लम्बे पूरे उतारकर अपने बगल में रख लिये और फिर गन्ने के छोटे-छोटे टुकड़े काटकर उनको अपने टिफिन में रख लिये। उसके बाद वह आराम से एक-एक टुकड़ा मुँह में रखकर चूसता गया और जो गन्ने के ऊपरी छिलके थे, उनको बुनता भी चलता गया। थोड़ी ही देर बाद एक सुन्दर-सी टोकरी बनकर तैयार हो गई, जिसे सामने ही बैठे यात्री ने उससे यह बोलकर ले ली कि— वाह भाईसाहब, आपने तो यह बहुत सुन्दर टोकरी बनाई है, मुझे दे दो, आप दूसरी बना लेना। उन्होंने उसे प्रसन्न होकर दस रुपये भी दे दिए।

अब यहाँ देखने-समझने की बात यह है कि गन्ना तो सबने चूसा, पर किसका तरीका अच्छा है। सब लोगों ने तो गन्ने का आनन्द भी कम लिया, गाड़ी में गन्दगी भी फैलाई और समय भी ठीक से पास नहीं किया, किन्तु इस व्यक्ति ने गन्ने का आनन्द भी अधिक लिया, गाड़ी में गन्दगी भी नहीं फैलाई और समय भी ठीक से पास किया, कला-निर्माण भी किया और साथ ही दस रुपये का पुरस्कार भी प्राप्त कर लिया।

जैनाचार भी हमको यही सिखाता है कि तुम स्वयं विचार करो कि कार्य करने का कौन सा तरीका अच्छा है और उसे अपनाओ। यदि जीवन में यह विवेक जागृत हो जाए तो समझो, जैनाचार की चाबी हमारे हाथ लग गई।

भगवान को जाने बिना भक्ति नहीं होती

एक युवक प्रशासनिक सेवा के उच्च पद पर साक्षात्कार देने गया। उसने माथे पर तिलक लगा रखा था, अतः उससे उसके तिलक की ओर ही संकेत करके पहला प्रश्न पूछ लिया गया— “यह क्या है?”

“आज मैं मन्दिर गया था, वहाँ का तिलक है।” —युवक ने उत्तर दिया।

“कौन-से मन्दिर गये थे?”

“जी, बजरंग बली के मन्दिर में।”

“बजरंग बली कौन हैं?”

“जी, हनुमानजी का नाम है।”

“हनुमानजी को बजरंग बली क्यों कहते हैं?”

“सॉरी, मुझे पता नहीं है।”

“हनुमानजी का परिचय? उनके माता-पिता, जन्मस्थान आदि?”

“सॉरी, मुझे पता नहीं है।”

“अरे, इतने बड़े साक्षात्कार के लिए जिनके दर्शन करने, आशीर्वाद लेने गये, उनका ही परिचय नहीं पता! कैसे काम करोगे?”

यही जैन दर्शन कहता है। जिसकी भक्ति करना है, उसे (अरिहंत को) पहले भलीभाँति जानो, द्रव्य-गुण-पर्याय से जानो। जानना अनिवार्य है, उसके बिना उसकी भक्ति-स्तुति सम्भव नहीं है।

भक्ति-स्तुति ही क्या; व्रत, संयम, तप, दान, प्रतिमा-धारण, मुनिदशा आदि कुछ भी जैन धर्म में बिना उसे भलीभाँति जाने नहीं होता; होगा तो नकली/विकृत होगा।

जैनाचार में श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र्य तीनों की प्रगाढ़ मैत्री आवश्यक है

जैन आचार में कभी कहते हैं कि जाने बिना कुछ नहीं होगा, अतः तुम तो ठीक

से जानने का उद्यम करो बस, जानने के बाद सब सहज हो जाएगा तथा कभी कहते हैं कि खाली जानने से कुछ नहीं होता, चारित्र धारण करने का उद्यम करो, बिना चारित्र धारण किये तुम्हारा ज्ञान व्यर्थ है— हतं ज्ञानं क्रियाहीनं। किन्तु इसमें कुछ भी विरोध नहीं है, विवक्षा-भेद मात्र है। पूरी बात दोनों के मिलने पर ही होती है, जैसा कि आचार्य अकलंक देव ने कहा है—

“हतं ज्ञानं क्रियाहीनं, हता चाज्ञानिनां क्रिया।
धावन् किलान्धको दग्धः पश्यन्नपि च पंगुलः॥”

चरणानुयोग भी परीक्षा करना सिखाता है-

परीक्षा की बात केवल द्रव्यानुयोग में या न्यायशास्त्र में ही नहीं है, अपितु चारों अनुयोगों में है। चरणानुयोग भी वास्तव में हमको परीक्षा करना ही सिखाता है। कहता है कि तुम स्वयं विचार करके निर्णय करो कि कैसा आहार, विहार आदि उचित है और कैसा आहार, विहार आदि अनुचित है, किससे पापबन्ध होता है और किससे पापबन्ध नहीं होता है। सम्पूर्ण आचार की यही एक कसौटी है। ‘मूलाचार’ 10/121-122 में स्पष्ट कहा है कि—

कथं चरे कथं चिट्ठे कथमासे कथं सये।
कथं भासेज्ज भुंजेज्ज जेण पावं ण बंधई॥
जथं चरे जथं चिट्ठे जथमासे जथं सये।
जथं भासेज्ज भुंजेज्ज जेण पावं ण बंधई॥

अर्थ— कैसे चलें, कैसे उठें, कैसे बैठें, कैसे सोएं, कैसे खाएं, कैसे बोलें, जिससे कि पापबन्ध न हो। यत्नपूर्वक चलें, यत्नपूर्वक उठें, यत्नपूर्वक बैठें, यत्नपूर्वक सोएं, यत्नपूर्वक खाएं, यत्नपूर्वक बोलें, जिससे कि पापबन्ध न हो।

खाना, पीना, उठना, बैठना, चलना, सोना आदि सभी क्रियाओं में यदि एक ‘विवेकपूर्वक’ विशेषण जोड़ दिया जाए तो वह चरणानुयोग की क्रिया बन जाएगी, ज्ञानी की क्रिया बन जाएगी।

सच्चा परिषहजय

दुःख के कारण मिलने पर दुःखी न हो तथा सुख के कारण मिलने पर सुखी न हो परन्तु ज्ञेयरूप से उनका जानने वाला (ज्ञाता) ही रहे; यही सच्चा परिषहजय है।

—पं. टोडरमल, मोक्षमार्गप्रकाशक

भक्ष्य-अभक्ष्य की अवधारणा

कुछ लोग कहते हैं कि हम भक्ष्य-अभक्ष्य की अवधारणा में विश्वास नहीं करते, क्योंकि यह बहुत ही छोटी सोच है, दुनिया में सब कुछ खाने के लिए ही बना है,

आदि। किन्तु ऐसे लोग भी विष, विष्टा, लोहा, सीसा, एक्सपायर्ड दवाई आदि कभी नहीं खाते। इससे सिद्ध होता है कि वे भी भक्ष्य-अभक्ष्य की अवधारणा में तो विश्वास करते ही हैं और यह भी मानते ही हैं कि यदि कोई अभक्ष्य पदार्थों को सेवन करेगा तो उसे भारी कष्ट उठाना पड़ेगा। अतः जैन दर्शन की भक्ष्य-अभक्ष्य की अवधारणा वैज्ञानिक है।

धर्म और नीति में अंतर

धर्म और नीति में वैसे तो कोई अंतर नहीं है, दोनों एक अर्थ में भी प्रयुक्त होते हैं; परन्तु फिर भी कह सकते हैं कि धर्म आंतरिक शुद्धि का नाम है और नीति कुछ ऊपरी शुद्धि का नाम है। एक विद्वान ने कहा है कि नीति वस्त्र है तो धर्म आभूषण। जिस प्रकार शरीर पर वस्त्र हो तो ही आभूषण अच्छे लगते हैं, उसी प्रकार जीवन में नैतिकता हो तभी धर्म शोभा देता है।

अनिह्वाचार

अनिह्वाचार का अर्थ अभी तक यही सुना-पढ़ा था कि गुरु का नाम नहीं छिपाना चाहिए, पर आज एक विद्वान के मुख से सुना कि प्राप्त ज्ञान का कोई पक्ष भी नहीं छुपाना चाहिए। मुझे यह भी महत्वपूर्ण लगा।

परोपकार के लिए भी ज्ञान आवश्यक

कुछ लोग कहते हैं कि हमें तो अपना जीवन केवल परोपकार में समर्पित करना है, अन्य किसी पूजा, स्वाध्याय, संयम आदि में कहीं नहीं उलझना है। किन्तु भाई! परोपकार के लिए भी तो प्रथम तत्त्वज्ञान आवश्यक है, उपकार वास्तव में क्या है और वह कैसे किया जाता है— यह ठीक से समझे बिना तुम कैसे किसी का उपकार कर सकोगे? बहुत से लोग अज्ञानी होने के कारण उपकार के नाम पर अपकार करते देखे जाते हैं। इसीप्रकार किसी का पालन, सेवा आदि करने के लिए भी प्रथम तो ज्ञान अनिवार्य है, अन्यथा लोग पालन, सेवा आदि नाम देकर भी जीवों को कष्ट देते देखे जाते हैं। अतः सर्वप्रथम ज्ञानप्राप्ति का उद्यम करो, यही मूलाधार है, ज्ञान से अधिक पवित्र वस्तु विश्व में दूसरी नहीं है।

श्रावकाचार-निरूपण की दो पद्धतियाँ

जैन श्रावकाचार के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न ऐसे उत्पन्न होते रहते हैं कि दर्शन प्रतिमा और सम्यग्दर्शन में क्या अंतर है, सामायिक व्रत और सामायिक प्रतिमा में क्या अंतर है, प्रोषधोपवास व्रत और प्रोषधोपवास प्रतिमा में क्या अंतर है, आदि। किन्तु मेरे खयाल से ये सब प्रश्न इसलिए उत्पन्न होते हैं कि हमने प्रतिमाओं को द्वादश व्रतों के बाद की अवस्था समझ लिया है, जबकि ऐसा नहीं है। वास्तविक बात यह

है कि श्रावकाचार को समझाने की ये दो अलग-अलग पद्धतियाँ हैं। एक द्वादश व्रत-पद्धति है और दूसरी एकादश प्रतिमा-पद्धति है। किसी आचार्य ने व्रत-पद्धति से समझाया है और किसी आचार्य ने एकादश प्रतिमा-पद्धति से। बात एक ही है, पद्धतियाँ दो हैं। व्रत-पद्धति में जिसे सम्यग्दर्शन कहा है, उसे ही प्रतिमा-पद्धति में पहली प्रतिमा कहा है, व्रत-पद्धति में जिसे अणुव्रत कहा है, उसे ही प्रतिमा-पद्धति में दूसरी प्रतिमा कहा है, व्रत-पद्धति में जिसे सामायिक-प्रोषधोपवास कहा है, उसे ही प्रतिमा-पद्धति में तीसरी-चौथी प्रतिमा कहा है, इत्यादि, अन्य कुछ उसमें विशेष नहीं है। इस प्रकार हमें दोनों पद्धतियों को अलग-अलग ही रखकर समझना चाहिए, दोनों को एक-दूसरे में मिलाना नहीं चाहिए। तभी सब बातें ठीक से समझ में आएंगी। दोनों पद्धतियाँ श्रावक के उत्तरोत्तर विकास का वर्णन करती हैं।

गुणग्राही बनो

समुद्र यद्यपि रत्नों का ही आकर नहीं है, अन्य मत्स्य, कर्दम आदि का भी आकर है, किन्तु उसको 'रत्नाकर' संज्ञा दी गई है। इससे सिद्ध होता है कि हमारी संस्कृति गुणग्राही है, दोषदर्शन की नहीं।

पति-पत्नी की लड़ाई में बच्चे बिगड़ते हैं

एक घर की बात है। पति-पत्नी खूब लड़ रहे थे। पति बोला— तू कुत्ती है। पत्नी बोली— तू कुत्ता है। इतने में ही उनके दोनों बच्चे चिल्ला-चिल्लाकर कहने लगे— हम पिल्ले हैं, हम पिल्ले हैं।

लापरवाह या बेपरवाह?

लापरवाह और बेपरवाह—इन दो शब्दों का प्रयोग बहुत से लोग इन्हें एकार्थक मानकर करते रहते हैं, परन्तु वास्तव में ये दोनों एकार्थक नहीं हैं, अपितु इनमें बहुत बड़ा अंतर है। लापरवाह का अर्थ होता है— असावधान और बेपरवाह का अर्थ होता है— निश्चित। सम्यग्दृष्टि बेपरवाह तो होता है, पर लापरवाह नहीं।

वन्दे तद्गुणलब्धये

मोक्षमार्गस्य नेतारं.. इत्यादि श्लोक के प्रारम्भिक तीन चरण तो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं ही, किन्तु उसका चतुर्थ चरण 'वन्दे तद्गुणलब्धये' भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जिसकी ओर प्रायः लोगों का ध्यान नहीं जाता। बड़े-बड़े विद्वान् तीन चरणों की तो बहुत व्याख्या करते हैं, पर चतुर्थ चरण प्रायः छूट जाता है। चतुर्थ चरण 'वन्दे तद्गुणलब्धये' का संदेश यह है कि हम किसी का भी गुणानुवाद करें, यह ध्यान रखें कि यह उस व्यक्ति की प्रशंसा मात्र नहीं है, अपितु उसके गुणों की प्राप्ति का उपक्रम है।

जय जिनेन्द्र का प्रचलन कब से ?

आज से लगभग 175 वर्ष पूर्व वि.सं. 1884 में ज्येष्ठ कृष्णा पंचमी मंगलवार को कविवर पं. वृन्दावनदासजी ने काशी से दीवान अमरचन्दजी को जयपुर पत्र लिखा था। इसमें उन्होंने पत्र के प्रारम्भ में दीवान साहब को ‘जय जिनेन्द्र’ कहकर सम्बोधित किया है—

‘वृन्दावन तुमको कहत, श्रीमत जयति जिनन्द ।

काशीतें सो बांचियो, अमरचन्द सुखकन्द ॥’ —वृन्दावन विलास

और इतना ही नहीं, अन्त में पुनः ऋषभदास, घासीराम आदि समाज के अन्य प्रमुख पंच लोगों को भी ‘जय जिनेन्द्र’ कहकर ही अभिवादन किया है—

‘ऋषभदास पुनि घासीराम, और पंच ने सुगुन निधान ।

बिगति बिगति श्री जयति जिनन्द, कहियो सबसों धरि आनन्द ॥’

—वृन्दावन विलास

इससे स्पष्ट होता है कि वर्तमान में जो पारस्परिक अभिवादन हेतु ‘जय जिनेन्द्र’ कहने का प्रचलन है, वह कोई एकदम नई परिपाटी नहीं है, अपितु कम से कम दो सौ वर्ष प्राचीन अवश्य है। खोज करने पर और भी प्राचीन प्रमाण प्राप्त हो सकते हैं।

सत्य का अर्थ

‘सत्य वचन’ का अर्थ प्रायः सभी लोग ऐसा समझते हैं कि जो है, जैसा है, उसे वैसा ही कहना सत्य वचन है, परन्तु सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, धवला आदि ग्रन्थों में भलीभाँति स्पष्ट करके समझाया है कि ‘सत्य वचन’ में ‘सत्य’ का अर्थ ‘विद्यमान’ नहीं, अपितु ‘उचित’ है; ‘सत्य वचन’ में ‘सत्’ शब्द सत्तावाचक नहीं, अपितु प्रशंसावाचक है— “सत्शब्दोऽत्र प्रशंसावाचकः”। तात्पर्य यह हुआ कि जैसा बोलना उचित है, प्रशंसनीय है, वही सत्य है। यही कारण है कि काने को काना कहना सत्य होते हुए भी सत्य नहीं है, असत्य है। सत्य हित-मित-प्रिय होता है।

सावधान!

आजकल कुछ श्रावक अविवेक के कारण कुछ महा अपराध कर रहे हैं। वे निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधुओं को आरम्भ परिग्रह की वस्तुएँ भेंट कर रहे हैं। यद्यपि साधु को ही इतना विवेक होना चाहिए कि वे ऐसी वस्तुएँ कथमपि ग्रहण न करें परन्तु फिर भी यदि वे शिथिल हो जाएँ तो श्रावकों को भी तो इतना विवेक होना ही चाहिए। जो श्रावक मुनियों को आरम्भ-परिग्रह के साधन उपलब्ध कराते हैं, वे घोर पाप के भागी हैं, दुर्गति को प्राप्त करेंगे। वे तो समझ रहे हैं कि हम दान/पुण्य/धर्म कर रहे हैं, पर वे तो महा अधर्म कर रहे हैं। सावधान!

शिथिलाचार या काल का प्रभाव

किसी भी बात को तुरन्त शिथिलाचार कहना उचित नहीं है, क्योंकि अनेक बातें काल का प्रभाव होती हैं, जिनसे कोई बच नहीं सकता, समय की माँग ऐसी ही होती है, परिस्थिति भी कुछ ऐसी ही होती है, जिसे अन्य परिस्थिति वाला व्यक्ति उसे आसानी से समझ नहीं सकता। हमारे पूर्वज अत्यन्त विषम परिस्थितियों में से सुरक्षित निकालकर इस जिनधर्म के रथ को हम तक लाये हैं। अतः हमें थोड़ा शान्ति से भी बातों को कहना-समझना चाहिए।

राग-द्वेष ही असली शस्त्र हैं

निःशस्त्रीकरण की बात बहुत अच्छी है, किन्तु शस्त्र वास्तव में किसे कहते हैं—यह जानना भी बहुत आवश्यक है। हम लोग प्रायः तलवार, बन्दूक आदि को ही शस्त्र समझते हैं, परन्तु हमारे देश के ऋषि-मुनियों ने कहा है कि असली शस्त्र तो वास्तव में अपने अंदर बैठे राग-द्वेष हैं, क्योंकि यदि वे हैं तो कोई भी वस्तु शस्त्र बन जाएगी, चाहे वह गिलास, कटोरी, बेलन, पुस्तक आदि कुछ भी हो और यदि वे नहीं हैं तो कोई भी वस्तु शस्त्र नहीं बन जाएगी, चाहे वह तोप, तलवार, बन्दूक आदि कुछ भी हो। एक जैन ग्रन्थ में इसीलिए दुष्प्रयुक्त मन, शरीर और वाणी को ही शस्त्र कहा है।

पाप तो बोलने योग्य भी नहीं है

भारतीय संस्कृति कितनी उदात्त चरित्र वाली रही होगी—इसका एक और उदाहरण देखिए। यहाँ ‘पाप’ के पर्यायवाची शब्दों में एक बताया है— अवद्य। ‘अवद्य’ का व्याकरणिक अर्थ होता है— अवदनीय, न बोलने योग्य। इसका अभिप्राय हुआ कि पाप करने योग्य तो है ही नहीं, बोलने योग्य तक भी नहीं है, पाप का तो नाम भी लेना योग्य नहीं है। यही कारण है कि यहाँ चोर को ‘चोरीकर’ नहीं कहते, अपितु ‘तस्कर’ कहते हैं। तस्कर अर्थात् जो तत् करता है वह तस्कर है— तत् करोति इति तस्करः। देखो, यहाँ चोरी का नाम भी नहीं लिया, उसे केवल ‘तत्’ शब्द से संकेतित मात्र किया।

अध्ययनप्रियता

एक ऋषि थे— अक्षपाद गौतम। उनका मूल नाम गौतम ही था, किन्तु एक बार वे अध्ययन में ऐसे तल्लीन थे कि चलते-चलते वन में पहुँच गये और वहाँ एक गहरे गड्ढे में उतर गये। उनकी ऐसी अध्ययनप्रियता को देखकर वनदेवता प्रकट हुआ। कहने लगा— मैं प्रसन्न हुआ, कोई वरदान माँगो। वे बोले— कुछ नहीं चाहिए, प्रसन्न रहो। जब उसने बहुत आग्रह किया तो उन्होंने कहा— यदि कर सकते हो तो दो आँखें

मेरे पैरों में लगा दो, जो चलने के काम आए। इन दो आँखों को तो मैं कभी भी शास्त्र से नहीं हटाना चाहता। वनदेवता ने वैसा ही कर दिया और तब से उन ऋषि का नाम पड़ गया— अक्षपाद गौतम। अक्षपाद अर्थात् जिसके पैरों में भी आँखें लगी हों। धन्य है ऐसी अध्ययनप्रियता।

अपने दोष मिटाकर ही सुखी हुआ जा सकता है

‘स्वदोषमूलं स्वसमाधितेजसा.....’, ‘स्वदोषशान्त्या विहितात्मशांति....’ इत्यादि श्लोकों के द्वारा समन्तभद्रादि आचार्यों ने प्रतिपादित किया है कि सुखी होने का एक मात्र उपाय है— अपने दोषों को मिटाना। अतः हम सबको सावधानी से अपने दोषों को जानने, पहचानने, स्वीकारने और फिर उन्हें मिटाने का उद्यम करना चाहिए। यह बहुत जरूरी कार्य है। कुछ लोग तो अपने दोषों को छुपा कर सुखी होना चाहते हैं, परन्तु यह सम्भव नहीं है। ऐसे लोगों की दिल्ली अभी बहुत दूर है। दोषों को मिटाकर ही सुखी हुआ जा सकता है, दोषों को छुपा कर नहीं। दोष क्या हैं, कैसे और क्यों उत्पन्न होते हैं तथा मिटते कैसे हैं —इसके लिए गहरा आत्मान्वेषण करना चाहिए। यही हमारा मुख्य कर्तव्य है।

प्रतीकों को समझिये

भारतीय संस्कृति में प्रतीकों की भरमार है। मुझे लगता है कि होली का भी एक प्रतीकात्मक अर्थ होना चाहिए, जो कुछ इस प्रकार हो सकता है कि दुःख, शोक, चिंता, भय, द्वेष, अहंकार आदि को जलाकर खाक कर दो और फिर जीवन के सभी रंगों में आनंद का सुंदर रंग अनुभव करो। कोई भी कभी भी कथमपि दुखी मत होओ और सभी सदा प्रसन्न रहो— यही पूरी भारतीय संस्कृति का, उसकी हरेक क्रिया का, हर त्यौहार का मूल सन्देश है। यही कारण है कि अनेक कवियों ने आध्यात्मिक होली लिखी है।

मूल ग्रन्थों के अध्ययन पर विशेष ध्यान दें

कुछ भी हो, ठोस विद्वान तो मूल ग्रंथों के अध्ययन से ही बनेंगे। आजकल लोग प्रथम तो अध्ययन ही नहीं करते। करते भी हैं तो ऐसी हल्की-फुल्की पुस्तकों का ही करते हैं जो आज के अल्पबुद्धि लेखकों द्वारा लिखी होती हैं और अशुद्ध ढंग से भी प्रकाशित होती हैं। यही कारण है कि उनको विषय का ठोस ज्ञान नहीं हो पाता। उनका भाषण-लेखन भी बहुत कमजोर होता है। पहले लोग दस-बीस ग्रन्थ ही पढ़ते थे, पर ऐसे मूल ग्रंथों को पढ़ते थे जिनका एक-एक शब्द बड़ा अर्थगर्भित होता है, अतः वे बड़े ठोस विद्वान बनते थे। हमको भी अधिक से अधिक प्राचीन मूल ग्रंथों को पढ़ने-समझने का प्रयत्न करना चाहिए। न केवल पढ़ने-समझने का, अपितु आठ-दस ग्रन्थों को तो कण्ठस्थ कर लेना चाहिए। कण्ठस्थ कर लेने के बाद ही उनका गम्भीर अर्थ प्रतिभासित होता है। ❖❖

